॥ श्रीहरिः ॥

11

गीता-चिन्तन

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरि: ॥

गीता-चिन्तन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है। इसलिये वह सर्वशास्त्रमयी है—सारे शास्त्रोंका सार भरा हुआ है। इसकी महिमा अनन्त है। हमारे शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर इसकी महिमाका वर्णन किया गया है। चाहे मनुष्य किसी भी धर्म या सम्प्रदायको माननेवाला हो, गीताका उपदेश किसी भी दिशा या दशामें पड़े हुए प्राणीको ठीक उपयुक्त मार्गपर लाकर उसे कल्याणकी ओर लगा देता है। भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकार रखनेवाले मनुष्योंको उनकी योग्यताके अनुसार ही कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कर भगवान्‌की ओर गति करा देना ही इसका मुख्य तात्पर्य है।

प्रस्तुत संग्रह श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीता-विषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह है जो समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हुए थे। हमारा विश्वास है, जो भाई-बहिन इस संग्रहको मननपूर्वक पढ़ेंगे एवं अपने जीवनमें उन बातोंको उतारेंगे, उनका जीवन उन्नतिकी सर्वोच्च सीमातक पहुँच सकता है।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

भक्तियोग—

विषय | पृष्ठ-संख्या

कर्मयोग—

ज्ञानयोग—

विषय पृष्ठ-संख्या

विविध—

विषय	पृष्ठ-संख्या

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीता–चिन्तन

मातर्गीते!

माता श्रीभगवद्गीते! अनन्त असीम गुणातीत विश्वातीत विशुद्ध स्वतन्त्र सत्–चित्–आनन्दरूप परब्रह्मकी अभिन्न ज्योति! विश्वलीलामें प्रवृत्त सृजन–संहार–मूर्ति, नियन्त्रणकलानिपुण, सर्वशक्तिमान्, सर्वसंचालक गुणविशिष्ट भगवान्‌की चिरसंगिनी! अपनी विश्वातीत सत्तामें नित्य अनन्तरूपसे स्थित रहते हुए भी विश्वलीलामें अपनी लीलासे ही नयनाभिराम त्रिभुवन-कमनीय पूर्णसत्त्व दिव्य नरदेहधारी भगवान्‌की दैवी वाणी! विश्वलीलामें असंख्य प्राणियोंके अन्तर्गत भिन्न–भिन्न भावोंसे अंशरूपमें प्रतिभासित, अपनी ही मायासे लीलाहेतुस्वरूपविस्मृत निद्रित–से प्रतीत होनेवाले सनातन चेतन आत्माको लीलाके लिये ही प्रबुद्ध करनेवाली दिव्य–दुन्दुभि सम्पूर्ण विश्वके समस्त चेतनाचेतन पदार्थोंमें—ग्रीष्म–वर्षा, शरत्–वसन्त, शीत-उष्ण, पर्वत–सागर, स्वर्ण–लोष्ट, शिशु–वृद्ध, स्त्री–पुरुष, देव-दानव, सुन्दर–भयानक, करुण–रुद्र, हास्य–क्रन्दन, जन्म–मृत्यु और सृष्टि–प्रलय आदि समस्त भावोंमें, सभीके अंदरसे अपने नित्य–सत्य–केन्द्रीभूत सौन्दर्य और अखण्ड पूर्ण अस्तित्वको अभिव्यक्त करनेवाले विश्वव्यापी भगवान्‌की प्रकृत मूर्तिका उद्घाटन करनेवाली माँ! तुझे बार–बार नमस्कार है।

माता! तुझ दयामयीके विश्वमें विद्यमान रहते हम

विश्वासियोंकी यह दुर्दशा क्यों हो रही है? स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्ति! तू भगवान्का हृदय है, तू मार्गभ्रष्टोंकी पथ-प्रदर्शिका है, तू घन-अन्धकारमें दिव्य प्रखर प्रकाश है, तू गिरे हुएको उठाती है, चलनेवालेको विशेष गतिशील बनाती है, शरणागतका हाथ पकड़कर उसे परमात्माके अभय-चरणकमलोंमें पहुँचा देती है। ऐसी अद्भुत लीलामयी शान्तिदायिनी माताके रहते हम असहाय और अनाथकी भाँति क्यों दुःखी हो रहे हैं? अमृतसमुद्रके शीतल सुखद तटपर निवास करके भी त्रितापसे संतप्त क्यों हो रहे हैं?

देवि! हमारा ही अपराध है। हमने तेरे स्वरूपको यथार्थ नहीं पहचाना। तेरी स्नेह-पूरित मुखच्छविको श्रद्धासमन्वित तर्कशून्य सरल दृष्टिसे नहीं देखा। इसीसे भूल-भुलैयामें पड़े हैं, इसीसे तेरे अगाध आनन्दाम्बुधिमें मतवालेकी तरह कूदकर जोरसे डुबकी लगानेमें प्राण हिचकिचाते हैं; इसीसे तेरे नित्य प्रज्वलित प्रचण्ड ज्ञानानलमें अविद्या-राशिको फेंककर फूँक डालनेमें संकोच होता है। इसीसे घर-घरमें तेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा होनेपर भी विधिसंगत पूजा नहीं की जाती, इसीसे निराधार अबोध मातृपरायण शिशुकी भाँति तेरे चरण-प्रान्तमें हम अपनेको लुटा नहीं देते, इसीसे तेरी प्रमत्तकारी प्रेममदिराका पान कर तेरे मोहन-मन्त्रसे मुग्ध होकर दिव्यानन्दके दीवाने नहीं बन रहे हैं। अरे! इसीसे आज अमूल्य रत्न-राशिके हाथमें रहते भी हम शान्ति-धनसे शून्य दीन-हीन राहके भिखारी बने दारुण दाहसे दग्ध हो रहे हैं।

विश्व-ज्ञान-प्रदायिनी अनन्तशक्ति माँ! आज हम सूर्यको दीपककी क्षुद्र ज्योतिसे प्रकाशित करनेकी बालकोचित हास्यास्पद चेष्टाके सदृश तेरे विश्वव्यापी प्रकाशके किसी क्षुद्रातिक्षुद्र

ज्योतिःकणसे प्रकाशित मनुष्य-विशेषोंके विनाशी उद्‌गारोंद्वारा तेरी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। तेरे अनन्त ज्ञानको अपने सीमाबद्ध स्वल्प ज्ञान और मनः-प्रसूत अनित्य मतके रूपमें परिणत कर प्रसिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। तेरी विश्वातीत और विश्वव्याप्त अद्‌भुत अनन्त राशिको संकुचित कर पर-मत-असहिष्णुताके कारण हम अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें ही उसका प्रयोग करना चाहते हैं। तुझे सर्वशास्त्रमयी कहकर ही तेरा गौरव बढ़ाना चाहते हैं। कुछ दिनोंके लिये प्राप्त कल्पित देश-जाति-नाम-रूपके अभिमानमें मत्त होकर सारे विश्वसे इसीलिये अपनेको भिन्न और श्रेष्ठ समझकर लोक-समुदायमें और भी मानास्पद बननेके निमित्त तुझे केवल अपने ही घरकी वस्तु बतलाकर, तुझ असीमको ससीम बनाकर अपने गौरवकी वृद्धिके लिये किसी भी तरह श्रद्धा-अश्रद्धासे तेरी प्रतिमा घर-घर पहुँचाना चाहते हैं। माता! यह हमारे बालोचित कार्य हैं। हम बालक हैं, इसीसे ऐसा करते हैं एवं दयामयी! इसीसे हमारी इन चेष्टाओंको देख-सुनकर भी तू नाराज नहीं होती। तू समझती है कि ये अबोध हैं, इसीलिये मेरे वास्तविक स्वरूपको न पहचानकर—मुझ नित्यानन्दमयी स्नेहार्द्रहृदया जननीकी शरण न लेकर मुझ मधुरातिमधुर शान्ति-सुधा-सागरके अगाध अन्तस्तलमें निमग्न न होकर केवल बाह्य लहरियोंकी ओर निहार रहे हैं। इसीसे तू अपनी इन लहरियोंकी मधुर तान सुना-सुनाकर हमारे मनको मोहती और अपनी सुखमयी गोदमें बैठाकर अमृत स्तन्यपानके लिये आवाहन करती है।

माता! वास्तवमें तेरी इन लहरियोंका दृश्य बड़ा मनोहर है, तेरी यह तान बड़ी श्रुति-मधुर है, इसीसे आज तेरे तटपर

विश्वके सभी प्राणी दौड़-दौड़कर आ रहे हैं, यद्यपि अभी सबमें कूद पड़नेकी श्रद्धा और साहस नहीं है, पर तेरी मधुर लहरी-ध्वनि हृदयोंमें एक अद्‌भुत मतवालापन पैदा कर रही है, इसीलिये कुछ लोगोंमें तेरे प्रति पवित्र आकर्षण देखनेमें आ रहा है। वह देखो कुछ तो कूद ही गये, गहरे जलमें निमग्न हो गये और भी कूद रहे हैं, कूदेंगे।

भाई विश्वनिवासियो! दयामयी ज्ञानदायिनी जननीका मधुर आवाहन सुनो और तुरंत आकर सदाके लिये उसकी सुखद क्रोडमें बैठकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ।

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वर्णन तथा स्वजन-वधके पापसे भयभीत अर्जुनका विषाद

कौरव-पाण्डवमें युद्ध आरम्भ हो गया। तब व्यासजीके द्वारा दिव्यदृष्टिप्राप्त संजयसे धृतराष्ट्रने पूछा और उत्तरमें संजयने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको दिये गये गीता-उपदेशका वर्णन किया। इसीका नाम श्रीमद्भगवद्गीता है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए मेरे और पाण्डुपुत्रोंने क्या किया॥ १॥

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरोंका परिचय

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥ ७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

संजयने उत्तरमें कहा—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर आचार्यके पास जाकर यह वचन कहा—॥ २॥ आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकारमें सुसज्जित पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये॥ ३॥ इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान रणकलामें कुशल शूरवीर सात्यकि, विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं॥ ४—६॥ ब्राह्मणश्रेष्ठ! हमारे पक्षमें भी जो सेनानायक (विशिष्ट योद्धा) हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनानायक हैं, उनको बतलाता हूँ॥ ७॥ आप स्वयं द्रोणाचार्य

और पितामह भीष्म, कर्ण, संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा॥ ८॥ (इनके अतिरिक्त) और भी मेरे लिये जीवनको उत्सर्ग कर देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित हैं और सब-के-सब युद्ध-कलामें विशारद हैं॥ ९॥ भीष्मपितामहद्वारा सुरक्षित हमारी वह सेना अपर्याप्त (सब प्रकारसे अजेय) है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना पर्याप्त (विजय प्राप्त करनेमें सुगम) है॥ १०॥ इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह डटे हुए आपलोग सभी भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे भलीभाँति रक्षा करें॥ ११॥

दोनों सेनाओंके वीरोंद्वारा शंखध्वनि

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

(दुर्योधनकी यह बात सुनकर) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापवान् पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वरसे सिंहके नादके समान गरजकर शंख बजाया। इसके पश्चात् (बहुत-से) शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंघे आदि रणवाद्य एक ही साथ बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ॥ १२-१३॥ तदनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथपर विराजमान भगवान् श्रीमाधवने और अर्जुनने भी दिव्य शंख बजाये॥ १४॥ हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने 'पांचजन्य' नामक, अर्जुनने 'देवदत्त' नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने 'पौण्ड्र' नामक महाशंख बजाया॥ १५॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नामक, नकुल तथा सहदेवने 'सुघोष' और 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाये। पृथ्वीपते! फिर श्रेष्ठ धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु—इन सभीने (अपने-अपने स्थानसे) अलग-अलग शंख बजाये॥ १६—१८॥ वह तुमुल शंखघोष आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाता हुआ धृतराष्ट्रपुत्रोंके (आपके पक्षवालोंके) हृदयोंको विदीर्ण करने लगा॥ १९॥

अर्जुनके द्वारा सेना-निरीक्षण

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ २२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

पृथ्वीपते! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने युद्धके लिये सुसज्जित धृतराष्ट्रपक्षीय योद्धाओंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय, धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे ये वचन कहे—'अच्युत! मेरे रथको आप दोनों सेनाओंके बीचमें (ऐसी जगह) खड़ा कीजिये, जहाँसे युद्धकी इच्छासे सुव्यवस्थित-रूपसे सुसज्जित इन विपक्षी योद्धाओंको मैं भलीभाँति देख सकूँ कि इस रणोद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है। युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनका हित चाहनेवाले जो ये सब लोग यहाँ एकत्र हुए हैं, युद्धके लिये प्रस्तुत इन लोगोंको मैं देखूँगा'॥ २०—२३॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥ २५॥
तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

संजयने कहा—भारत! (धृतराष्ट्र) निद्राविजयी **अर्जुनके** इस प्रकार कहनेपर इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने **दोनों**

सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा—'पार्थ! युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुपक्षीय योद्धाओंको देख'॥ २४-२५ ॥ तब पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें युद्धके लिये उपस्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, आचार्य-गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको, मित्रोंको तथा श्वशुरोंको और सुहृदोंको देखा। उन सम्पूर्ण बन्धुओंको उपस्थित देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर विषाद करते हुए ये वचन बोले॥ २६-२७½ ॥

मोहसे व्याप्त अर्जुनके विषाद, स्नेह और युद्ध-विरतिसूचक वचन

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४ ॥

एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! युद्धके लिये समुपस्थित इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे सारे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है और मेरे शरीरमें कम्प तथा रोमांच हो रहा है॥ २८-२९॥ गाण्डीव-धनुष मेरे हाथसे गिर रहा है, त्वचा बहुत जल रही है और मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिये मैं खड़ा रहनेमें भी समर्थ नहीं हूँ॥ ३०॥ इस प्रकार मैं सारे लक्षणोंको ही विपरीत देख रहा हूँ। केशव! युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर मैं कोई कल्याण भी नहीं देखता॥ ३१॥ श्रीकृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य या सुखोंको ही। गोविन्द! हमें ऐसे राज्यसे, ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है?॥ ३२॥ हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुख आदि आकांक्षित हैं, वे ही ये सब गुरुजन, ताऊ-चाचे, पुत्र, पौत्र, दादे, मामे, श्वशुर, साले तथा अन्यान्य सम्बन्धी प्राण और धनका परित्याग करके युद्धमें प्रस्तुत हैं॥ ३३-३४॥ मधुसूदन! इनके द्वारा मारे जानेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो बात ही क्या है॥ ३५॥ जनार्दन! धृतराष्ट्रपक्षीय लोगोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता (सुख-प्राप्ति) होगी? इन आततायियोंको मारनेसे हमें तो पाप ही लगेगा॥ ३६॥ अतएव हे माधव! धृतराष्ट्रपक्षीय इन अपने ही बान्धवोंको मारना हमारे लिये योग्य

नहीं है; क्योंकि अपने ही स्वजन-समुदायको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?॥ ३७॥

कुलक्षयजनित दोषोंका वर्णन

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥
अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

यद्यपि लोभके कारण जिनकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ये लोग कुल-नाशजनित दोषको और मित्र-द्रोहसे उत्पन्न पापको नहीं देख पा रहे हैं; परंतु जनार्दन! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे बचनेका उपाय क्यों नहीं सोचना चाहिये?॥ ३८-३९॥ कुलका नाश होनेपर सनातन

कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मका नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें अधर्म सब ओरसे छा जाता है। श्रीकृष्ण! अधर्म छा जानेपर कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और वार्ष्णेय! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। वह वर्णसंकर कुलघातियों और कुलको नरकमें ले जानेवाला होता है। कुलमें पिण्ड और जलदानकी क्रिया (श्राद्ध-तर्पणके) लुप्त हो जानेपर इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त हो जाते हैं। कुलघातियोंके इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं और जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालके लिये नरकमें निवास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं॥ ४०—४४॥ अहो! बड़े शोककी बात है, हमलोगोंने बुद्धिमान् होकर भी बहुत बड़ा पाप करनेका निश्चय कर लिया है, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंका संहार करनेके लिये उद्यत हो गये हैं॥ ४५॥ यदि मुझ सामना न करनेवाले शस्त्ररहितको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें, तो वह भी मेरे लिये विशेष कल्याणकारक होगा॥ ४६॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजय बोले—रणभूमिमें इस प्रकार कहकर, शोकसे उद्विग्न मनवाले अर्जुन बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गये॥ ४७॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'अर्जुनविषादयोग' नामक प्रथम अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय २५)

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीय अध्याय

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्‌के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

अर्जुनकी युद्ध-विरतिके सम्बन्धमें श्रीकृष्णार्जुनका संवाद

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

संजय बोले—इस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण, व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! तुझे इस असमय-(संकटके समय)-में यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गदायक है और न कीर्ति ही करनेवाला है॥ २॥ पार्थ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तू युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥
न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

अर्जुन बोले—मधुसूदन! मैं रणभूमिमें बाणोंके द्वारा भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध किस प्रकार लड़ूँगा? अरिसूदन! ये दोनों ही पूजनीय हैं॥ ४॥ इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि इन गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थकामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा॥ ५॥ फिर, हम यह भी तो नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है या न करना अथवा यह भी नहीं

जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सामने डटकर खड़े हैं॥ ६ ॥ (इन्हें देखकर) कायरतारूप दोषसे मेरा (क्षत्रिय-) स्वभाव उपहत हो गया है तथा धर्मके विषयमें मेरा चित्त मोहित हो गया है। अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि मेरे लिये जो कल्याणकारक निश्चित साधन हो वह मुझे बतलाइये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, आपके शरणापन्न हुए मुझ दीनको शिक्षा दीजिये॥ ७ ॥ निश्चय ही सारी पृथ्वीका निष्कण्टक धन-धान्यसम्पन्न राज्य और देवताओंके आधिपत्यको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १० ॥

संजय बोले—राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर, फिर श्रीगोविन्दसे यह स्पष्ट कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गये॥ ९ ॥ भरतवंशी धृतराष्ट्र! तब अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनसे हँसते हुए-से ये वचन कहे॥ १० ॥

सांख्ययोग

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥
अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥ १७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥ १८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें भी बना रहा है; परंतु पण्डितजन, जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते॥ ११॥ क्योंकि वास्तवमें—न तो ऐसा ही है कि मैं पहले कभी नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे॥ १२॥ इस देहमें जैसे जीवात्माको बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था प्राप्त होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; इस बातको समझनेवाला धीर पुरुष मोहित नहीं होता (शोक नहीं करता)॥ १३॥ कुन्तीपुत्र! सर्दी-गरमी और सुख-दुःखके देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये भारत! इनको तू सहन कर; क्योंकि पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह अमृतत्व—मोक्षके योग्य होता है॥ १४-१५॥ असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके द्वारा देखा गया है॥ १६॥ उस (चेतन आत्मतत्त्व)-को तू नाशरहित जान, जिससे यह सम्पूर्ण (जड) जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है॥ १७॥ इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर अन्तवाले—नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर॥ १८॥ जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है॥ १९॥ यह आत्मा न तो किसी कालमें जन्मता

है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता है॥ २०॥ पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?॥ २१॥ जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है॥ २२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥
आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता॥ २३॥ क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है और यह नित्य सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है॥ २४॥ यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और विकाररहित कहा जाता है। इससे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेके योग्य नहीं है (तुझे शोक करना उचित नहीं है)॥ २५॥ किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करनेके योग्य नहीं है; क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है। इससे भी इस अपरिहार्य विषयोंमें तू शोक करनेके योग्य नहीं है॥ २६-२७॥ अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; ऐसी स्थितिमें किस बातका शोक करना है?॥ २८॥ कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है और दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है॥ २९॥ अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है॥ ३०॥

क्षात्र-धर्मके अनुसार युद्धकी उपादेयता

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥
अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥
भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

(इसके अतिरिक्त,) अपने (क्षत्रिय-) धर्मको देखकर भी तुझे युद्धसे काँप जाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है॥ ३१॥ पार्थ! अपने-आप प्राप्त यह (स्वधर्मरूप युद्ध) स्वर्गके खुले हुए द्वाररूप है। इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं॥ ३२॥ अब यदि तू यह धर्मयुक्त युद्ध नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा॥ ३३॥ सब लोग तेरी सदा रहनेवाली अकीर्तिकी भी बातें करेंगे और प्रतिष्ठित पुरुषके लिये अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है॥ ३४॥ जिनकी दृष्टिमें तू बहुत सम्मानित है, उन्हींमें अब तू लघुताको प्राप्त होगा। वे महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे॥ ३५॥ तेरे वैरी तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे

बहुत-से न कहनेयोग्य दुर्वचन कहेंगे; इससे अधिक दु:ख और क्या होगा!॥ ३६॥ यदि तू युद्धमें मारा गया तो स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इस कारण कुन्तीपुत्र अर्जुन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा॥ ३७॥ सुख-दु:ख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा॥ ३८॥

निष्काम कर्मयोग

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

पार्थ! यह बुद्धि तुझे ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी। अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त होकर

तू कर्मबन्धनको भलीभाँति नष्ट कर सकेगा॥ ३९॥ इस कर्मयोगमें आरम्भका (बीजका) नाश नहीं है और प्रत्यवाय भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन महान् भयसे त्राण कर देता है॥ ४०॥ अर्जुन! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु निश्चयहीन अविवेकी सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥ ४१॥ अर्जुन! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं; जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं—वे अविवेकीजन इस प्रकारकी पुनर्जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग-ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, जिस पुष्पिता (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीको कहा करते हैं, ऐसी उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है तथा जो भोग-ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंके अन्तःकरणमें निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती॥ ४२—४४॥ अर्जुन! वेद (सत्, रज और तम—इन) तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य विशुद्ध-सत्त्वरूप परमात्मामें स्थित योग (सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षाको) न चाहनेवाला आत्मपरायण हो॥ ४५॥ सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना-सा ही प्रयोजन रह जाता है॥ ४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

तेरा कर्मोंमें ही अधिकार है, उनके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलकी वासनावाला मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो॥ ४७॥ धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य कर्मोंको कर। यह 'समत्व' ही योग कहलाता है॥ ४८॥ इस समत्वरूप बुद्धियोगकी अपेक्षा अन्य सकाम कर्म अत्यन्त ही तुच्छ है। इसलिये धनंजय! तू समत्वरूप बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलकी वासनावाले अत्यन्त दीन हैं॥ ४९॥ समत्वबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है (उनसे मुक्त हो जाता है)। इससे तू समत्वबुद्धिरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है (कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है)॥ ५०॥ समत्वबुद्धिसे

युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निरामय परमपदको प्राप्त हो जाते हैं॥ ५१॥ यों करते-करते जब तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और भविष्यमें सुने जानेवाले इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे विरक्त हो जायगा॥ ५२॥ भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब शुद्ध-सत्त्वरूप परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा॥ ५३॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण और उसका महत्त्व

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुनने कहा—केशव! समाधिमें स्थित स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?॥ ५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—पार्थ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥ ५५॥ दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंके लिये जो सर्वथा निःस्पृह रहता है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नहीं रहते हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है॥ ५६॥ जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है॥ ५७॥ जैसे कछुआ सब ओरसे अपने अंगोंको समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये)॥ ५८॥ निराहारी (इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले) पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें रहनेवाला रस (विषयासक्ति) निवृत्त नहीं होता। (पर) इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो विषयासक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है॥ ५९॥ अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलपूर्वक हर लेती हैं॥ ६०॥ इसलिये साधकको चाहिये कि वह मेरे परायण होकर—भगवत्परायण होकर* उन समस्त इन्द्रियोंका

* बाहरसे विषयोंका त्याग होनेपर भी भीतर उनका चिन्तन होता रहता है। वस्तुतः

संयम करके समाहितचित्तसे बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है॥ ६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ ६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥
तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

भगवत्परायण होनेपर ही भगवत्कृपासे जब इन्द्रियाँ भगवद्विषयोंमें लगती हैं, तभी मनसे भगवान्का चिन्तन होता है। नहीं तो, विषयचिन्तन होता रहता है और वह सर्वनाशका कारण बन जाता है।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेपर यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है—उसका सर्वनाश हो जाता है॥ ६२-६३॥ परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी विमलताको—प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी निर्मलता—प्रसन्नतासे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही (सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति) स्थिर हो जाती है॥ ६४-६५॥ अयुक्त (मन-इन्द्रियोंपर विजय नहीं प्राप्त किये हुए) पुरुषमें न तो (आत्म-स्थितिरूप) बुद्धि होती है और न उस अयुक्तके अन्तःकरणमें भावना ही होती है तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कहाँ मिल सकता है?॥ ६६॥ जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है॥ ६७॥ अतएव महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर

है॥ ६८॥ समस्त ज्ञानियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उसमें नित्यज्ञानस्वरूप परमानन्दको प्राप्त वह संयमी (स्थितप्रज्ञ) जागता है और जिस नाशवान् संसारके प्रपंचमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है॥ ६९॥ जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं॥ ७०॥ जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है॥ ७१॥ पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है—ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर वह कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर निर्वाणको—ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है॥ ७२॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय २६)

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीय अध्याय

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन, स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगके अनुसार अनासक्तभावसे नियत कर्म करनेकी श्रेष्ठता

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अर्जुन बोले—जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान)-को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?॥ १॥ आप इन मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं। अतएव एक निश्चित बात बतलाइये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

श्रीभगवान् बोले—निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें सांख्ययोगियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी कर्मयोगसे (सम्पन्न) होती है॥ ३॥ मनुष्य न तो कर्मोंके अनारम्भसे निष्कर्मता (योगनिष्ठा)-को प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे ही सिद्धि (सांख्यनिष्ठा)-को प्राप्त होता है॥ ४॥ क्योंकि कोई भी क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रहता; सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंसे विवश होकर कर्म करनेको बाध्य होता है॥ ५॥ जो मनुष्य कर्मेन्द्रियोंको हठपूर्वक रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है॥ ६॥ अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त होकर समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है॥ ७॥ (अतः) तू नियत (शास्त्रविहित कर्तव्य-) कर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा॥ ८॥

यज्ञादि कर्म करनेकी आवश्यकता

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

यज्ञके (भगवत्सेवा या भगवान्‌के) लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्यसमुदाय कर्मबन्धनसे बँध जाता है। इसलिये अर्जुन! तू आसक्तिरहित होकर उस यज्ञके लिये ही कर्मका भलीभाँति आचरण कर॥ ९॥ प्रजापतिने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर कहा था कि तुमलोग इस (यज्ञ)-के द्वारा फूलो-फलो और यह यज्ञ 'तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें।' इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे। यज्ञके द्वारा समुन्नत देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग देते रहेंगे। उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है वह निश्चय ही चोर है॥ १०—१२॥ यज्ञसे बने हुए (पदार्थों-) को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे

मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो मनुष्य (केवल) अपने पोषणके लिये ही पकाते (कमाते) हैं, वे तो पापको ही खाते हैं॥ १३॥ अन्नसे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ (विहित) कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी अक्षर ब्रह्म (परमात्मा) सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है॥ १४-१५॥ पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं चलता है, (अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता है,) वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापजीवन मनुष्य व्यर्थ ही जीता है॥ १६॥

ज्ञानवान् और भगवान्‌के लिये भी लोक-संग्रहार्थ कर्म करनेका प्रतिपादन

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥ २०॥
यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

अवश्य ही जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उस महापुरुषका न तो इस लोकमें कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके न करनेसे ही। सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रहता॥ १७-१८॥ इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है॥ १९॥ जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मके आचरणसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये, तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुझे कर्म ही करने चाहिये॥ २०॥ श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीका अनुकरण करके वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह (अपने आचरणद्वारा) जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है॥ २१॥ अर्जुन! यद्यपि मेरे लिये इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न किसी अप्राप्त वस्तुको मुझे प्राप्त ही करना है; तथापि मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ॥ २२॥ निश्चय ही पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्ममें न प्रवृत्त होऊँ, तो (मेरी देखादेखी सब लोग कर्तव्यकर्म छोड़ दें; क्योंकि) सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं॥ २३॥ और यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरताका करनेवाला बनूँ तथा इस सारी प्रजाको नष्ट करनेवाला होऊँ॥ २४॥

अज्ञानी और ज्ञानीके लक्षण तथा राग-द्वेषरहित कर्मके लिये प्रेरणा

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥ २५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ २६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥
तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

इसलिये भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान्—ज्ञानीको भी लोकसंग्रह

चाहते हुए उसी प्रकार कर्म करने चाहिये॥ २५॥ परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद (कर्मोंमें अश्रद्धा) उत्पन्न न करे; बल्कि स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे॥ २६॥ यद्यपि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; तथापि जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूँ॥ २७॥ परंतु महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता॥ २८॥ प्रकृतिके गुणोंसे मोहित मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे॥ २९॥ (अतः) मुझ (भगवान्)-में लगे हुए चित्तके द्वारा सब कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित (कामनाके ज्वरसे रहित) होकर तू युद्ध कर॥ ३०॥ जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सब कर्मोंसे छूट जाते हैं॥ ३१॥ परंतु जो मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे मतके अनुसार नहीं चलते, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ॥ ३२॥ सभी प्राणी प्रकृति (स्वभाव)-के अनुसार चलते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें कोई क्या निग्रह करेगा?॥ ३३॥ इन्द्रिय-इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणधनको लूट लेनेवाले बटमार शत्रु हैं॥ ३४॥ अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए

पराये धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना भी श्रेष्ठ है; परंतु पराया धर्म भयकारक है॥ ३५॥

पापमें कारण काम और कामके निरोधका साधन

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किसके द्वारा प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥
तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—रजोगुण (विषयासक्तिरूप रज—राग)-से उत्पन्न यह काम ही (प्रतिहत होनेपर) क्रोध बनता है, यह

काम (विषयोंकी कामना) बहुत खानेवाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और बड़ा पापी है, इसीको तू इस विषयमें वैरी जान॥ ३७॥ जिस प्रकार धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है॥ ३८॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है॥ ३९॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इस (काम)-के वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इनके (मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके) द्वारा ही ज्ञानको ढककर जीवात्माको मोहित करता है॥ ४०॥ इसलिये भरतश्रेष्ठ अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल॥ ४१॥ इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे (ज्ञानेन्द्रियोंको कर्मेन्द्रियोंसे) पर—श्रेष्ठ बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं। इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है (वह आत्मा तेरा स्वरूप है; अतः तू इस कामको मारनेमें समर्थ है।)॥ ४२॥ इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल॥ ४३॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय २७)

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थ अध्याय

अवतार-रहस्य, सगुण भगवान्‌का प्रभाव, निष्काम-कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

अवतार-रहस्य और निष्काम-कर्मयोग

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने (अपने पुत्र) वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने (अपने पुत्र राजा) इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥ परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया॥ २॥ तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह अति उत्तम रहस्य है॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो पीछे (अभी) हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पहलेका है (वह कल्पके आदिमें हो चुका था); तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपने ही कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था?॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता॥ ५॥ मैं अजन्मा, अविनाशीस्वरूप तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहते हुए भी अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहकर अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ* ॥ ६॥ भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपनेको उपर्युक्त रूपमें प्रकट करता हूँ। साधुपुरुषोंका परित्राण करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका

* यहाँ भगवान्ने अवताररूपसे प्रकट अपने अप्राकृत दिव्य स्वरूपका परिचय दिया है। वे अजन्मा रहते हुए ही जन्म लेते-से दीखते हैं, अव्ययात्मा—अविनाशी रहते हुए ही अप्रकट हो जाते हैं और अनन्त लोकोंके अनन्त प्राणियोंके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' महान् ईश्वर रहते हुए ही माता-पिता, बन्धु-

विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ* ॥ ७-८ ॥ अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य (अप्राकृत-अलौकिक) हैं, इस प्रकार जो

बान्धव आदिके तथा प्रेमी भक्तोंके पराधीन-से प्रतीत होते हैं। प्राकृत जगत्में अप्राकृत लीला करनेके लिये भगवान् अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहकर 'अपनी माया' (आत्ममाया)-से प्रकट होते हैं।

भगवान्की तीन प्रकृतियाँ हैं—(१) जगद्-रूप अष्टधा 'अपरा प्रकृति,' (२) जीवभूत चेतन 'परा प्रकृति', जो अखिल जगत्को धारण करती है और (३) उनकी अपनी 'प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्)' जिसमें लीलाके समय भगवान् अधिष्ठित रहते हैं यह अन्तरंगा—विशुद्ध भगवत्स्वरूपा है।

इसी प्रकार भगवान्की मायाके भी अनेक रूप हैं, पर जिस मायासे भगवान् स्वयं लीला सम्पादन करते हैं वह माया भगवान्की निजी माया है। इसीका नाम 'योगमाया' अथवा भगवान्की 'स्वरूपभूता लीला' है। यह योगमाया ही भगवान्की लीलाकी सारी व्यवस्था करती है। रासलीलाके प्रारम्भमें इसी 'योगमाया' का समाश्रयण किया गया था—'योगमायामुपाश्रितः।' इसी निजस्वरूपभूता योगमायासे भगवान् अपनेको छिपाये भी रखते हैं— 'योगमायासमावृतः।' (अ० ७। २५)

* भगवान्के अवतारके तीन हेतु बतलाये हैं—'साधुओंका परित्राण,' 'दुष्कृतोंका विनाश' और 'धर्मका संस्थापन।' 'स्वयं भगवान्' के इस पूर्णावतारमें अन्यान्य अवतारी रूपोंका भी समावेश है। अतएव भगवान्के द्वारा निश्चय ही पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका और उनके अनुगामी आसुरी भावापन्न दुष्कृतोंका विनाश, इन दुराचारियोंके द्वारा संत्रस्त सदाचारी साधुप्रकृति पुरुषोंका परित्राण और पापाचारियोंके द्वारा प्रचलित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन मानवधर्मकी भलीभाँति स्थापना—ये तीन मंगलमय कार्य सुसम्पन्न होते हैं।

इन तीनोंका एक दूसरा रूप भी है। स्वयं भगवान् अपने इस अखिल-रसामृतमूर्ति, अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्परविरोधी-गुण-धर्माश्रयस्वरूप, घनीभूत परम-प्रेमानन्द-सुधामय मधुर मनोहर दिव्य चिन्मय लीला-विग्रहके द्वारा उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो अपने परम प्रियतम भगवान्के मंगलमय-रसमय प्रेम एवं परमानन्द-रसमय दर्शनकी तीव्रतम महती उत्कण्ठासे अतुलनीय विरह-वेदनाका अनुभव कर रहे हैं और अपने जीवनके एक-एक पलको भीषण विरहानलकी भयानक ज्वालामें दग्ध होते बिता रहे हैं।

तत्त्वसे जान लेता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; वह मुझे ही प्राप्त होता है* ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १० ॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११ ॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२ ॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३ ॥

इसी प्रकार भगवान् उन दुष्कृतोंका, उन भाग्यवान् असुरोंके देहोंका विनाश करके उन्हें सहज ही अपने परम कल्याणरूप परम धाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्‌के ही मंगलमय दिव्य करकमलोंके द्वारा देहत्याग करके भगवान्‌के दिव्य धाममें पहुँचनेके अधिकारी बन चुके हैं।

और धर्मके संस्थापनका अभिप्राय यह है कि भगवान् उस काम-कलुषित मोहविजृम्भित विषय-सेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानको ध्वंस कर, भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज सर्वत्यागसे सुसम्पन्न, परम उत्कृष्ट, असमोर्ध्व मधुर विशुद्ध प्रेमधर्मकी स्थापना करते हैं।

प्रेमीजनोंकी मान्यतामें भगवान्‌के अवतारके यही तीन प्रधान कार्य हैं।

* नित्य सहज अजन्मा भगवान्‌का वह जन्म और उनके कर्म 'दिव्य' हैं; क्योंकि भगवान् न तो कर्मपरवश मायाधीन होकर जन्म ग्रहण करते हैं और न इस लीला-जन्मसे प्रकट भगवान्‌का मंगलमय दिव्य विग्रह ही प्राकृतिक उपादानोंसे रचित होता है। वह हानोपादानरहित, जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित, देह-देही-सम्बन्धसे रहित, नित्य, शाश्वत, अप्राकृत, सच्चिदानन्दमय, स्वेच्छामय, विशुद्ध भगवत्स्वरूप होता है। इसी प्रकार उनके लीला-कर्म भी अहंता-ममता आदिसे रहित सर्वथा दिव्य—अप्राकृत भगवत्-रसमय होते हैं। इस प्रकार अनुभव करना ही दिव्य जन्मकर्मको तत्त्वसे जानना है और यों तत्त्वसे जाननेवाला पुरुष भगवान्‌को ही प्राप्त होता है, शरीरत्यागके पश्चात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त मेरे जन्म-कर्मके तत्त्वज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं॥ १०॥ जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। अर्जुन! सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं॥ ११॥ इस मनुष्यलोकमें कर्मोंमें सिद्धि—(कर्मोंके फल)-को चाहनेवाले (सकाम) लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि यहाँ शीघ्र ही मिल जाती है॥ १२॥ (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन) चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उसका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान॥ १३॥ न तो मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न मुझे कर्मोंके फलमें स्पृहा ही है—इस प्रकार जो मुझे भलीभाँति जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता है॥ १४॥

पूर्वकालके मुमुक्षु पुरुषोंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। अतएव तू भी पूर्वजनोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंको ही कर॥ १५॥ कर्म क्या है? इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ (कर्मबन्धन)-से मुक्त हो जायगा॥ १६॥ कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है॥ १७॥ जो पुरुष कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वही योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है॥ १८॥

योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमा

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥ २०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

जिसके सम्पूर्ण (शास्त्रसम्मत) कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा दग्ध हो गये हैं, उसको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं॥ १९॥ जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग

करके भोगमय संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति प्रवृत्त रहता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता॥ २०॥ जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया है, भोगोंकी आशासे रहित ऐसा पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता॥ २१॥ जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुई परिस्थितिमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें मत्सरताका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी बँधता नहीं॥ २२॥ जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है; जो देहाभिमान और ममतासे मुक्त हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले ऐसे पुरुषके कर्म पूर्णरूपसे विलीन हो जाते हैं॥ २३॥

फलसहित विविध यज्ञोंका वर्णन

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है, हवन किये जाननेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—ऐसे उस ब्रह्मकर्ममें स्थित योगीके द्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है॥ २४॥ दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन ब्रह्मरूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं॥ २५॥ अन्य योगीजन कर्म आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं॥ २६॥ कुछ योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं॥ २७॥ कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त

यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं॥ २८॥ अन्य कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं॥ २९-३०॥ कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका भोजन करनेवाले योगीजन सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और यज्ञको न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी (सुखदायक) नहीं है, फिर परलोक कैसे (सुखदायक) हो सकता है?॥ ३१॥ इसी प्रकार और भी बहुत प्रकारके यज्ञ वेद-वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान; इस प्रकार तत्त्वसे जानकर तू कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा॥ ३२॥ परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि समस्त कर्म (पूर्णतया) ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं॥ ३३॥

ज्ञानकी महिमा

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात् कुरुते तथा॥ ३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥
योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर प्रश्न करनेसे वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करेंगे॥ ३४॥ अर्जुन! जिस ज्ञानको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ (सच्चिदानन्द परमात्मा)-में देखेगा॥ ३५॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाके द्वारा निश्चय ही समस्त पापोंसे भलीभाँति तर जायगा॥ ३६॥ अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देती है॥ ३७॥ निःसंदेह इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण होकर पुरुष अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है॥ ३८॥ श्रद्धावान्, तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह तुरंत ही परम शान्तिको

प्राप्त हो जाता है॥ ३९॥ अज्ञानी और श्रद्धारहित, संशयसे भरा मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशयात्मा मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक और न सुख ही है॥ ४०॥ धनंजय! जिसने कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने ज्ञानके द्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे आत्मवान् (वशमें किये हुए अन्त:करणवाले) पुरुषको कर्म नहीं बाँधते॥ ४१॥ इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित संशयको ज्ञानरूप खड्गके द्वारा काटकर समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और (युद्धके लिये) उठ खड़ा हो॥ ४२॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय २८)

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चम अध्याय

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगका निर्णय

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! आप (कभी तो) कर्मोंके संन्यासकी और (कभी) फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति सुनिश्चित कल्याणकारक हो, वही मुझे बतलाइये॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥
ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥ ३॥
साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥
सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों

ही कल्याण करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग (साधनमें सुगम होनेके कारण) श्रेष्ठ है॥ २॥ महाबाहु अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है, उसे सदा संन्यासी ही समझना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥ उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको बाल-बुद्धिके लोग ही पृथक्-पृथक् (फल देनेवाले) बतलाते हैं, न कि विज्ञजन; क्योंकि इनमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फल—(रूप परमात्मा)-को प्राप्त होता है॥ ४॥ ज्ञान-योगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, वही कर्मयोगियोंके द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष सांख्य और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है॥ ५॥ परंतु अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास (मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग) प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगीके लक्षण और उनकी महिमा

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥
नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता॥ ७॥ तत्त्वको जाननेवाला पुरुष (सांख्ययोगी) तो देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, भोजन करता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी—सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों)-में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा ही माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ॥ ८-९॥ जो पुरुष सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता॥ १०॥ कर्मयोगी (ममत्व-बुद्धिरहित) केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरके द्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं॥ ११॥ कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके नैष्ठिकी (भगवत्प्राप्तिरूप) शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँध जाता है॥ १२॥

ज्ञानयोग

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्॥ १३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, सांख्ययोगका आचरण करनेवाला ऐसा पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक (सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित) रहता है॥ १३॥ प्रभु (परमात्मा) न तो मनुष्योंके कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किंतु (इन सबमें) स्वभाव ही प्रवृत्त हो रहा है॥ १४॥ वह विभु (सर्वव्यापी परमेश्वर) न तो किसीके पापको और न किसीके शुभकर्म-(पुण्य-) को ही ग्रहण करता है; किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है; उसीसे अज्ञानी जीव मोहित हो रहे हैं॥ १५॥ परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है॥ १६॥ जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन

परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर ऐक्यभावसे स्थिति है, ऐसे भगवत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (परमगति)-को प्राप्त होते हैं॥ १७॥ वे ज्ञानीजन विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं (इनमें समान व्यवहार असम्भव है, पर वे सबमें एक परमात्माको समभावसे देखते हैं)॥ १८॥ जिनका मन समतामें स्थित है, उनके द्वारा यहाँ (इस जीवित-अवस्थामें ही) संसार जीत लिया गया (वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये); क्योंकि ब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) निर्दोष और सम है; इससे वे ब्रह्म-(सच्चिदानन्दघन परमात्मा-) में ही स्थित हैं॥ १९॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं होता और

अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिरबुद्धि, मोहरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष परब्रह्म (परमात्मा)-में स्थित है॥ २०॥ बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें जो सुख है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है॥ २१॥ इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं; (वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी वस्तुतः) वे सब दुःखके ही उत्पत्तिस्थल हैं। इसलिये अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता॥ २२॥ जो साधक शरीर छूटनेके पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है॥ २३॥ जो पुरुष अन्तरात्मामें ही रमण करनेवाला है और जो आत्मामें ही ज्योति (ज्ञान)-वाला है, वह ब्रह्मभूत (सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ अभिन्नभावको प्राप्त सांख्ययोगी) ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है॥ २४॥ जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं; जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं; जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं॥ २५॥ काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे ब्रह्मनिर्वाण (शान्त परब्रह्म परमात्मा) ही परिपूर्ण है॥ २६॥

भक्तियुक्त ध्यानयोग तथा भगवान्‌की सर्वसुहृदता

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

बाहरके विषय-भोगोंका न चिन्तन करता हुआ उन्हें बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भ्रुकुटीके बीचमें स्थित करके, नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको सम करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है॥ २७-२८॥ (पर जो उपर्युक्त इन सब साधनोंको न कर सकता हो, उसके लिये सुगम साधन यह है कि) जो पुरुष मुझको (भगवान् श्रीकृष्णको) सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा समस्त भूत-प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित अहैतुक दयालु और प्रेमी)—ऐसा तत्त्वसे जान लेता है, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ २९॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'कर्मसंन्यासयोग' नामक पञ्चम अध्याय
(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय २९)।

श्रीमद्भगवद्गीता

षष्ठ अध्याय

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

निष्काम कर्मयोगका स्वरूप और योगारूढ़ पुरुषके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥
यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा न केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी ही है॥ १॥ पाण्डुनन्दन! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान; क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता॥ २॥ योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें (निष्कामभावसे) कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और (योगारूढ़ हो जानेपर) उस योगारूढ़ पुरुषका जो

शम (सर्वसंकल्पोंका अभाव) है, वही (कल्याणमें) हेतु कहा जाता है॥ ३॥ जब न तो पुरुष इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही, तब वह सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है॥ ४॥

आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

अपने द्वारा अपना उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है॥ ५॥ जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है॥ ६॥ सर्दी-गरमी, सुख-दुःखादि तथा मान-अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे समाहित पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है (उसके ज्ञानमें परमात्माके

सिवा अन्य कुछ है ही नहीं) ॥ ७ ॥ जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी 'युक्त' कहा जाता है ॥ ८ ॥ सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष और बन्धुगणोंमें तथा साधुओं (धर्मात्माओं)-में और पापियोंमें भी जो समबुद्धि रखता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥ मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशा और संग्रहसे रहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर अपनेको निरन्तर परमात्मामें लगावे ॥ १० ॥

ध्यानयोगकी विधि आदिका विस्तृत उपदेश

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥
सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

शुद्ध स्थानमें, जिसपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे॥ ११-१२॥ काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके, स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्त लगाकर और मेरे परायण होकर बैठे॥ १३-१४॥ इस प्रकार वशमें किये हुए मनवाला योगी आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें जोड़ता हुआ, मुझमें रहनेवाली निर्वाणपरमा—परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है॥ १५॥ अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका, न सर्वथा न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न अधिक जागनेवालेका ही सिद्ध होता है॥ १६॥ दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य नियमित आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है॥ १७॥ जब भलीभाँति वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें ही स्थित हो जाता है, तब सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित

पुरुष 'योगयुक्त' है—ऐसा कहा जाता है॥ १८॥ जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक हिलता-डुलता नहीं, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें संलग्न योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है॥ १९॥ योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपरत हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है॥ २०॥ ऐसा जो इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है, उसमें स्थित योगी परमात्माके स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता॥ २१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥
सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता॥ २२॥ उस दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित योगको

जानना चाहिये। उस योगका सम्पादन न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है॥ २३॥ संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर, क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे॥ २४-२५॥ यह स्थिर न रहनेवाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे॥ २६॥ क्योंकि जिसका मन भलीभाँति शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ ऐक्यभावको प्राप्त योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है॥ २७॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ, सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त सुखका अनुभव करता है॥ २८॥ सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें

ऐक्यभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें (स्थित) और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें (कल्पित) देखता है॥ २९॥ जो पुरुष सर्वत्र मुझ भगवान् वासुदेवको ही देखता है और सबको मुझ वासुदेवमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता॥ ३०॥ जो पुरुष मुझमें ऐक्यभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझे भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है॥ ३१॥ अर्जुन! जो योगी अपने सदृश सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें (अपने सदृश ही) सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है॥ ३२॥

मनकी चंचलता और उसके निग्रहका साधन

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

अर्जुन बोले—मधुसूदन! यह योग जो समताके रूपमें आपके द्वारा कहा गया है, मनके चंचल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देख पा रहा हूँ॥ ३३॥ क्योंकि श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसको वशमें करना मैं वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है॥ ३५॥ मनको वशमें न किये हुए पुरुषके द्वारा इस योगको प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषके द्वारा साधन करनेपर इसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है॥ ३६॥

योगभ्रष्ट पुरुषकी विविध गतियाँ और भगवद्गतचित्त होकर श्रद्धापूर्वक भजन करनेवाले योगीकी महिमा

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, पर संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको (आत्मज्ञान या भगवत्-साक्षात्कारको) न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है?॥ ३७॥ महाबाहो! वह ब्रह्मकी प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?॥ ३८॥ श्रीकृष्ण! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे काटनेके लिये आप ही योग्य हैं। निश्चय

ही आपके सिवा दूसरा इस संशयको छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥ ४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि प्यारे! कल्याण (आत्मोद्धार)-के लिये कर्म करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता॥ ४०॥ वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मा पुरुषोंके लोकों (स्वर्गादि उत्तम लोकों)-को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके, फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है॥ ४१॥ अथवा वह (वैराग्यवान् पुरुष उन

लोकोंमें न जाकर) ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है, परंतु इस प्रकारका (यह जन्म) इस संसारमें निश्चय ही अत्यन्त दुर्लभ है॥ ४२॥ वहाँ (उपर्युक्त जन्ममें) पूर्वशरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये (पहलेसे भी बढ़कर) प्रयत्न करता है॥ ४३॥ वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला) योगभ्रष्ट पुरुष पराधीन होनेपर भी उस पूर्वके अभ्याससे निश्चय ही उसी योगकी ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लंघन कर जाता है॥ ४४॥ परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कार-बलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो, फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है॥ ४५॥ योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी वह श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी वह श्रेष्ठ है। इससे अर्जुन! तू योगी हो॥ ४६॥ सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ (भगवान्)-में लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मेरे मनमें सर्वोत्तम है॥ ४७॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'आत्मसंयमयोग' नामक षष्ठ अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३०)

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तम अध्याय

ज्ञान-विज्ञान, भगवान्‌की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्‌को प्रभावसहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

भगवान्‌के समग्र रूपसम्बन्धी विज्ञानयुक्त ज्ञानका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥
मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके

आत्मरूप मुझ समग्र* को संशयरहित जानेगा, उसको सुन॥ १॥ मैं तेरे लिये इस विज्ञान (समग्रके ज्ञानरूप विशेष ज्ञान)-सहित ज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता॥ २॥ हजारों मनुष्योंमें कोई एक (ब्रह्मसाक्षात्काररूप) सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषोंमेंसे भी कोई एक मेरे (मुझ समग्र भगवान्के) परायण होकर (ज्ञानोत्तर पराभक्ति—प्रेमके द्वारा) मेरे समग्ररूपको तत्त्वसे जानता है॥ ३॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा (अर्थात् मेरी जड प्रकृति) है और महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा (चेतन) प्रकृति जान॥ ४-५॥ अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ (अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ)॥ ६॥ धनंजय! मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें (सूत्रके) मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है॥ ७॥

---

* जो सर्वमय, सर्वातीत, सर्वगुणमय, सर्वगुणातीत, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार—व्यक्त-अव्यक्त, अणु-महान् , सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भक्त पराधीन आदि नित्य अनन्त अचिन्त्य अनिर्वचनीय युगपत् परस्पर विरुद्धगुणधर्माश्रयस्वरूप हैं, जो अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री, अनन्त ज्ञान, अनन्त वैराग्य, अनन्त शक्ति, अनन्त बल, अनन्त तेज, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्योति, अनन्त विरुद्धशक्तित्व और अदोषस्पर्शित्वस्वरूप हैं और जो परमात्मा, अन्तर्यामी, अधियज्ञ, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, क्षर, जीवजगत् , क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठातृदेवता, अक्षर कूटस्थ ब्रह्म एवं अक्षर-ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ पुरुषोत्तम आदि अनन्त रूपोंमें अभिव्यक्त हैं—वे भगवान् ही 'समग्र' भगवान् हैं।

समस्त पदार्थोंमें जीवनतत्त्व-रूपसे भगवान्‌की व्यापकता

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ। मैं पृथिवीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन और तपस्वियोंमें तप हूँ॥ ८-९॥ अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ। भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल (शास्त्रके अनुकूल) काम हूँ॥ १०-११॥ और भी जो ये सत्त्वगुणसे, रजोगुणसे तथा तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं'—ऐसा जान। परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं॥ १२॥ गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है। इसीलिये इन तीनों

गुणोंसे परे मुझ अविनाशी-(अनुत्तम अविनाशी परमभावस्वरूप भगवान्-) को नहीं जानता॥ १३॥

भगवद्भक्तिकी महिमा, आसुर भाववालोंकी निन्दा और चतुर्विध भक्तोंका स्वरूप

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

मेरी यह दैवी* त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। (इससे पार

---

* महेश्वरभगवान्‌की शक्ति ही महामाया या स्वभावस्वरूपा स्वीया प्रकृति है (मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। १०)। इसीके विभिन्न लीलाकार्य हैं। लीलाकार्योंके अनुसार ही मायाके विभिन्न काम और नाम हैं। इनमें जो संसारका सृजन करनेवाली तथा जीवको मोहसे ढकनेवाली है, वह भगवान्‌की दैवी माया है। यह त्रिगुणास्वरूपा है—गुणमयी है। गुणोंका प्राकट्य इसीसे होता है। (सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। गीता १४। ५) मूलप्रकृतिकी अष्टधा विकृति ही भगवान्‌की अपरा प्रकृति है। मायाको कोई महानुभाव अनिर्वचनीय कहते हैं। इस भगवान्‌की मायाका आवरण भगवान्‌की शरणागतिसे ही दूर होता है।

पाना अत्यन्त ही कठिन है) परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं (मेरे ही शरणापन्न होते हैं), वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं (संसारसे तर जाते हैं)॥ १४॥ (इस) मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें अधम, दुष्कृति (घोर विषयासक्त भगवद्विमुख) मूढ मनुष्य मुझको नहीं भजते॥ १५॥ भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सुकृती अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार* प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं॥ १६॥ इन (चारों)-में मुझ भगवान्‌के साथ सदा संयुक्त और विशुद्ध

---

* लौकिक तथा पारलौकिक भोग-सुखोंकी इच्छासे भजनेवाले 'अर्थार्थी, जैसे ध्रुव, सुग्रीव, विभीषणादि; शारीरिक तथा मानसिक, वर्तमान एवं भावी संकटोंसे व्याकुल होकर उनसे छूटनेके लिये भजन करनेवाले 'आर्त' जैसे गजराज, द्रौपदी आदि; भोगसुख-प्राप्ति एवं संकट-निवारण आदिके लिये न भजकर केवल भगवान्‌के स्वरूपको भलीभाँति जाननेके लिये ही भजन करनेवाले—'जिज्ञासु' जैसे परीक्षित्, उद्धव आदि और परमात्माके ज्ञानकी अथवा परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर परमात्मामें रमे हुए सहज ही उनका अनुभवरूप भजन करनेवाले 'ज्ञानी' भक्त हैं—जैसे श्रीशुकदेवजी, जनकादि, सनकादि।

इस श्लोकमें आये हुए चार प्रकारके भक्तोंका जिस (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी) क्रमसे वर्णन है, टीकाओंमें प्रायः इस क्रमको बदलकर अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इस प्रकार क्रम रखा गया है; क्योंकि न्यायतः साधना तथा भावकी दृष्टिसे भी 'अर्थार्थी' से 'आर्त और 'आर्त' से 'जिज्ञासु' की श्रेणी उच्च है। अर्थार्थी भोगके लिये जान-बूझकर कामनासे भजन करता है, आर्त केवल संकटसे त्राण पानेके लिये भगवान्‌को पुकारता है, भोगके लिये नहीं और जिज्ञासु तो भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही उन्हें भजता है!

भक्त वास्तवमें वही होना भी चाहिये, जो भगवान्‌की या भगवान्‌के विशुद्ध प्रेमकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌को भजता हो। अर्थ आदिके लिये भजनेवाला तो सचमुच उस अर्थका ही भक्त है, भगवान्‌का नहीं; क्योंकि भगवान्‌के भजनको वह अर्थ-प्राप्तिका साधन बनाता है। अतः उसे भगवान्‌का भक्त कैसे माना जाय?

फिर लौकिक, पारलौकिक 'अर्थ' (भोग) तो यथार्थमें अनर्थरूप है। श्रीमद्भागवतमें

अहैतुक अनन्यप्रेमसम्पन्न ज्ञानी भक्त विशेषरूपसे अति उत्तम है। एकमात्र मुझ भगवान्‌को ही (परम श्रेयस्वरूप परमश्रेष्ठ और परम प्रेयस्वरूप परम प्रेष्ठ) जाननेवाला वह तत्त्वज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। यह ज्ञानी भक्त ज्ञानकी परानिष्ठारूप पराभक्ति अथवा विशुद्ध प्रेमके द्वारा समग्र भगवान्‌का भजन करके ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठारूप भगवान्‌के पुरुषोत्तमस्वरूपको जान लेता है। (१४। २७; १५। १९; १८। ५४)॥१७॥ भोगविमुख तथा

अर्थको दु:ख-चिन्ता-पतनका कारण और चोरी, हिंसा, असत्य-भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—इन पंद्रह अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला परमार्थका बाधक 'अर्थ' नामक 'अनर्थ' बतलाया गया है और कहा है कि कल्याण चाहनेवाला इसे दूरसे ही त्याग दे (तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्। भागवत ११। २३। १९)।

नाशवान् 'शरीर' तथा 'नाम' के संकटको संकट माननेवाला भी मिथ्या 'नाम-रूप' में ही आसक्त है—वह भी यथार्थत: भक्त नहीं। अतएव उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—इस क्रमको ही ठीक मानते हुए इसका अभिप्राय निम्न प्रकारसे समझना चाहिये—

आर्त—समस्त कामनाओंका परित्याग करके जो एकमात्र भगवान्‌को पानेके लिये ही अत्यन्त आतुर—आकुल हो रहा है; जैसे रासमण्डलसे भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर भाग्यवती प्रेममयी व्रजांगनाएँ।

जिज्ञासु—इस प्रकार अत्यन्त आर्तभाव आनेपर 'जिज्ञासा' अपने-आप जाग्रत् होती है—जैसे व्रजांगनाएँ व्याकुल होकर जड-चेतन, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता सभीसे अत्यन्त उत्सुकताके साथ भगवान्‌का पता पूछती हैं।

अर्थार्थी—जो किसी वस्तुके लिये इस प्रकारका जिज्ञासु होता है, वह उसी वस्तुको वास्तवमें 'एकमात्र अर्थ—परम अर्थ है'—ऐसा समझता है। अत: जिसके मनमें केवल भगवान् ही परम अर्थस्वरूप रह गये हैं और जो केवल उन्हींकी अनन्य कामना करता है—वही सच्चा 'अर्थार्थी' है। लौकिक तथा पारलौकिक भोग-सुखोंकी इच्छासे भजनेवाला नहीं।

ज्ञानी-समग्ररूप भगवान्‌के पुरुषोत्तम-तत्त्वको भलीभाँति जानकर विशुद्ध अनन्यप्रेमके द्वारा जो नित्य सर्वत्र उन्हींके दर्शन करता हुआ उनका भजन करता है, वह ज्ञानी है।

भगवदभिमुख होकर भगवान्‌के लिये ही अपने-अपने भावानुसार भगवान्‌का भजन करनेवाले होनेके कारण ये सभी उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त परमोत्तम गतिस्वरूप मुझ भगवान्‌में ही अच्छी प्रकार स्थित है॥ १८॥ बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें (पराभक्ति-परायण ज्ञानकी परानिष्ठाको प्राप्त) ज्ञानी भक्त मुझ भगवान्‌को इस प्रकार भजता है कि सब कुछ वासुदेव ही हैं। (इनमें परम श्रेयकी भावनावालेको विश्वरूप—सर्वत्र व्यापक वासुदेव—ब्रह्मका अनुभव होता है और परम प्रेमभाववाले ज्ञानी भक्तको, जहाँ उसके नेत्र जाते हैं, वहीं अपने परम प्रेष्ठ भगवान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण दिखायी देते हैं। ऐसे महात्मा जगत्‌का अभाव नहीं देखते—जगत्‌को सर्वत्र सर्वथा एकमात्र भगवान्‌से ही परिपूर्ण देखते हैं—सर्वत्र भगवान्‌को ही अभिव्यक्त पाते हैं।) ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥ १९॥

अन्य देवताओंकी उपासना

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥ २२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर (कामना-सिद्धिके लिये उपयोगी) उस-उस नियमको धारण करके अन्य (मेरे ही अंग-स्वरूप)

देवताओंको भजते हैं॥ २०॥ जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी (मेरे अंगस्वरूप) देवताके प्रति स्थिर कर देता हूँ॥ २१॥ वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरे ही द्वारा विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है॥ २२॥ परंतु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् होता है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं; परंतु मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें—अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ २३॥

भगवान्‌के प्रभाव और स्वरूपको न जाननेवालेकी निन्दा और जाननेवालेकी महिमा

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानते

हुए, मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह भगवत्स्वरूपको मनुष्यकी भाँति जन्म लेकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं॥ २४॥ क्योंकि अपनी योगमायासे* समावृत मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता (मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है)॥ २५॥ अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परंतु मुझको कोई भी (श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष) नहीं जानता॥ २६॥ क्योंकि भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न, सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं॥ २७॥ परंतु निष्कामभावसे पवित्र कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे (राग-द्वेषजनित) द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब

---

* भगवान्‌की अचिन्त्यानिर्वचनीय महामाया-शक्तिका ही अन्यतम प्रमुख रूप 'योगमाया' है। यह चिन्मय भगवान्‌की अचिन्त्य अन्तरंगा चिच्छक्ति है। इसे 'विशुद्धसत्त्व' की ही एक विशेष परिणति समझना चाहिये।

प्रपंचका सृजन तथा जीवको मोहसे बलात् ढकनेवाली शक्ति 'माया' है और भगवान्‌को उनके इच्छानुसार ढकनेवाली उनकी लीलास्वरूप शक्ति 'योगमाया' है। इसी योगमायाको भगवान्‌ने अपने अवतार-प्रसंगमें 'आत्ममाया' (४। ६) कहा है। वह योगमाया सहज ही 'अघटन घटना' सम्पन्न करती है। महान्‌को क्षुद्र, सर्वज्ञको अल्पज्ञ, सर्वव्यापीको एकदेशीय, अजन्माको जन्म लेनेवाला, अविनाशीको तिरोहित होनेवाला, सर्वलोकमहेश्वरको भक्तपराधीन और नित्यमुक्तको यशोदा मैयाके द्वारा बन्धन प्राप्त, नित्य निर्भय तथा नित्यानन्द-स्वरूपको मैया यशोदाके हाथमें छड़ी देखकर भययुक्त तथा रुदनपरायण तथा परम पूज्य एवं परम सेव्य सहज परम ऐश्वर्यस्वरूपको सर्वथा ढककर, माधुर्यस्वरूपमें प्रीति-स्नेहका पात्र बना देना—इस योगमायाका ही विलक्षण लीलाकार्य है। यह योगमाया भगवान्‌की नित्य स्वरूपाशक्ति है। इसीसे भगवान् सदा युगपत् परस्पर-विरोधी-गुणधर्माश्रयस्वरूप हैं।

प्रकारसे भजते हैं॥ २८॥ जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मोंको जानते हैं॥ २९॥ जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके तथा अधियज्ञके सहित (इन सबके रूपमें अभिव्यक्त) मुझको अन्तकालमें भी जान लेते हैं, वे युक्त चित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं—मुझको प्राप्त हो जाते हैं॥ ३०॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सप्तम अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३१)।

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टम अध्याय

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म आदिके सम्बन्धमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुनने पूछा—पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं?॥ १॥ मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? एवं युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

श्रीभगवान्ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप (जीवात्मा) 'अध्यात्म' नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावोंको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे कहा गया है॥ ३॥ क्षर (क्षयशील) सब पदार्थ अधिभूत है, हिरण्यमयपुरुष अधिदैव है और देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीरमें मैं 'वासुदेव' ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ॥ ४॥ जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे भावको—स्वरूपको प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है॥ ५॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है॥ ६॥ अतएव अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा॥ ७॥

भगवान्की महत्ता और भक्तिके द्वारा भगवान्की प्राप्ति

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

पार्थ! यह नियम है कि भगवान्‌के ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य परम पुरुष परमेश्वरको ही प्राप्त होता है॥ ८॥ जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी

प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमेश्वरको ही प्राप्त होता है॥ ९-१०॥ वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पदको 'अक्षर' अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्मागण जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परम पदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं; उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा॥ ११॥ सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा स्मरण करता हुआ, शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है॥ १२-१३॥ अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमका स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ (उसे अनायास ही प्राप्त हो जाता हूँ)॥ १४॥ परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं अनित्य पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते॥ १५॥ अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु कुन्तीपुत्र! मुझे प्राप्त कर लेनेपर फिर जन्म नहीं होता (क्योंकि मैं कालातीत नित्य हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेके कारण अनित्य हैं)॥ १६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम॥ २१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

ब्रह्माका जो एक दिन है उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं॥ १७॥ ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे सम्पूर्ण चराचर भूतगण उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं॥ १८॥ पार्थ! वही यह भूत समुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है॥ १९॥ उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता॥ २०॥ जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है॥ २१॥ पार्थ! जिसके अन्तर्गत समस्त भूत हैं और जिससे यह सब जगत् व्याप्त—परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य-भक्तिसे ही प्राप्त करनेयोग्य है॥ २२॥

शुक्ल और कृष्ण-मार्गका वर्णन

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

अर्जुन! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन वापस न लौटनेवाली गतिको एवं जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको (दोनों मार्गोंको) अब मैं तुझे बतलाता हूँ॥ २३॥ जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ २४॥ जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्ण पक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें गया हुआ सकाम

कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंके द्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आता है॥ २५॥ क्योंकि जगत्‌के ये दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण—देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता उस परमगतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ फिर लौट आता है (जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है)॥ २६॥ पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इसलिये अर्जुन! तू सब कालमें योगसे युक्त हो—निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये मुझसे जुड़ा रह॥ २७॥ योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर, वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल बताया गया है—उस सबको निःसंदेह उल्लंघन कर जाता है (उनसे आगे बढ़कर आद्य सनातन परमपदको प्राप्त होता है)॥ २८॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'अक्षरब्रह्मयोग' नामक अष्टम अध्याय (महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३२)।

श्रीमद्भगवद्गीता

नवम अध्याय

ज्ञान, विज्ञान और जगत्‌की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्भक्तिकी महिमाका वर्णन

प्रभावसहित भगवान्‌के परम गुह्य ज्ञानका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

श्रीभगवान् बोले—तुम (मुझमें तथा मेरे भक्तोंमें) असूया-

रहित* (दोषदृष्टिरहित) भक्तके लिये इस 'गुह्यतम' (परम गोपनीय) विज्ञान (समग्र भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके ज्ञान)-सहित (ब्रह्म) ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू समस्त अशुभसे मुक्त हो जायगा॥ १॥ यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है (समग्र भगवान्के स्वरूपको बतानेवाली 'राजविद्या' और उसकी प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन 'राजगुह्य'—गुह्यतम है)॥ २॥ परंतप! इस धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं॥ ३॥ मुझ अव्यक्त मूर्ति (मेरे निराकार व्यापकस्वरूप)-से यह सब जगत् (जलसे बरफके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधारपर स्थित हैं; किंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ॥ ४॥ वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है (भगवान् नित्य परस्पर-विरोधी गुणधर्माश्रय हैं। अतः ऐसा होना सर्वथा सुसंगत है। यही भगवत्स्वरूप है)॥ ५॥ जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान॥ ६॥

* १८वें अध्यायमें भी भगवान्ने अपनेमें असूया रखनेवाले (भगवान्में दोषदृष्टि करनेवाले) अभक्तको गुह्यतम—परम गोपनीय तत्त्व बतलानेसे मना किया है और भक्तोंमें ही उसके प्रचारकी आज्ञा दी है। ('न च मां योऽभ्यसूयति', 'य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति')। (१८। ६७-६८)

जगत्की उत्पत्तिका रहस्य

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥ १०॥

अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर उत्पन्न करता हूँ॥ ७॥ प्रकृतिके बलसे विवश हुए इस समस्त भूतसमुदायको मैं अपनी प्रकृतिको अपने वशमें करके उनके कर्मानुसार बार-बार रचना करता हूँ॥ ८॥ अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझको वे कर्म नहीं बाँधते॥ ९॥ अर्जुन! मुझ अध्यक्षके द्वारा प्रेरित प्रकृति चराचरसहित समस्त जगत्को उत्पन्न करती है और इसी हेतुसे यह संसारचक्र घूम रहा है॥ १०॥

भगवान्का तिरस्कार करनेवाले असुर-मानवोंकी निन्दा और दैवी प्रकृतिवालोंके भजनका प्रकार

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

मेरे परमभाव नित्य सच्चिदानन्दविग्रह भगवत्स्वरूपको न जाननेवाले मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ—साधारण मनुष्य समझते हैं॥ ११॥ वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी (क्रोध, लोभ और कामरूप) प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं॥ १२॥ परंतु कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका आदि और अविनाशी कारण जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं॥ १३॥ वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरा (मेरे नाम, लीला एवं गुणोंका) कीर्तन करते हुए तथा भलीभाँति यत्न करते हुए और मुझको बार-बार नमस्कार करते हुए, मुझसे जुड़े रहकर भक्तिसे (अनन्यप्रेमसे) मेरी उपासना करते हैं॥ १४॥ दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य विभिन्न प्रकारसे अभिव्यक्त मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक्भावसे उपासना करते हैं॥ १५॥

सर्वात्मरूपसे प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका वर्णन

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ॥ १६॥ मैं ही इस समस्त जगत्का माता, पिता, धाता (धारण करनेवाला) पितामह हूँ और मैं ही जाननेयोग्य, पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद भी हूँ॥ १७॥ मैं ही गति (प्राप्त होनेयोग्य परमधाम), भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी बीज हूँ॥ १८॥ मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु तथा सत्-असत् भी मैं हूँ॥ १९॥

सकाम और निष्काम उपासनाके विभिन्न फल

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ २०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरस पीनेवाले, पापरहित पुरुष मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं (पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं)॥ २०-२१॥ किन्तु जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्ययुक्त (नित्य-निरन्तर भजन-परायण रहनेवाले) पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ (उनके लिये अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तके संरक्षणका सारा भार मैं ही वहन करता हूँ)॥ २२॥ अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे (मेरे ही अंगरूप) देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक) है॥ २३॥ क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे उनका पतन होता है (वे पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं)॥ २४॥ देवताओंको

पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ २५॥

सर्वार्पणरूपा निष्काम भक्तिकी महिमा

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

जो कोई भी भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं प्रीतिसहित खाता हूँ॥ २६॥ अर्जुन! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन

करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर॥ २७॥ (इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं) ऐसे संन्यास (समर्पण)-योगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा। २८॥ मैं सब भूतोंमें सम हूँ। न कोई मेरा द्वेषका पात्र है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ॥ २९॥ यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा अनन्यभक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। कुन्तीपुत्र अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता (उसका अपनी स्थितिसे कभी पतन नहीं होता)॥ ३०-३१॥ अर्जुन! मेरे शरण होनेपर स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (चाण्डालादि) कोई भी हों, वे सब परम गतिको ही प्राप्त होते हैं॥ ३२॥ फिर जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्त हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है। इसलिये तू इस सुखरहित और क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर*॥ ३३॥ मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और

* भगवान् ही परम गति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं— ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, उनके नाम-रूप-गुण-प्रभाव-लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको नित्य निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार अपनेको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा (भगवान्‌की प्रत्यक्ष सेवाका यह परम साधन 'गुह्यतम' है। इसीको आगे चलकर १८ वें अध्यायके अन्तमें और भी विशद तथा स्पष्टरूपसे 'सर्वगुह्यतम' नामसे कहा गया है) ॥ ३४ ॥

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—'राजविद्या राजगुह्य' नामक नवम अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३३)

श्रीमद्भगवद्गीता

दशम अध्याय

भगवान्‌की विभूति, योगशक्ति तथा प्रभावसहित भक्ति-योगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌के द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

भगवान्‌की विभूति और योगशक्ति तथा उनके जाननेका फल

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो! फिर तू मेरे श्रेष्ठ (परम

रहस्य और प्रभावयुक्त) वचनको सुन, जो मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये तेरे हितकी कामनासे कहूँगा॥ १॥ लीलासे ही मेरे प्रकट होनेको (अथवा मेरे प्रभावको) न देवतागण जानते हैं और न महर्षिजन ही; क्योंकि मैं देवताओंका और महर्षियोंका भी सब प्रकारसे आदिकारण हूँ॥ २॥ जो मुझ (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण)-को अजन्मा, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥ बुद्धि, ज्ञान, मोहहीनता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह, सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अकीर्ति— प्राणियोंके ये नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं॥ ४-५॥ सात महर्षि, उनसे भी पूर्व होनेवाले चार सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मुझमें भाववाले सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें उत्पन्न यह सारी प्रजा है॥ ६॥ जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ७॥

फल और प्रभावसहित भक्तियोग

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥
मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही समस्त जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर भावसमन्वित बुद्धिमान् भक्त मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं॥ ८॥ निरन्तर मुझमें मन लगाये रखनेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी चर्चाके द्वारा परस्पर मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण-प्रभावसहित नित्य मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं॥ ९॥ उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ १०॥ अर्जुन! उनपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ॥ ११॥

अर्जुनके द्वारा श्रीकृष्णकी महत्ताज्ञापनपूर्वक स्तुति और विभूति तथा योगैश्वर्य वर्णनके लिये प्रार्थना

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

इसपर अर्जुनने कहा—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; आपको सब ऋषिगण और देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासजी, सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी बतलाते हैं और स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं॥ १२-१३॥ केशव! आप जो कुछ भी मुझसे कहते हैं, इन सबको मैं सत्य (तत्त्व) मानता हूँ। भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो देवता जानते हैं, न दानव ही॥ १४॥ हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! भूतोंके ईश्वर! देवोंके देव! जगत्‌के स्वामी पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं॥ १५॥ इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको पूरा-पूरा बतलानेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंद्वारा इन लोकोंको व्याप्त करके आप स्थित हैं॥ १६॥ योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर आपका चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन किये जानेके योग्य हैं॥ १७॥ जनार्दन! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर विस्तारपूर्वक बतलाइये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है॥ १८॥

श्रीकृष्णके द्वारा अपनी विविध विभूतियोंका और योगशक्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—कुरुश्रेष्ठ! अब मैं अपनी प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियोंको तेरे प्रति कहूँगा; क्योंकि मेरे

विस्तारका अन्त नहीं है॥ १९॥ अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा मैं हूँ और मैं ही सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी हूँ॥ २०॥ मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु, ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य, मरुतोंमें मरीचि—उनचास वायु देवताओंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ॥ २१॥ मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना (जीवनीशक्ति) हूँ॥ २२॥ मैं एकादश रुद्रोंमें शंकर और यक्ष-राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओंमें पावक (अग्नि) और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु हूँ॥ २३॥ पार्थ! पुरोहितोंमें प्रमुख बृहस्पति तू मुझको जान! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र हूँ॥ २४॥ मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर (प्रणव—ओंकार) हूँ। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय हूँ॥ २५॥ मैं सब वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ॥ २६॥ घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा तू मुझको जान॥ २७॥ मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ। शास्त्रोक्त रीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ॥ २८॥ मैं नागोंमें शेषनाग और जलचरोंका अधिपति वरुण देवता हूँ। पितरोंमें अर्यमा तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ॥ २९॥ मैं दैत्योंमें प्रह्लाद, गणना करनेवालोंका समय, पशुओंमें मृगराज सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ॥ ३०॥ मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम हूँ। मछलियोंमें मगर और नदियोंमें जाह्नवी—श्रीगंगाजी हूँ॥ ३१॥ अर्जुन! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या)

और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ॥ ३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥
यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें 'द्वन्द्व' नामक समास हूँ। मैं ही अक्षयकाल (कालका भी महाकाल) तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप और सबका धारण-पोषण करनेवाला हूँ॥ ३३॥ मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न

होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु हूँ। नारियोंमें मैं कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ॥ ३४॥ मैं गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त हूँ॥ ३५॥ मैं छल करनेवालोंमें जूआ, तेजस्वी पुरुषोंका तेज, जीतनेवालोंकी विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सत्त्वशीलोंका सत्त्व हूँ॥ ३६॥ मैं वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव (वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण स्वयं तेरा सखा), पाण्डवोंमें (तू) धनंजय हूँ। मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें उशना कवि (शुक्राचार्य) भी मैं ही हूँ॥ ३७॥ मैं दमन करनेवालोंमें दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखनेयोग्य भावोंका रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ॥ ३८॥ और अर्जुन! जो भी सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह सब मैं ही हूँ; ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मेरे बिना हो॥ ३९॥ परंतप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तुझे संक्षेपसे कहा है॥ ४०॥ जो-जो भी विभूतियुक्त (ऐश्वर्ययुक्त)-कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान॥ ४१॥ अथवा अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ॥ ४२॥

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३४)

श्रीमद्भगवद्गीता

एकादश अध्याय

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनके द्वारा भगवान्के विश्वरूपका दर्शन, भयभीत अर्जुनके द्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्के द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और अनन्य-भक्तिसे ही भगवान्की प्राप्तिका कथन

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन कहा, उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है॥ १॥ क्योंकि कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है॥ २॥ परमेश्वर! आप अपनेको जैसा बतलाते हैं, यह ठीक वैसा ही है, परंतु पुरुषोत्तम! आपके (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति,

बल, वीर्य और तेजसे युक्त) ऐश्वर रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ॥ ३॥ प्रभो! यदि मेरे द्वारा आपका वह ऐश्वर रूप देखा जाना सम्भव है—आप ऐसा मानते हैं, तो योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूपके मुझे दर्शन कराइये॥ ४॥

भगवान्‌के द्वारा विश्वरूपका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके, नाना वर्ण और नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख॥ ५॥ भरतवंशी अर्जुन! मुझमें (बारहों) आदित्यों, (आठों) वसुओं, (एकादश) रुद्रों, (दोनों) अश्विनीकुमारों और (उनचास) मरुद्‌गणोंको देख तथा और भी बहुत-से (पहले) न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख॥ ६॥ गुडाकेश अर्जुन! अब इस मेरे शरीरमें एक ही देशमें स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो सब देख॥ ७॥ परंतु मुझको तू इन अपने (प्राकृत) नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता है। अतएव मैं तुझे दिव्य (अप्राकृत) चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरे ऐश्वर-योग (ईश्वरीय योगशक्ति)-को देख॥ ८॥

धृतराष्ट्रके प्रति संजयके द्वारा विश्वरूपका वर्णन

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

संजय बोले—राजन्! इस प्रकार कहनेके अनन्तर महायोगेश्वर और सब पापोंके हरण करनेवाले भगवान्‌ने अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया॥ ९॥ अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले बहुत-से दिव्य आभूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए, दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेपन किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा॥ १०-११॥ आकाशमें सहस्र सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप भगवान्‌के प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो॥ १२॥ पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण

जगत्को देवोंके देव (श्रीकृष्णभगवान्-) के शरीरमें एक देशमें स्थित देखा॥ १३॥ तब विस्मयमें भरे हुए वे पुलकित-शरीर अर्जुन (उन) प्रकाशमय विश्वरूप श्रीकृष्णको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—॥ १४॥

अर्जुनके द्वारा विश्वरूपके दर्शन और विश्वरूपका स्तवन

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

अर्जुन बोले—देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको, अनेक भूतोंके विभिन्न समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और समस्त ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ॥ १५॥ सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको मैं अनेक भुजा, उदर, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। विश्वरूप! मैं न आपके अन्तको देख पाता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही॥ १६॥ आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त तथा सब ओरसे देदीप्यमान तेजके पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयरूप देख रहा हूँ॥ १७॥ आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (परब्रह्म परमात्मा) हैं, आप ही इस विश्वके परम निधान हैं, आप ही शाश्वत धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है॥ १८॥ आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त

सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस विश्वको तपाते हुए देख रहा हूँ॥ १९॥ महात्मन्! यह द्युलोक और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सारी दिशाएँ एक आपसे ही व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं॥ २०॥ ये देवताओंके समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका गान कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपका स्तवन कर रहे हैं॥ २१॥ जो (ग्यारह) रुद्र, (बारह) आदित्य, (आठ) वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनीकुमार तथा (उनचास) मरुद्गण, पितरोंका समुदाय, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सब-के-सब विस्मित होकर आपको देख रहे हैं॥ २२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जाँघ और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके

कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी अतिव्यथित हो रहा हूँ॥ २३॥ क्योंकि हे विष्णो! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुखों और प्रज्वलित विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्त:करणवाला मैं धैर्य और शान्ति नहीं पा रहा हूँ॥ २४॥ दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान ही रह गया है और न मैं शान्ति ही पा रहा हूँ। इसलिये हे देवेश! जगन्निवास! आप प्रसन्न हों॥ २५॥ वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, सूतपुत्र कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके विकराल भयानक दाढ़ोंवाले मुखोंमें बड़े वेगसे घुसे चले जा रहे हैं। कितने ही तो चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके दराजोंमें लगे दीख रहे हैं॥ २६-२७॥ जैसे नदियोंके बहुत-से जलप्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं (समुद्रमें प्रवेश करते हैं), वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतिंगे मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे प्रवेश कर रहे हैं॥ २८-२९॥ आप उन अपने प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं। विष्णो! आपका उग्र प्रकाश समस्त जगत्‌को अपने तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है॥ ३०॥ आप उग्ररूपवाले कौन हैं? यह मुझे बतलाइये। देवोंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आप आदिपुरुषको

मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको जान नहीं पा रहा हूँ॥ ३१॥

भगवान्‌के द्वारा लोकसंहारकारी अपने कालरूपका वर्णन और अर्जुनको युद्धके लिये उत्साह-प्रदान

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥
तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ और इस समय इन लोकोंका संहार करनेमें प्रवृत्त हूँ। अतएव प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित जो योद्धागण हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं बचेंगे (युद्धमें तेरे द्वारा न मारे जानेपर भी इन सबका नाश हो जायगा)॥ ३२॥ अतएव तू उठ! शत्रुओंको जीतकर यश प्राप्त कर और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग। ये सब शूरवीर पहलेसे ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा॥ ३३॥ द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा (पहलेसे) मारे

हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार। भय मत कर। निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको निश्चय ही जीतेगा। अतएव युद्ध कर॥ ३४॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

संजय बोले—केशवभगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपते हुए नमस्कार करके और अत्यन्त डरते-डरते पुनः प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद-वाणीसे बोले— ॥ ३५॥

भयभीत अर्जुनके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और चतुर्भुज-रूप प्रकट करनेके लिये प्रार्थना

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत्॥ ३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

अर्जुन बोले—इन्द्रियोंके स्वामी अन्तर्यामी भगवन्! यह उचित ही है जो आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे समस्त जगत् अति हर्षित है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा राक्षसलोग भयभीत होकर दिशाओंमें भाग रहे हैं एवं सब सिद्धोंके समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं॥ ३६॥ महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे श्रेष्ठ आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि अनन्त! देवेश! जगन्निवास! जो सत्, असत् और उससे भी परे (पुरुषोत्तम) है, वह आप ही हैं॥ ३७॥ आप आदिदेव और पुरातन पुरुष हैं; इस जगत्के परम निधान और जाननेवाले, जाननेयोग्य तथा परमधाम हैं। अनन्तरूप! आपसे यह समस्त विश्व व्याप्त (परिपूर्ण) है॥ ३८॥ आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके प्रति सहस्र-सहस्र नमस्कार! नमस्कार!! आपके प्रति पुनः बार-बार नमस्कार! नमस्कार!!॥ ३९॥ अनन्त सामर्थ्यवाले! आपको आगेसे तथा पीछेसे भी नमस्कार! सर्वात्मन्! आपको सभी ओरसे नमस्कार हो; अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसारको व्याप्त किये हुए हैं; इससे आप ही सर्वरूप हैं॥ ४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

आपकी इस महिमाको न जाननेवाले मुझ मूढ़के द्वारा—'आप मेरे सखा हैं'—ऐसा मानकर प्रेमवश या प्रमादसे जो 'हे यादव!

हे कृष्ण! हे सखे'—इस प्रकार अविनयपूर्वक बिना सोचे-समझे कहा गया है और अच्युत! परिहास (विनोद)-के लिये चलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय अकेलेमें अथवा उन सखाओंके सामने आप जो तिरस्कृत किये गये हैं, वह सारा अपराध आप अप्रमेयस्वरूप (अचिन्त्य महिमामय) परमेश्वरसे मैं क्षमा करवाता हूँ॥ ४१-४२॥ आप इस चराचर लोकके पिता और सबसे बड़े गुरु एवं परम पूजनीय हैं, अनुपम प्रभावशाली! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है (फिर आपसे) बढ़कर तो कैसे हो सकता है?॥ ४३॥ अतएव प्रभो! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और स्वामी जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—क्षमा करते हैं—वैसे ही आपको भी मेरे अपराध सहन (क्षमा) करने उचित हैं॥ ४४॥ पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ; परंतु साथ ही मेरा मन भयसे अत्यन्त व्यथित भी हो रहा है। इसलिये आप उस अपने चतुर्भुजरूपको ही मुझे दिखलाइये। देवेश! जगन्निवास! प्रसन्न होइये॥ ४५॥ मैं आपको वैसे ही मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ। विश्वरूप! सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुज-रूपसे प्रकट होइये॥ ४६॥

भगवान्‌के द्वारा अपने स्वरूपदर्शनकी महिमाका कथन और चतुर्भुज सौम्य रूपके दर्शन कराना

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! प्रसन्न हुए मुझ परमेश्वरके द्वारा आत्मयोगसे—अपनी योगशक्तिके प्रभावसे तुझको यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित वह विराट्रूप दिखलाया गया है, जो तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीके द्वारा पहले नहीं देखा गया था॥ ४७॥ कुरुकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेदसे, न यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानोंसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ॥ ४८॥ मेरे इस प्रकारके इस घोर रूपको देखकर तुझको व्यथित और मूढ़भावापन्न नहीं होना चाहिये। तू भय छोड़कर, प्रेमभरे मनसे पुनः मेरे उसी चतुर्भुज-रूपको फिर देख॥ ४९॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय बोले—वासुदेवभगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूपको दिखलाया। इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य विग्रह होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया॥ ५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—जनार्दन! आपके इस परम सौम्य मनुष्यरूपको देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृति (स्वाभाविक स्थिति-) को प्राप्त हो गया हूँ॥ ५१॥

अनन्यभक्तिसे ही भगवान्‌के दर्शन, ज्ञान तथा उनमें प्रवेशकी योग्यताका और अनन्यभक्तिके स्वरूपका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है (इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं)। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकांक्षा करते रहते हैं॥ ५२॥ जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है— उस प्रकार मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ॥ ५३॥ परंतु परंतप अर्जुन! अनन्य-

भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये भी शक्य हूँ॥ ५४॥ अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही कर्म करनेवाला है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह (अनन्यभक्तियुक्त) पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है* ॥ ५५॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक एकादश अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३५)

---

* (१) कर्म करके भगवान्‌के अर्पण करना (तत्कुरुष्व मदर्पणम् ९। २५), (२) भगवान्‌के ही लिये कर्म करना (मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि—१२। १०) और (३) भगवान्‌के ही कर्म करना—इनमें पहले दोनोंमें भी उसके कर्म भगवान्‌के ही अर्पण होते हैं। परंतु इस तीसरेमें तो उसके अपने कर्म कुछ रह ही नहीं गये हैं। वह भगवान्‌रूप यन्त्रीके संचालनसे यन्त्रकी भाँति भगवान्‌के ही कर्म करता है—'मत्कर्मकृत्' से यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

'मत्परमः' से यह भाव प्रतीत होता है कि भगवान् ही जिसके परम गति, परम प्रियतम, परम आश्रय, परम धन, परम साध्य और परम साधन भी हैं। जो भगवान्‌के सिवा किसीसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता।

ऐसा 'भगवत्कर्मकृत्' और 'भगवत्परायण' पुरुष ही सच्चे अर्थमें भगवान्‌का 'अनन्यभक्त' होता है और फिर उसका सर्वत्र सर्वथा आसक्तिशून्य तथा प्राणिमात्रमें वैरभावसे रहित होना तो स्वाभाविक ही है, पर राग-द्वेषके रहते कोई भूलसे यह न मान ले कि 'मैं भगवत्कर्मी और भगवत्परायण भक्त हूँ—इसलिये भी उसमें राग-द्वेषका अभाव बतलाया जाना सर्वथा युक्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वादश अध्याय

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका वर्णन एवं भगवत्प्राप्त भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप दिव्य मंगलविग्रह साकार सगुणस्वरूप भगवान्‌को और दूसरे जो केवल अक्षर सच्चिदानन्दघन अव्यक्त ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठभावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥ १॥

दिव्य-मंगलविग्रह भगवान् और अव्यक्त अक्षरके उपासकोंकी श्रेष्ठताका निर्णय

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ दिव्य साकारसगुणस्वरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २॥ परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भलीभाँति वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अचिन्त्यस्वरूप और कूटस्थ, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर अभिन्नभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समानभाववाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ ३-४॥ उन अव्यक्त निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवालोंके क्लेश अधिकतर हैं; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है*॥ ५॥ परंतु जो भक्त सम्पूर्ण कर्मोंका मुझमें संन्यास (पूर्ण समर्पण) करके, मेरे परायण, (मुझको ही अनन्यगति, अनन्यप्रियतम, अनन्यसाध्य और अनन्यसाधन माननेवाले) होकर, अनन्यभक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझको ही भजते हैं; अर्जुन! उन मुझमें आविष्टचित्त प्रेमी भक्तोंका मृत्युरूप संसारसागरसे मैं शीघ्र ही समुद्धार (भलीभाँति पार) करनेवाला होता हूँ (उन्हें अपने साधन-

* भगवान्‌का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो इस प्रकारके साधन सम्पन्न हो तो वे भी मुझको ही प्राप्त होते हैं, पर वे मेरे ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्नता प्राप्त करते हैं। मुझ दिव्य साकार सगुण मंगलविग्रहकी सेवा उन्हें नहीं प्राप्त होती और उनकी इस सफलताका दायित्व भी उन्हींपर है, मैं उन्हें संसार सागरसे पार नहीं करता।

बलपर प्रयास करके—तैरकर संसारसमुद्र पार नहीं करना पड़ता। मैं अखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-निधि स्वयं अपने साथ उन्हें सुखमय सुदृढ़ कृपापोतपर चढ़ाकर तुरंत ही पार उतार देता हूँ) ॥ ६-७ ॥

भगवत्प्राप्तिका उपाय

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२ ॥

अतः तू मुझमें मन लगा और मुझमें ही बुद्धि लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ८ ॥ यदि तू चित्तको मुझमें स्थिरतापूर्वक स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है तो अर्जुन! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर॥ ९ ॥ यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा॥ १० ॥ यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त (मदर्थकर्मरूप) साधन करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करके समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर॥ ११ ॥ (मर्मको न समझकर किये

हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे (मुझ भगवान्‌के स्वरूपका) ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है॥ १२॥

भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ १७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥ १९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका ही स्वार्थरहित मित्र और हेतुरहित दयालु, ममता और अहंकारसे रहित, दुःख-सुखोंकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील (अपराध करनेवालोंका भी कल्याण करनेवाला), योगी, निरन्तर संतुष्ट, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह

मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है॥ १३-१४॥ जिससे किसी जीवको उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवके द्वारा उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है॥ १५॥ जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, दक्ष, उदासीन—पक्षपातसे रहित और व्यथाओंसे मुक्त है, वह (अपने लिये) सारे आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है॥ १६॥ जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न आकांक्षा करता है तथा जो शुभ-अशुभ (दोनों प्रकारके) सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है; वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है॥ १७॥ जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है, सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है, आसक्तिसे रहित है, निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, मौन (मननशील) है, जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा संतुष्ट है और घरमें (रहनेके स्थानमें) ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है॥ १८-१९॥ परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस उपर्युक्त धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं॥ २०॥

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३६)

श्रीमद्भगवद्गीता

त्रयोदश अध्याय

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥
तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु॥ ३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

श्रीभगवान् बोले—कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'—इस नामसे कहा जाता है और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'—इस नामसे इनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं॥ १॥ अर्जुन! सब क्षेत्रोंमें तू क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जान और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका (विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका) जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है॥ २॥ वह क्षेत्र जो और जैसा है

तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है— वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन॥ ३॥ (यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व) ऋषियोंके द्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंके द्वारा भी विभागपूर्वक बतलाया गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है॥ ४॥ (पाँच) महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति— इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें बतलाया गया॥ ५-६॥

साधन-ज्ञान

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा (किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना), क्षमा, मन-वाणीकी सरलता, (श्रद्धा-भक्तिसहित) आचार्यसेवा, (बाहर-भीतरकी) शुद्धि,

(अन्तःकरणकी) स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इन्द्रियोंके भोगोंमें वैराग्य और अहंकारहीनता, जन्म-मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) एवं रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार देखना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें अनासक्ति, ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ भगवान्‌में अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त जन-समुदायमें अप्रीति, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसा कहा है॥ ७—११ ॥

ज्ञेयस्वरूप परमात्माके स्वरूपका वर्णन और उसके ज्ञानसे भक्तको भगवद्भावकी प्राप्ति

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते॥ १२॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

जो ज्ञेय (जाननेयोग्य) है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) अमृतत्वको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिमत्* परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है; न असत् ही॥ १२॥ वह सब ओर हाथ, पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥ १३॥ वह सब इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु सब इन्द्रियोंसे रहित है, आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है॥ १४॥ वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है; तथा वह अति समीप भी है और दूरमें भी स्थित है॥ १५॥ वह परमात्मा

---

* इस श्लोकमें आये हुए 'अनादिमत् परम्' का कुछ आचार्योंने 'अनादि' 'मत्परम्' के रूपमें पदच्छेद किया है। अर्वाचीन ही नहीं, प्रातःस्मरणीय भाष्यकार आचार्य श्रीशंकराचार्यके गीताभाष्य लिखते समय सम्भवतः उनके सामने भी गीताकी ऐसी कई टीकाएँ वर्तमान थीं, जिनमें 'अनादि' 'मत्परम्' पदच्छेद करके उसका यह अर्थ किया गया था कि 'मैं वासुदेव कृष्ण ही जिसकी शक्ति हूँ, वह ज्ञेय मत्परम् है।'

भगवान् शंकराचार्यके शब्द ये हैं—'अत्र केचिद् अनादि मत्परम् इति पदं छिन्दन्ति······ अर्थविशेषं च दर्शयन्ति 'अहं वासुदेवाख्या पराशक्तिः यस्य तद् मत्परम्' इति·······'

'मत्परम्' पदच्छेद करनेसे ये अर्थ भी होते हैं—'ब्रह्म मेरी ही एक परम सत्ता है।' 'मैं ब्रह्मका आश्रय हूँ।' आदि। और ज्ञेय तत्त्वके जाननेके बाद इसी भगवद्भाव (भगवत्स्वरूप)-की प्राप्ति होती है। गीता चतुर्दश अध्यायमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' से भी यही अर्थ निकलता है।

विभागरहित होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है तथा वह ज्ञेय (जाननेयोग्य परमात्मा) सब भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला, संहार करनेवाला तथा सबको उत्पन्न करनेवाला है॥ १६॥ वह ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य (तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य) है और सबके हृदयमें स्थित है॥ १७॥ इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त होता है॥ १८॥

परमात्माके ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका वर्णन

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान और सब विकारोंको तथा त्रिगुणोंको प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान॥ १९॥ कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें (भोगनेमें) हेतु पुरुष (जीवात्मा) कहा जाता है॥ २०॥ प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है (यह प्रकृतिस्थ पुरुष ही जीवात्मा है)॥ २१॥ इस देहमें स्थित परमपुरुष साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, सबका महान् ईश्वर होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है—ऐसा कहा गया है॥ २२॥ इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य-कर्म करता हुआ भी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता॥ २३॥ उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो (शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे) ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं॥ २४॥ दूसरे, इस प्रकार न जानते हुए (कितने ही) दूसरोंसे (तत्त्वको जाननेवालोंसे) सुनकर ही उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निश्चय ही तर जाते हैं॥ २५॥ अर्जुन! जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान॥ २६॥ जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही (यथार्थ) देखता है॥ २७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, तभी वह परमगतिको प्राप्त होता है॥ २८॥ जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही (यथार्थ) देखता है॥ २९॥ जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक (परमात्मा)-में ही स्थित तथा उस (परमात्मा)-से ही सम्पूर्ण भूतोंके विस्तारको देखता है, उसी क्षण वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है॥ ३०॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन! अनादि और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है॥ ३१॥ जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें

सर्वत्र स्थित आत्मा (निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे) लिप्त नहीं होता॥ ३२॥ अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है॥ ३३॥ इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंके द्वारा तत्त्वसे जान लेते हैं, वे परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं॥ ३४॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक त्रयोदश अध्याय

(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३७)

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्दश अध्याय

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व-रज-तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके साधनका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

ज्ञानकी महिमा

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें अति उत्तम परम ज्ञानको मैं फिर कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं॥ १॥ इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे साधर्म्यको प्राप्त हुए पुरुष न तो सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें व्यथित होते हैं॥ २॥

प्रकृति माता, भगवान् पिता

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

भारत! मेरी महद्-ब्रह्मरूप मूल-प्रकृति योनि है। मैं उसमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ। उस (जड़-चेतनके संयोग)-से सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है॥ ३॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन!

सब योनियोंमें नाना प्रकारकी जितनी मूर्तियाँ (शरीरधारी प्राणी) उत्पन्न होती हैं, प्रकृति उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ॥ ४॥

सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंके विभिन्न परिणाम

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

अर्जुन! प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण— ये तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको देहमें बाँध लेते हैं॥ ५॥ निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और विकाररहित है; वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है॥ ६॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन! रागात्मक रजोगुणको तृष्णा और आसक्तिसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको कर्मोंके (और उनके फलके) सम्बन्धसे बाँधता है॥ ७॥ अर्जुन! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तू अज्ञानसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है॥ ८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें, परंतु तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है॥ ९॥ अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण होता (बढ़ता) है॥ १०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है॥ ११॥ भरतश्रेष्ठ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशान्ति और भोग-स्पृहा—ये सब उत्पन्न होते हैं॥ १२॥ कुरुनन्दन! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति, प्रमाद (करनेयोग्य कार्य न करना और न करनेयोग्य कार्य करना) और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब उत्पन्न होते हैं॥ १३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥ १४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब वह उत्तम तत्त्वको जाननेवालोंके निर्मल दिव्य

लोकोंको प्राप्त होता है॥ १४॥ रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको प्राप्त होकर कर्मासक्त मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य पशु, कीट आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है॥ १५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

श्रेष्ठ कर्मका फल सात्त्विक (सुख, ज्ञान और वैराग्यादि-रूप) निर्मल होता है। राजस कर्मका फल दुःख और तामस कर्मका फल अज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है॥ १६॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे निश्चय ही लोभ एवं तमोगुणसे प्रमाद और मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है॥ १७॥ सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें (मनुष्यलोकमें) ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद तथा आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको (कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको) प्राप्त होते हैं॥ १८॥

भगवत्प्राप्तिके साधन

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २०॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको

कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे भावको प्राप्त होता है॥ १९॥ यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतत्वको प्राप्त होता है॥ २०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

अर्जुन बोले—प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है और वह कैसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है॥ २१॥

गुणातीत पुरुषके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाश, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्यरूप मोहके प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता है और निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा नहीं करता॥ २२॥ जो उदासीनके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही

गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता॥ २३॥ जो निरन्तर 'स्व'-आत्मामें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी-पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, धीर, प्रिय-अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है॥ २४॥ जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और शत्रुके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है; वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है॥ २५॥

भगवान् ही ब्रह्म आदिके आश्रय हैं

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है। (मेरे अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा भी गुणातीतावस्थाकी या ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है)॥ २६॥ क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही) हूँ॥ २७॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय
(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३८)

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चदश अध्याय

संसार-वृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

संसार-वृक्ष और भगवत्प्राप्तिके उपायका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥
न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम॥ ६॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

श्रीभगवान् बोले—ऊपर (आदिपुरुष परमेश्वररूप) मूलवाले और नीचे (ब्रह्मारूप मुख्य) शाखावाले जिस संसाररूपी पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं, वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस (संसाररूप वृक्ष)-को जो पुरुष (मूलसहित तत्त्वसे) जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है॥ १ ॥ उस संसार-वृक्षकी तीनों गुणों (-रूप जल)-के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं॥ २ ॥ इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे प्रतिष्ठा ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा काटकर फिर उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष भगवान्के मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका

मनन और निदिध्यासन करना चाहिये॥ ३-४॥ जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं॥ ५॥ जिसको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयं प्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम है॥ ६॥ इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही प्रकृतिमें स्थित इन मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है॥ ७॥

जीवात्माका स्वरूप तथा कार्य

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है॥ ८॥ यह जीवात्मा श्रोत्र, नेत्र, त्वचा और रसना, घ्राण तथा मनका आश्रय करके (इन सबके सहारेसे) ही विषयोंका

सेवन करता है॥ ९॥ शरीरको छोड़कर जाते हुएको, शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी मूढ़ अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं॥ १०॥ यत्न करनेवाले योगीजन अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे देखते हैं; किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इसको नहीं देख पाते॥ ११॥

प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

जो सूर्यमें स्थित तेज समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान॥ १२॥ मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसमय (अमृतमय) चन्द्रमा होकर सारी ओषधियोंको (वनस्पतियोंको) पुष्ट करता हूँ॥ १३॥ मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार

प्रकारके भोजनको पचाता हूँ॥ १४॥ मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें (अन्तर्यामीरूपसे) स्थित हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा मैं ही वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी हूँ॥ १५॥

क्षर और अक्षर

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो क्षर (नाशवान्) और जीवात्मा अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है॥ १६॥ इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकारसे कहा गया है॥ १७॥ क्योंकि मैं क्षर (नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे) तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी अक्षर—जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ॥ १८॥

श्रीकृष्ण—गुह्यतम पुरुषोत्तम तत्त्व

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

भारत! जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार मुझको (श्रीकृष्णको) ही पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव श्रीकृष्णको ही भजता है*॥ १९॥ निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह गुह्यतम (अति रहस्ययुक्त गोपनीय) शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतकृत्य हो जाता है॥ २०॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदश अध्याय (महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ३९)।

---

* जीवोंका विनाशी शरीर 'क्षर' है, कूटस्थ जीवात्मा 'अक्षर' है और क्षरसे अतीत एवं अक्षरसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' है, ऐसा अर्थ सर्वथा युक्तियुक्त है।

एक दूसरी दृष्टिसे इसका अर्थ यों किया जाता है कि प्रकृति-प्रसूत सर्वभूतमय जगत् 'क्षर' है, ब्रह्म 'अक्षर' है और इनसे क्रमशः अतीत और उत्तम 'पुरुषोत्तम' है।

'क्षर जगत्' गुणमय विकारी है। 'अक्षर ब्रह्म' निर्गुण निर्विकार निराकार है और 'पुरुषोत्तम' भौतिक आकाररहित, सर्वथा अविकार, अप्राकृत सच्चिद्घनाकार हैं—प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित, सच्चिन्मय, दिव्य गुणस्वरूप हैं। ये पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण हैं ('यो मामेवं जानाति पुरुषोत्तमम्'—जो मुझको ही 'पुरुषोत्तम' जानता है)। यही गुह्यतम तत्त्व है।

परमात्माका विनाशी भूतमय जगत्के रूपमें अभिव्यक्त होना रहस्यमय होनेके कारण यह 'क्षर' तत्त्व 'गुह्य' है, अक्षर परब्रह्म 'गुह्यतर' है ('ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया' १८। ६३) और इन दोनोंसे विलक्षण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका तत्त्व 'गुह्यतम' है। १८ वें अध्यायमें 'गुह्याद् गुह्यतरम्' तत्त्वके पश्चात् भगवान्ने इस 'गुह्यतम' तत्त्वका वर्णन किया है।

वहाँ भगवान्ने अपने एकान्त प्रिय भक्त अर्जुनको उसके हितार्थ इस गुह्यतम परम तत्त्वका विशेष विशदरूपसे स्पष्ट उपदेश किया है और सब धर्मोंका त्याग करके एकमात्र अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश देते हुए गीताके अन्तिम उपदेशके रूपमें 'सर्वगुह्यतम' के नामसे इसे बतलाया है।

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडश अध्याय

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंके त्याग और शास्त्रानुकूल आचरणके लिये प्रेरणा

दैवी सम्पदा

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तनरूप स्वाध्याय, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहनरूप तप और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता॥ १॥ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोध न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चंचलताका अभाव, किसीकी भी

निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव॥ २॥ तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—अर्जुन! ये सब गुण दैवी सम्पदामें उत्पन्न पुरुषमें होते हैं॥ ३॥

आसुरी सम्पदा तथा दैवी सम्पदाके फल

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥
दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

पार्थ! दम्भ, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये सब (दुर्गुण) आसुरी सम्पदामें उत्पन्न मनुष्यमें होते हैं॥ ४॥ दैवी सम्पदा मोक्षके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये मानी जाती है। इसलिये पाण्डुकुमार! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदामें उत्पन्न हुआ है॥ ५॥

आसुरी सम्पदा और उसके परिणाम

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ ८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

अर्जुन! इस लोकमें प्राणियोंकी सृष्टि (मनुष्यसमुदायकी श्रेणी) दो ही प्रकारकी है—एक तो दैवी और दूसरी आसुरी। उनमेंसे दैवी प्रकृति तो विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है; अब तू असुर-मानवोंकी प्रकृतिको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन॥ ६॥ आसुर स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते। इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य ही है॥ ७॥ वे (आसुर-मानव) कहा करते हैं कि जगत् सर्वथा असत्य, अप्रतिष्ठ (आश्रयरहित) और ईश्वररहित है। यह अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है। अतएव केवल काम ही इसका हेतु है। इसके सिवा और क्या हेतु है?॥ ८॥ इस प्रकारकी दृष्टिका अवलम्बन करके नष्ट (पतित) स्वभाव अन्तःकरण, मन्दबुद्धि, सबके अहितमें संलग्न, वे उग्र कर्म करनेवाले मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं॥ ९॥ वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञान—मोहसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहणकर एवं अशुद्ध आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं॥ १०॥ वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही परम पुरुषार्थ और परम सुख है'—इस प्रकार माननेवाले आसुर मनुष्य होते हैं॥ ११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

वे (आसुर-मानव) सैकड़ों आशाकी फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंके संचयकी चेष्टा किया करते हैं॥ १२॥ (वे सोचा करते हैं—)मैंने आज यह प्राप्त कर लिया और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और यह (धन) फिर मेरा हो जायगा॥ १३॥ वह शत्रु तो मेरे द्वारा मार डाला गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यका भोगनेवाला हूँ; मैं सिद्ध (सफलजीवन), बलवान् और सुखी हूँ॥ १४॥ मैं बड़ा धनी और कुटुम्बवाला (जन-नेता) हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें आसक्त आसुर मानव घोर अपवित्र नरकमें गिरते हैं॥ १५-१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी मानव धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा दम्भसे शास्त्रविधिरहित यज्ञक्रिया करते हैं॥ १७॥ वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी ईश्वरसे द्वेष करनेवाले होते हैं॥ १८॥ उन (मुझसे) द्वेष करनेवाले पापाचारी और निर्दय नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ॥ १९॥ अर्जुन! वे मूढ़लोग मुझको न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी और नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं (घोर नरकोंमें पड़ते हैं)॥ २०॥

शास्त्रविरुद्ध आसुरी आचरणोंके त्याग और शास्त्रानुकूल दैवी आचरणोंके सम्पादनके लिये प्रेरणा

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ २१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका पतन करनेवाले (उसको अधोगतिमें ले जानेवाले) हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये॥ २१॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको जाता है (मुझको प्राप्त होता है)॥ २२॥ जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न सुखको और न परम गतिको ही॥ २३॥ अतएव तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तुझे शास्त्रविधिके अनुसार नियत कर्म ही करना चाहिये॥ २४॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' नामक षोडश अध्याय
(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ४०)।

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तदश अध्याय

त्रिविध श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन; आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ तत् , सत्के प्रयोगकी व्याख्या

शास्त्रविधिरहित श्रद्धाके विषयमें अर्जुनका प्रश्न

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण! जो शास्त्रविधिको त्यागकर श्रद्धासे युक्त हुए पुरुष देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी?॥ १॥

त्रिविध श्रद्धा

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी (वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित) केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी होती है। उनको तू मुझसे सुन॥ २॥ भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप हुआ करती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है॥ ३॥

त्रिविध पूजा

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं, राजस यक्ष-राक्षसोंको तथा दूसरे तामस लोग प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं॥ ४॥

आसुरी घोर तप

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे विपरीत केवल मनःकल्पित घोर तप तपते हैं, वे दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलसमन्वित पुरुष शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले (क्लेश पहुँचानेवाले) हैं। उन अज्ञानियोंको तू असुर स्वभाववाले जान॥ ५-६॥

त्रिविध आहार

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

आहार भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है। (वैसे ही) यज्ञ, तप और दान

भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन॥ ७॥ आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय लगनेवाले आहार (भोजन करनेके पदार्थ) सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं॥ ८॥ कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, जलन उत्पन्न करनेवाले और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार (भोजन करनेके पदार्थ) राजस पुरुषको प्रिय होते हैं॥ ९॥ जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूँठा) तथा अपवित्र है वह भोजन तामस मनुष्यको प्रिय होता है॥ १०॥

त्रिविध यज्ञ

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है'—इस प्रकार मनका समाधान करके, जो शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है॥ ११॥ भरतश्रेष्ठ! फलको दृष्टिमें रखकर और केवल दम्भाचरणके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान॥ १२॥ शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं॥ १३॥

त्रिविध भेदसे शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥ १६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन; पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है॥ १४॥ उद्वेग न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा वेदशास्त्रोंके पठनका एवं भगवान्‌के नाम-जप-कीर्तनका अभ्यास—यह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है॥ १५॥ मनकी प्रसन्नता (निर्मलता), सौम्यभाव, व्यर्थचिन्तारहित भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी पूर्ण पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है॥ १६॥ फलको न चाहनेवाले युक्त पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं॥ १७॥ जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये स्वभावसे या दम्भसे किया जाता है वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया

है॥ १८॥ जो तप मूढ़तायुक्त हठसे, मन, वाणी और शरीरको पीड़ा देकर अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है॥ १९॥

त्रिविध दान

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥
अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

'देना ही कर्तव्य है'—ऐसे मानकर जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है॥ २०॥ किंतु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फिर फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है॥ २१॥ जो दान बिना सत्कारके और तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें अपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है॥ २२॥

ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥ २८॥

'ॐ, तत् , सत्'—ऐसे तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम बतलाया गया है; उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादि रचे गये हैं॥ २३॥ अतएव वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ हुआ करती हैं॥ २४॥ 'तत्' अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तप तथा दानरूप क्रियाएँ मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं॥ २५॥ सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है॥ २६॥ यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस नामसे कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक 'सत्'—ऐसा कहा जाता है॥ २७॥ अर्जुन! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म होता है, वह सब 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है, वह न तो मरनेके बाद ही और न इस लोकमें ही लाभदायक होता है॥ २८॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय (महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ४१)।

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादश अध्याय

त्यागका, सांख्य-सिद्धान्तका, फलसहित वर्णधर्मका, साधन-सहित पराभक्तिका, भक्तिसहित निष्कामकर्मयोगका, शरणागतिका तथा गीताके माहात्म्यका वर्णन

संन्यास और त्यागके सम्बन्धमें अर्जुनका प्रश्न

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—महाबाहो! अन्तर्यामिन्! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ॥ १॥

त्याग-तत्त्व और त्रिविध त्याग

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

श्रीभगवान्ने कहा—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं और दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फल-त्यागको त्याग कहते हैं॥ २॥ कई एक विद्वान् कहते हैं कि कर्ममात्र दोषके सदृश त्याज्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं॥ ३॥ भरतकुल-पुरुषसिंह अर्जुन! (संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले) उस त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; त्याग (सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे) तीन प्रकारका कहा गया है॥ ४॥ यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेयोग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं॥ ५॥ इसलिये पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सभी कर्तव्य कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग

करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चित उत्तम मत है॥ ६॥ (निषिद्ध और काम्यकर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है। अतः मोहवश उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है॥ ७॥ 'कर्म सब दुःखरूप ही है'— ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य कर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके (यथार्थ) फलको किसी भी प्रकार नहीं पाता॥ ८॥ अर्जुन! शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके जो कर्म किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है॥ ९॥ जो मनुष्य अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, मेधावी और सच्चा त्यागी है॥ १०॥ क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सब कर्मोंका पूर्णतया त्याग किया जाना सम्भव नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही (यथार्थ) त्यागी है, यह कहा जाता है॥ ११॥ कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको अच्छा-बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् मिलता है; किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले पुरुषोंको कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं मिलता॥ १२॥

सांख्य-सिद्धान्तानुसार कार्य और कर्ताका स्वरूप

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ १८॥

महाबाहो! कर्मोंका अन्त करनेका उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु तू मुझसे सुन॥ १३॥ इस विषयमें (कर्मोंकी सिद्धिमें) 'अधिष्ठान' (शरीर), 'कर्ता' (कर्तृत्वाभिमानी प्रकृतिस्थ पुरुष जीवात्मा) भिन्न-भिन्न प्रकारके 'करण' (इन्द्रियाँ) नाना प्रकारकी पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु 'दैव' है॥ १४॥ मनुष्य मन, वाणी और शरीरके द्वारा शास्त्रके अनुकूल अथवा विपरीत (शास्त्रविरुद्ध) जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँच ही हेतु हैं॥ १५॥ ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध-बुद्धि होनेके कारण इस विषयमें (कर्मोंके होनेमें) केवल शुद्ध-स्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता॥ १६॥ जिसके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें) कहीं लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न बन्धनको ही प्राप्त होता है॥ १७॥ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्मप्रेरणा है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह है॥ १८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान, कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन॥ १९॥

त्रिविध ज्ञान

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान॥ २०॥ जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान॥ २१॥ और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है (जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभंगुर अनित्य विनाशी शरीरको ही आत्मा मानकर उसमें पूर्णरूपसे आसक्त रहता है) तथा जो हेतुसे रहित, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है॥ २२॥

त्रिविध कर्म

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते॥ २५॥

जो शास्त्रविहित कर्म कर्तापनके अभिमानसे रहित, बिना राग-द्वेषके तथा फल न चाहनेवाले पुरुषके द्वारा किया गया हो, वह सात्त्विक कहलाता है॥ २३॥ परंतु जो कर्म बहुत प्रयोगसे युक्त होता है और भोगोंको चाहनेवाले अथवा अहंकारयुक्त पुरुषके द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है॥ २४॥ जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल मोह—अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है॥ २५॥

त्रिविध कर्ता

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित होता है, वह सात्त्विक कहलाता है॥ २६॥ जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला, लोभी, दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकादिसे युक्त है, वह राजस कहा जाता है॥ २७॥ जो कर्ता अयुक्त, शिक्षारहित, घमंडी, धूर्त, दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला, शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह तामस कहलाता है॥ २८॥

त्रिविध बुद्धि

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

धनंजय! अब तू बुद्धिके और धृतिके भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारके भेद मेरे द्वारा विभागपूर्वक कहे हुए सुन॥ २९॥ पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपसे जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है॥ ३०॥ पार्थ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है॥ ३१॥ पार्थ! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंको भी (हानिको लाभ, अनित्यको नित्य, अपवित्रको पवित्र आदि रूपसे) विपरीत मानती है, वह बुद्धि तामसी है॥ ३२॥

त्रिविध धृति

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धृतिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है॥ ३३॥ पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धृति राजसी है॥ ३४॥ पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, विषाद और मदको नहीं छोड़ता (उन्हें धारण किये रहता है), वह धृति तामसी है॥ ३५॥

त्रिविध सुख

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥
यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन। जिस सुखमें साधक पुरुष भगवान्‌के भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—ऐसा सुख आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृत तुल्य है; अतएव वह आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है॥ ३६-३७॥ जो सुख विषय

और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य होता है, वह सुख राजस कहा गया है॥ ३८॥ जो सुख आरम्भमें—भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है॥ ३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथ्वीमें, आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो॥ ४०॥

फलसहित वर्णधर्मका वर्णन

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं॥ ४१॥ अन्तःकरण-निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, धर्मपालनके लिये कष्ट सहनरूप तप, बाहर-भीतरकी शुद्धि, क्षमा, मन-इन्द्रिय-शरीरकी सरलता, वेद-शास्त्र-ईश्वर-परलोक आदिमें श्रद्धारूप आस्तिकता, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन और परमात्माके तत्त्वका अनुभव—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ४२॥ शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता और युद्धमें पीठ न दिखाना, दान और स्वामिभाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ४३॥ खेती, गोरक्षण और वाणिज्य—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है॥ ४४॥ अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन॥ ४५॥ जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) सिद्धिको प्राप्त हो जाता है॥ ४६॥ सुचारुरूपसे आचरण किये हुए पर-धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव-नियत स्वधर्मरूप कर्मका आचरण करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता॥ ४७॥ अतएव कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धुएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं॥ ४८॥

नैष्कर्म्य-सिद्धि

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

सर्वत्र आसक्तिसे रहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यरूप सिद्धिको प्राप्त होता है॥ ४९॥ जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ॥ ५०॥

ज्ञानकी परानिष्ठा या पराभक्तिके साधन, ब्रह्मप्राप्त पुरुषके परा (प्रेमा)-भक्तिके द्वारा भगवान्‌को पूर्णरूपसे जानकर उनमें प्रवेशका वर्णन

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

विशद बुद्धिसे युक्त तथा सादा, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त

और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धृतिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिका (ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका) पात्र होता है॥ ५१—५३ ॥ फिर वह ब्रह्मभूत (ब्रह्मको प्राप्त—सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित) आनन्दस्वरूप योगी न तो किसी बातका शोक करता है और न कुछ आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त भूत प्राणियोंमें सम भावापन्न (अपने समेत सबमें सर्वत्र अभिन्न समभावसे ब्रह्मकी अनुभूति करनेवाला) योगी मेरी (पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी) 'पराभक्ति' को प्राप्त होता है॥ ५४ ॥ उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझ (भगवान्)-में प्रविष्ट हो जाता है*॥ ५५ ॥

---

* 'अहं' और 'मम' पदोंके वाच्य भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मसे अभिन्न तो हैं ही, वे 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा' भी हैं। ब्रह्म उन्हीं अनन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्पर विरोधी गुण धर्माश्रय-स्वरूप, 'क्षर जगत्' से अतीत और 'अक्षरब्रह्म' से उत्तम भगवान् पुरुषोत्तमका ही एक निराकार, निर्विकार, निष्क्रिय, निर्विशेष स्वरूप है। इस ब्रह्मका तत्त्वसे साक्षात्कार होनेपर प्रकृतिस्थ जीव प्रकृतिके संयोगसे वियुक्त, मायासे एवं प्रकृतिजन्य गुणोंके बन्धनसे विमुक्त होकर समस्त भूतोंमें सदा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मको सम देखता है। वह ब्रह्मज्ञानी शोक और आकांक्षासे रहित कृतकृत्य—जीवन्मुक्त हो जाता है। पर इतनेसे

समर्पण-भावयुक्त पूर्ण शरणागतिके लिये आदेश, गीताके महान् उपदेशका उपसंहार

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥
यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

ही वह भगवान्के—'वे जो जैसे जितने हैं'— ('यावान्यश्चास्मि') उस स्वरूपको तत्त्वसे ठीक-ठीक नहीं जान पाता। इस समग्र स्वरूप पुरुषोत्तमका पूरा ज्ञान होता है—'परा भक्ति'—प्रेमा भक्तिसे। इस ज्ञानके होते ही वह उनकी लीलामें प्रवेश कर जाता है—'विशते तदनन्तरम्'। ये समग्र स्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

भगवान् पहले कह आये हैं—'...... सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (७। ३)। ब्रह्मज्ञानी सिद्धोंमें कोई-कोई मुझ समग्र पुरुषोत्तमको तत्त्वसे ठीक-ठीक जानता है। क्षेत्र, ज्ञान और 'ज्ञेय' (ब्रह्म)-को जानकर मेरा भक्त मेरे भाव(पुरुषोत्तम-तत्त्व)-को प्राप्त होता है (१३। १८)। 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' (१४। २७)। इन सब वचनोंसे भी यही स्पष्ट संकेत मिलता है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

मेरा आश्रय लेकर पुरुष सब कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है॥ ५६॥ मनसे सब कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके तथा बुद्धियोगका अवलम्बन करके तू मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा॥ ५७॥ (उपर्युक्त प्रकारसे) मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त कठिनाइयोंसे अनायास ही पार हो जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा, तो नष्ट हो जायगा॥ ५८॥ जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' सो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; तेरी प्रकृति ही तुझे युद्धमें लगा देगी॥ ५९॥ कुन्तीपुत्र! जिस (युद्धरूप) कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ विवश होकर करेगा॥ ६०॥ अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं॥ ६१॥ भारत! तू सर्वभावसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा॥ ६२॥ इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे कर॥ ६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः* शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

* 'भूयः' से यह भाव समझना चाहिये—राजविद्या-राजगुह्यरूप नवम अध्यायके अन्तमें (गीता ९। ३४ में) और पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें (१५। १७—२०में) संक्षेपसे जो कह आये हैं, उसीको पुनः यहाँ विशदरूपमें कहते हैं?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

(अब) तू सर्वगुह्यतम (सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय) मेरे परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन। तू मेरा दृढ़ इष्ट—अतिशय प्रिय है, अतएव तेरे ही (अथवा तेरे ही-जैसे प्रेमी भक्तोंके) हितके लिये मैं तुझसे यह परम वचन कह रहा हूँ॥ ६४॥ अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है॥ ६५॥ सब धर्मोंको त्यागकर तू केवल एक मुझ परम पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर॥ ६६॥

इस सर्वगुह्यतम रहस्यको केवल भक्तोंमें ही प्रकट करना चाहिये

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

यह (उपर्युक्त सर्वगुह्यतम तत्त्व) किसी भी कालमें तपरहितको, अभक्तको, सुनना न चाहनेवालेको और मुझ (श्रीकृष्ण)-में असूया (दोषदृष्टि) रखनेवालेको कभी नहीं बताना चाहिये॥ ६७॥

जो पुरुष मुझ भगवान् श्रीकृष्णमें पराभक्ति करके इस परम गुह्य (सर्वगुह्यतम) तत्त्वको (केवल) मेरे भक्तोंमें (सर्वसाधारणमें नहीं) कहेगा, वह निश्चय ही मुझ पुरुषोत्तम भगवान् (श्रीकृष्ण)-को ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं॥ ६८-६९॥

गीता-शास्त्रकी महिमा

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

जो पुरुष इस हम दोनोंके संवादरूप धर्ममय गीताशास्त्रका अध्ययन करेगा—पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है॥ ७०॥ जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर पुण्य करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा॥ ७१॥

मोह-नाशके सम्बन्धमें अर्जुनसे भगवान्‌का प्रश्न और अर्जुनकी स्वीकृति

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७२॥

पार्थ! क्या इस (मेरे उपदेश)-को तूने एकाग्रचित्तसे सुना, और धनंजय! उसे सुनकर क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?॥ ७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपके वचनोंका पालन करूँगा* ॥ ७३ ॥

संजयका महान् हर्ष

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

---

* अर्जुनके द्वारा इस श्लोकमें शरणागतिकी स्वीकृति तथा प्रकारान्तरसे शरणागतिके स्वरूपका उल्लेख है। अर्जुन कहते हैं—'मेरे मोहका नाश हो गया, मैं जो अहंकारवश कह रहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—यह मोह था, अब मुझे स्मरण हो आया कि मैं तो आप यन्त्रीके हाथका यन्त्र हूँ, आपकी स्वच्छन्द इच्छाके अनुसार चलनेवाला। पर यह मोह-नाश तथा स्मृतिकी प्राप्ति मेरे पुरुषार्थ या किसी साधन विशेषसे नहीं हुई। यह तो केवल आप शरणागतवत्सलकी कृपासे हुई है और इस कृपाकी भी मैंने अपने साधनसे उपलब्धि नहीं की। अच्युत! आप अपने शरणागतभयहारी विरदसे कभी च्युत नहीं होते, अतः स्वाभाविक ही कृपा-वर्षा करते हैं। अब मैं अपने यन्त्ररूपी स्वरूपमें स्थित हो गया हूँ। मेरे सारे शंका-संदेह नष्ट हो गये हैं। अतः आप जो कुछ मुझसे कहेंगे बिना ननु-नचके वही करूँगा।'

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमांचकारक संवादको सुना॥ ७४॥ श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्यदृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है॥ ७५॥ राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ॥ ७६॥ हे राजन्! श्रीहरिके उस समयके उस अत्यन्त विलक्षण रूप-सौन्दर्यका भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ॥ ७७॥ राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है— ऐसा मेरा मत है॥ ७८॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'मोक्षसन्न्यासयोग' नामक अष्टादश अध्याय
(महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ४२)।

श्रीमद्भगवद्गीताकी आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्ति हरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा॥ जय०॥
निश्चल, भक्ति-विधायिनि, निर्मल, मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी॥ जय०॥
राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि, तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय०॥
आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी॥ जय०॥
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥ जय०॥
दया-सुधा बरसावनि, मातु! कृपा कीजै।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय०॥

गीतामें भक्तियोग

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रभु श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। जगत्में इसकी जोड़ीका कोई भी शास्त्र नहीं। सभी श्रेणीके लोग इसमेंसे अपने-अपने अधिकारानुसार भगवत्प्राप्तिके सुगम साधन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें सभी मुख्य-मुख्य साधनोंका विशद वर्णन है, परंतु कोई भी एक-दूसरेका विरोधी नहीं है। सभी परस्पर सहायक हैं। ऐसा सामंजस्यपूर्ण ग्रन्थ केवल गीता ही है। कर्म, भक्ति और ज्ञान—इन तीन प्रधान सिद्धान्तोंकी जैसी उदार, पूर्ण, निर्मल, उज्ज्वल, सरल एवं अन्तर और बाह्य लक्षणोंसे युक्त हृदयस्पर्शी सुन्दर व्यावहारिक व्याख्या इस ग्रन्थमें मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार किसी एक मार्गपर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्यतक पहुँच सकता है। श्रीमद्भगवद्गीताको हम 'निष्काम कर्मयोगयुक्त भक्तिप्रधान ज्ञानपूर्ण अध्यात्मशास्त्र' कह सकते हैं। यह सभी प्रकारके मार्गोंमें संरक्षक, सहायक, मार्गदर्शक, प्रकाशदाता और पवित्र पाथेयका प्रत्यक्ष व्यावहारिक काम दे सकता है। गीताके प्रत्येक साधनमें कुछ ऐसे दोषनाशक प्रयोग बतलाये गये हैं, जिनका उपयोग करनेसे दोष समूल नष्ट होकर साधन सर्वथा शुद्ध और उपादेय बन जाता है। इसीलिये गीताका कर्म, गीताका ज्ञान, गीताका ध्यान और गीताकी भक्ति सभी सर्वथा पापशून्य दोषरहित, पवित्र और पूर्ण हैं। किसीमें भी तनिक पोलकी गुंजाइश नहीं।

गीताके बारहवें अध्यायका नाम भक्तियोग है, इसमें कुल बीस श्लोक हैं। पहले श्लोकमें भक्तवर अर्जुनका प्रश्न है और शेष उन्नीस श्लोकोंमें भगवान् उसका उत्तर देते हैं। इनमें प्रथम ११

श्लोकोंमें तो भगवान्‌के व्यक्त (साकार) और अव्यक्त (निराकार) स्वरूपके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय किया गया है एवं भगवत्प्राप्तिके कुछ उपाय बतलाये गये हैं। अगले आठ श्लोकोंमें परमात्माके परम प्रिय भक्तोंके स्वाभाविक लक्षणोंका वर्णन है।

भगवान्‌ने कृपापूर्वक अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर अपना विराट्‌स्वरूप दिखलाया, उस विकराल कालस्वरूपको देखकर अर्जुनके घबड़ाकर प्रार्थना करनेपर अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन कराये, तदनन्तर मनुष्य-देहधारी सौम्य रसिकशेखर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूप दिखाकर उनके चित्तमें प्रादुर्भूत हुए भय और अशान्तिका नाश कर उन्हें सुखी किया। इस प्रसंगमें भगवान्‌ने अपने विराट् और चतुर्भुज रूपकी महिमा गाते हुए इनके दर्शन प्राप्त करनेवाले अर्जुनके प्रेमकी प्रशंसा की और कहा कि 'मेरे इन स्वरूपोंको प्रत्यक्ष नेत्रोंद्वारा देखना, इसके तत्त्वको समझना और इनमें प्रवेश करना केवल 'अनन्यभक्ति' से ही सम्भव है।' इसके बाद अनन्यभक्तका स्वरूप और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने अपना वक्तव्य समाप्त किया। एकादश अध्याय यहीं पूरा हो गया। अर्जुन अबतक भगवान्‌के अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही स्वरूपोंकी और दोनोंके ही उपासकोंकी प्रशंसा और दोनोंसे ही परमधामकी प्राप्ति होनेकी बात सुन चुके हैं। अब वे इस सम्बन्धमें एक स्थिर निश्चयात्मक सिद्धान्त-वाक्य सुनना चाहते हैं, अतएव उन्होंने विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए पूछा—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

(गीता १२।१)

'हे नाथ! जो अनन्यभक्त आपके द्वारा कथित विधिके

अनुसार निरन्तर मन लगाकर आप व्यक्त—साकाररूप मनमोहन श्यामसुन्दरकी उपासना करते हैं, एवं जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन अव्यक्त—निराकाररूपकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन है? प्रश्न स्पष्ट है—अर्जुन कहते हैं, आपने अपने व्यक्त रूपकी दुर्लभता बताकर केवल अनन्यभक्तिसे ही उस रूपके प्रत्यक्ष दर्शन, उसका तत्त्वज्ञान और उसमें एकत्व प्राप्त करना सम्भव बतलाया तथा फिर उस अनन्यताके लक्षण बतलाये। परंतु इससे पहले आप कई बार अपने अव्यक्तोपासकोंकी भी प्रशंसा कर चुके हैं, अब आप निर्णयपूर्वक एक निश्चित मत बतलाइये कि इन दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन हैं? भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'हे अर्जुन! जो मुझ साकाररूप परमेश्वरमें मन लगाकर निश्चल परम श्रद्धासे युक्त हो निरन्तर मेरी ही उपासनामें लगे रहते हैं, मेरे मतसे वे ही परम उत्तम योगी हैं।' उत्तर भी स्पष्ट है—भगवान् कहते हैं, 'मेरे द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार मुझमें निरन्तर चित्त एकाग्र करके जो परम श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, मेरे मतमें वे ही श्रेष्ठ हैं।'

यहाँ प्रथम श्लोकके '**त्वाम्**' और इस श्लोकके '**माम्**' शब्द अव्यक्त-निराकारवाचक न होकर साकारवाचक ही हैं; क्योंकि अगले श्लोकोंमें अव्यक्तोपासनाका स्पष्ट वर्णन है, जो '**तु**' शब्दसे इससे सर्वथा पृथक् कर दिया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌के मतमें उनके साकार रूपके उपासक ही अति श्रेष्ठ योगी हैं एवं एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकके

अनुसार उनको भगवत्-प्राप्ति होना निश्चित है। परंतु इससे कोई यह न समझे कि अव्यक्तोपासना निम्न श्रेणीकी है या उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होती। इसी भ्रमकी सम्भावनाको सर्वथा मिटा देनेके लिये भगवान् स्वयमेव कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ३-४)

'समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके, सर्वत्र समबुद्धिसम्पन्न हो, जीवमात्रके हितमें रत हुए, जो पुरुष अचिन्त्य (मन-बुद्धिसे परे), सर्वत्र (सर्वव्यापी), अनिर्देश्य (अकथनीय), कूटस्थ (नित्य एकरस), ध्रुव (नित्य), अचल, अव्यक्त (निराकार) अक्षर ब्रह्मरूपकी निरन्तर उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस कथनसे यह निश्चय हो गया कि दोनों ही उपासनाओंका फल एक है, तो फिर अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासकको उत्तम क्यों बतलाया? क्या बिना ही कारण भगवान्ने ऐसी बात कह दी? क्या मन्दबुद्धि मुमुक्षुओंको उनकी सगुणोपासनाकी प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिये उन्हें युक्ततम बतला दिया या उन्हें उत्साही बनाये रखनेके लिये व्यक्तोपासनाकी रोचक स्तुति कर दी अथवा अर्जुनको साकारका मन्द अधिकारी समझकर उसीके लिये व्यक्तोपासनाको श्रेष्ठ करार दे दिया? भगवान्का क्या अभिप्राय था यह तो भगवान् ही जानें, परंतु मेरा मन तो यही कहता है कि भगवान्ने जहाँपर जो कुछ कहा है सो सभी यथार्थ है, उनके शब्दोंमें रोचक-भयानककी कल्पना करना कदापि उचित नहीं, भगवान्ने न तो किसीकी अयथार्थ स्तुति की है और न अयथार्थ

किसीको कोसा ही है। यहाँ भगवान्‌ने जो साकारोपासककी श्रेष्ठता बतलायी है उसका कारण भी भगवान्‌ने अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्ट कर दिया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्‌ ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गीता १२। ५)

'जिनका मन तो अव्यक्तकी ओर आसक्त है; परंतु जिनके हृदयमें देहाभिमान बना हुआ है ऐसे लोगोंके लिये अव्यक्त ब्रह्मकी उपासनामें चित्त टिकाना विशेष क्लेशसाध्य है, वास्तवमें निराकारकी गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त होती है।'

भगवान्‌के साकार—व्यक्तस्वरूपमें एक आधार रहता है, जिसका सहारा लेकर ही कोई साधन-मार्गपर आरूढ़ हो सकता है; परंतु निराकारका साधक तो बिना केवटकी नावकी भाँति निराधार अपने ही बलपर चलता है। अपार संसार-सागरमें विषय-वासनाकी भीषण तरंगोंसे तरीको बचाना, भोगोंके प्रचण्ड तूफानसे नावकी रक्षा करना और बिना किसी मददगारके लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए आप ही डाँड़ चलाते जाना बड़ा ही कठिन कार्य है। परंतु इसके विपरीत भगवान्‌ कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्‌ ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्‌ ॥

(गीता १२। ६-७)

—'जो लोग मेरे (भगवान्‌के) परायण होकर, मुझको ही अपनी परम गति, परम आश्रय, परम शक्ति और परम लक्ष्य मानते हुए सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मुझ साकार ईश्वरकी

अनन्य योगसे निरन्तर उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको मृत्युशील संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र सुखपूर्वक मैं पार कर देता हूँ।' उनको न तो अनन्त अम्बुधिकी क्षुब्ध उत्ताल तरंगोंका भय है और न भीषण झंझावातके आघातसे नौकाके ध्वंस होने या डूबनेका ही डर है। वे तो बस, मेरी कृपासे आच्छादित सुन्दर सुसज्जित दृढ़ 'बजरे' में बैठकर केवल सर्वात्मभावसे मेरी ओर निर्निमेष दृष्टिसे ताकते रहें, मेरी लीलाएँ देख-देखकर प्रफुल्लित होते रहें, मेरी वंशीध्वनि सुन-सुनकर आनन्दमें डूबते रहें, उनकी नावका खेवनहार केवट बनकर मैं उन्हें '**नचिरात्**' इसी जन्ममें अपने हाथों डाँड़ चलाकर संसार-सागरके उस पार परमधाममें पहुँचा दूँगा।

जो भाग्यवान् भक्त भगवान्के इन वचनोंपर विश्वास कर समस्त शक्तियोंके आधार, सम्पूर्ण ज्ञानके भण्डार, अखिल ऐश्वर्यके आकर, सौन्दर्य, प्रभुत्व, बल और प्रेमके अनन्त निधि उस परमात्माको अपनी जीवन-नौकाका खेवनहार बना लेता है, जो अपनी बाँह उसे पकड़ा देता है, उसके अनायास ही पार उतरनेमें कोई खटका कैसे रह सकता है? उसको न तो नावके टकराने, टूटने और डूबनेका भय है, न चलानेका कष्ट है और न पार पहुँचनेमें तनिक-सा सन्देह ही है।

पार तो अव्यक्तोपासक भी पहुँचता है, परंतु उसका मार्ग कठिन है। इस प्रकार दोनोंका फल एक ही होनेके कारण सुगमताकी वजहसे यदि भगवान्ने अव्यक्तोपासककी अपेक्षा व्यक्तोपासकको श्रेष्ठ या 'योगवित्तम' बतलाया तो उनका ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है, परंतु बात इतनी ही नहीं है। सरलता-कठिनता तो उपासनाकी है, इससे उपासकमें उत्तम-मध्यमका भेद क्यों होने लगा? फिर व्यक्तोपासक केवल उत्तम ही नहीं,

'योगवित्तम' है, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ है। उपासनाकी सुगमताके कारण आरामकी इच्छासे कठिन मार्गको त्यागकर सरलका ग्रहण करनेवाला श्रेष्ठ योगवेत्ता कैसे हो गया? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ होना चाहिये और वह यह है—

अव्यक्तोपासक उपासनाके फलस्वरूप अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं, परंतु व्यक्तोपासकके तो त्रिभुवनमोहन साकार-रूपधारी भगवान् आरम्भसे ही साथ रहते हैं। अव्यक्तोपासक अपनी **'अहं ब्रह्मास्मि'** की ज्ञाननौकापर सवार होकर यदि मार्गके अहंकार, मान, लोकैषणा आदि विघ्नोंसे बचकर आगे बढ़ पाता है तो अन्तमें संसार-सागरके पार पहुँच जाता है। परंतु व्यक्तोपासक तो पहलेसे ही भगवान्‌की कृपारूपी नौकापर सवार होता है और भगवान् स्वयं उसे खेकर पार करते हैं। नौकापर सवार होते ही उसे केवट कृष्णका साथ मिल जाता है। पार पहुँचनेके बाद तो (अव्यक्तोपासक और व्यक्तोपासक) दोनोंके आनन्दकी स्थिति समान है ही; परंतु व्यक्तोपासक तो मार्गमें भी पल-पलमें परम कारुणिक मोहनकी माधुरी मूरतिके देवदुर्लभ दर्शनकर पुलकित होता है, उसे उनकी मधुर वाणी, विश्वमोहिनी वंशीकी ध्वनि सुननेको एवं उनकी सुन्दर और शक्तिमयी क्रियाएँ देखनेको मिलती हैं। वह निश्चिन्त बैठा हुआ उनके दिव्य स्वरूप और उनकी लीलाका मजा लूटता है। इसके सिवा एक महत्त्वकी बात और होती है। भगवान् किस मार्गसे क्योंकर नौका चलाते हैं, वह इस बातको भी ध्यानपूर्वक देखता है, जिससे वह भी परमधामके इस सुगम मार्गको और भव-तारण-कलाको सीख जाता है। ऐसे तारण-कलामें निपुण विश्वासपात्र भक्तको यदि भगवान् कृपापूर्वक अपने परमधामका अधिकारी स्वीकार कर और जगत्‌के लोगोंको तारनेका अधिकार

देकर अपने कार्यमें सहायक बनने या अपनी लोक-कल्याणकारिणी लीलामें सम्मिलित रखनेके लिये नौका देकर वापस संसारमें भेज देते हैं तो वह मुक्त हुआ भी भगवान्‌की ही भाँति जगत्‌के यथार्थ हितका कार्य करता है और एक चतुर विश्वासपात्र सेवककी भाँति भगवान्‌के लीला-कार्यमें भी साथ रहता है। ऐसी ही स्थितिके महापुरुष कारक बनकर जगत्‌में आविर्भूत हुआ करते हैं। अव्यक्तोपासक परमधाममें पहुँचकर मुक्त हो वहीं रह जाते हैं, वे परमात्मामें घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, वे वहाँसे वापस लौट ही नहीं सकते। इससे न तो उन्हें परमधाम जानेके मार्गमें साकार भगवान्‌का संग उनके दर्शन, उनके साथ वार्तालाप और उनकी लीला देखनेका आनन्द मिलता है और न वे परमधामके पट्टेदार होकर सगुण भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित हो उन्हींकी भाँति निपुण नाविक बनकर वापस ही आते हैं। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' के अनुसार उनके बुद्धि आदि करण जो उनको दिव्य धाममें छोड़कर वहाँसे वापस लौटते हैं, वे भी साधकोंके सामने अव्यक्तोपासना-पथके उन्हीं नाना प्रकारके क्लेशोंके दृश्य रखकर परमधामकी प्राप्तिको ऐसी कष्टसाध्य और दुःखलब्ध बता देते हैं कि लोग उसे सुनकर ही काँप जाते हैं। उनका वैसे दृश्य सामने रखना ठीक ही है; क्योंकि उन्होंने अव्यक्तोपासनाके कण्टकाकीर्ण मार्गमें वही देखे हैं। उन्हें प्रेममय श्यामसुन्दरके सलोने मुखड़ेका तो कभी दर्शन हुआ ही नहीं, उन्हें वह सौन्दर्य-सुधा कभी नसीब ही नहीं हुई, तब वे उस दिव्य रसका स्वाद लोगोंको कैसे चखाते? इसके विपरीत व्यक्तोपासक अपनी मुक्तिको भगवान्‌के खजानेमें धरोहरके रूपमें रखकर उनकी मंगलमयी आज्ञासे पुनः संसारमें आते हैं और भगवत्प्रेमके परम आनन्द-रस-समुद्रमें निमग्न हुए देहाभिमानी

होनेपर भी भगवान्‌के मंगलमय मनोहर साकार रूपमें एकान्तभावसे मनको एकाग्र करके उन्हींके लिये सर्वकर्म करनेवाले असंख्य लोगोंको दृढ़ और सुखपूर्ण नौकाओंपर चढ़ा-चढ़ाकर संसारसे पार उतार देते हैं। यहाँ कोई यह कहे कि जैसे निराकारोपासक साकारके दर्शन और उनकी लीलाके आनन्दसे वंचित रहते हैं, वैसे ही साकारके उपासक ब्रह्मानन्दसे वंचित रहते होंगे। उन्हें परमात्माका तत्त्वज्ञान नहीं होता होगा।' परंतु यह बात नहीं है। निरे निराकारोपासक अपने बलसे जिस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करते हैं, भगवान्‌के प्रेमी साकारोपासकोंको वही तत्त्वज्ञान भगवत्कृपासे मिल जाता है। भक्तराज ध्रुवजीका इतिहास प्रसिद्ध है। ध्रुव व्यक्तोपासक थे, 'पद्मपलाशलोचन' नारायणको आँखोंसे देखना चाहते थे। उनके प्रेमके प्रभावसे परमात्मा श्रीनारायण प्रकट हुए और अपना दिव्य शंख कपोलोंसे स्पर्श कराकर उन्हें उसी क्षण परम तत्त्वज्ञ बना दिया। इससे सिद्ध है कि व्यक्तोपासकको अव्यक्तोपासकोंका ध्येय तत्त्वज्ञान तो भगवत्कृपासे मिल ही जाता है, वे भगवान्‌की सगुण लीलाओंका आनन्द विशेष पाते हैं और उसे त्रितापतप्त लोगोंमें बाँटकर उनका उद्धार करते हैं। व्यक्तोपासक अव्यक्त-तत्त्वज्ञानके साथ ही व्यक्त-तत्त्वको भी जानते हैं, व्यक्तोपासनाका मार्ग जानते हैं, उसके आनन्दको उपलब्ध करते हैं और लोगोंको दे सकते हैं। वे दोनों प्रकारके तत्त्व जानते, उनका आनन्द लेते और लोगोंको बतला सकते हैं, इसलिये भगवान्‌के मतमें वे 'योगवित्तम' हैं, योगियोंमें उत्तम हैं।

वास्तवमें बात भी यही। प्रेमके बिना रहस्यकी गुह्य बातें नहीं जानी जा सकतीं। किसी राजाके एक तो दीवान है और दूसरा राजाका परम विश्वासपात्र व्यक्तिगत प्रेमी सेवक है। दीवानको राज्यव्यवस्थाके सभी अधिकार प्राप्त हैं। वह राज्यसम्बन्धी सभी

कार्योंकी देख-रेख और सुव्यवस्था करता है, इतना होनेपर भी राजाके मनकी गुप्त बातोंको नहीं जानता और न वह राजाके साथ अन्तःपुर आदि सभी स्थानोंमें अबाधरूपसे जा ही सकता है, 'विहार-शय्यासन-भोजनादि' में एकान्त देशमें उसको राजाके साथ रहनेका कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि राज्यसम्बन्धी सारे काम उसीकी सलाहसे होते हैं। इधर वह राजाका व्यक्तिगत प्रेमी मित्र यद्यपि राज्यसम्बन्धी कार्यमें प्रकाश्यरूपसे कुछ भी दखल नहीं रखता, परंतु राजाके इच्छानुसार प्रत्येक कार्यमें वह राजाको प्राइवेटमें अपनी सम्मति देता है और राजा भी उसीकी सम्मतिके अनुसार कार्य करता है। राजा अपने मनकी गोपनीय-से-गोपनीय भी सारी बातें उसके सामने निःशंकभावसे कह देता है। राजाका यह निश्चय रहता है कि 'यह मेरा प्रेमी सखा दीवानसे किसी हालतमें कम नहीं है। दीवानीका पद तो यह चाहे तो इसको अभी दिया जा सकता है, जब मैं ही इसका हूँ, तब दीवानीका पद कौन बड़ी बात है?' परंतु उस मन्त्रीके पदको न तो वह प्रेमी चाहता है और न राजा उसे देनेमें ही सुभीता समझता है; क्योंकि दीवानीका पद दे देनेपर मर्यादाके अनुसार वह राज्यकार्यके सिवा राजाके निजी कार्योंमें साथ नहीं रह सकता, जिनमें उसकी परम आवश्यकता है, क्योंकि वह मन्त्रित्व पदका त्यागी प्रेमी सेवक राजाका अत्यन्त प्रियपात्र है, उसका सखा है और इष्ट है।

यहाँ राजाके स्थानमें परमात्मा, दीवानके स्थानमें अव्यक्तोपासक ज्ञानी और प्रेमी सखाके स्थानमें व्यक्तोपासक प्यारा भक्त है। अव्यक्तोपासक पूर्ण अधिकारी है, परंतु वह राजा (परमात्मा) का अन्तरंग सखा नहीं, उसकी निजी लीलाओंसे न तो परिचित है और न उसके आनन्दमें सम्मिलित है। वह राज्यका सेवक है,

राजाका नहीं। परंतु वह प्यारा भक्त तो राजाका निजी सेवक है, राजाका विश्वासपात्र होनेके नाते राज्यका सेवक तो हो ही गया। इसीलिये व्यक्तोपासक मुक्ति न लेकर भगवच्चरणोंकी नित्य सेवा माँगा करते हैं, भगवान्‌की लीलामें शामिल रहनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। वास्तवमें वे धन्य हैं जिनके लिये निराकार ईश्वर साकार बनकर प्रकट होते हैं; क्योंकि वे निराकार-साकार दोनों स्वरूपोंके तत्त्वोंको जानते हैं, इसीसे निराकाररूपसे अपने रामको सबमें रमा हुआ जानकर भी, अव्यक्तरूपसे अपने श्रीकृष्णको सबमें व्याप्त समझकर भी धनुर्धारी मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी श्रीरामरूपमें और चित्तको आकर्षण करनेवाले मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपमें उनकी उपासना करते हैं और उनकी लीला देख-देखकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं। गोसाईंजी महाराजने इसीलिये कहा है—***'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'*** अतएव जो 'सगुण' सहित निर्गुणको जानते हैं वे ही भगवान्‌के मतमें 'योगवित्तम' हैं।

अब यह देखना है कि गीताके व्यक्त भगवान्‌का क्या स्वरूप है, उनके उपासककी कैसी स्थिति और कैसे आचरण हैं और इस उपासनाकी प्रधान पद्धति क्या है? क्रमसे तीनोंपर विचार कीजिये—

गीतोक्त साकार उपास्यदेव एकदेशीय या सीमाबद्ध भगवान् नहीं हैं। वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। जो साकारोपासक अपने भगवान्‌की सीमा बाँधते हैं वे अपने ही भगवान्‌को छोटा बनाते हैं। गीताके साकार भगवान् किसी एक मूर्ति, नाम या धामविशेषमें ही सीमित नहीं हैं। वे सत्, चेतन, आनन्दघन, विज्ञानानन्दस्वरूप, पूर्ण सनातन, अनादि, अनन्त, अज, अव्यय, शान्त, सर्वव्यापी होते हुए ही सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी,

सृष्टिकर्ता, परम दयालु, परम सुहृद्, परम उदार, परम प्रेमी, परम मनोहर, परम रसिक, परम प्रभु और परम शूरशिरोमणि हैं। वे जन्म लेते हुए दीखनेपर भी अजन्मा हैं; वे साकार-व्यक्तरूपमें रहनेपर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। वे एक या एक ही साथ अनेक स्थानोंमें व्यक्तरूपसे अवतीर्ण होकर भी अपने अव्यक्तरूपसे, अपनी अनन्त सत्तासे सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा स्थित हैं। मन्दिरमें, मन्दिरकी मूर्तिमें, उसकी दीवारमें, पूजामें, पूजाकी सामग्रीमें और पुजारीमें, बाहर-भीतर सभी जगह वे विद्यमान हैं। वे सगुण-साकाररूपसे भक्तोंके साथ लीला करते हैं और निर्गुण-निराकाररूपसे बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं, '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**' उन परम दयालु प्रभुको हम किसी भी रूप और किसी भी नामसे देख और पुकार सकते हैं! इस रहस्यको समझते हुए हम ब्रह्म, परमात्मा, आनन्द, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, गॉड, जिहोवा आदि किसी भी नामरूपसे उनकी उपासना कर सकते हैं। उपासनाके फलस्वरूप जब उनकी कृपासे उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होगा तब सारे संशय आप ही मिट जायँगे। इस रहस्यसे वंचित होनेके कारण ही मनुष्य मोहवश भगवान्‌की सीमा निर्देश करने लगता है? भगवान् स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता ७। २४)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मैं अव्ययात्मा, अजन्मा और सर्वभूतप्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको अधीन करके (प्रकृतिके अधीन होकर नहीं) योगमायासे—लीलासे साकार रूपमें प्रकट होता हूँ।' अज, अविनाशी रहता हुआ ही मैं अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ। 'मेरे इस परमोत्तम अविनाशी परम रहस्यमय भावको—तत्त्वको न जाननेके कारण ही बुद्धिहीन मनुष्य मुझ मन-इन्द्रियोंसे परे सच्चिदानन्द परमात्माको साधारण मनुष्यकी भाँति व्यक्तभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।' 'ऐसे परमभावसे अपरिचित मूढ़लोग मुझ 'मनुष्यरूपधारी' सर्वभूतमहेश्वर परमात्माको यथार्थतः नहीं पहचानते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताके सगुण-साकार-व्यक्त भगवान् , निराकार—अव्यक्त, अज और अविनाशी रहते हुए ही साकार मनुष्यादिरूपमें प्रकट हो लोकोद्धारके लिये विविध लीलाएँ किया करते हैं। संक्षेपमें यही गीतोक्त व्यक्त-उपास्य भगवान्का स्वरूप है।

अब व्यक्तोपासककी स्थिति देखिये। गीताका साकारोपासक भक्त, अव्यवस्थितचित्त, मूर्ख, अभिमानी, दूसरेका अनिष्ट करनेवाला, धूर्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री, अकर्मण्य, हर्ष-शोकादिसे अभिभूत, अशुद्ध आचरण करनेवाला, हिंसक स्वभाववाला, लोभी, कर्मफलका इच्छुक और विषयासक्त नहीं होता, पापके लिये तो उसके अंदर तनिक भी गुंजाइश नहीं रहती। वह अपनी अहंता-ममता अपने प्रियतम परमात्माके अर्पण कर निर्भय, निश्चिन्त, सिद्धि-असिद्धिमें सम, निर्विकार, विषयविरागी, अनहंवादी, सदा प्रसन्न, सेवापरायण, धीरज और उत्साहका

पुतला, कर्तव्यनिष्ठ और अनासक्त होता है। भगवान्ने यहाँ साकारोपासनाका फल और उपासककी महत्ता प्रकट करते हुए संक्षेपमें उसके ये लक्षण बताये हैं—'वह केवल भगवान्के लिये ही सब कर्म करनेवाला, भगवान्को ही परम गति समझकर उन्हींके परायण रहनेवाला, भगवान्का ही अनन्य और परम भक्त, सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंमें आसक्तिरहित, सब भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित, मनको परमात्मामें एकाग्र करके नित्य भगवान्के भजन-ध्यानमें रत, परम श्रद्धासम्पन्न, सर्वकर्मोंका भगवान्में भलीभाँति उत्सर्ग करनेवाला और अनन्यभावसे तैलधारावत् परमात्माके ध्यानमें रहकर भजन-चिन्तन करनेवाला होता है (गीता ११। ५५; १२। २,६-७)। गीतोक्त व्यक्तोपासककी संक्षेपमें यही स्थिति है। भगवान्ने इसी अध्यायके अन्तके ८ श्लोकोंमें व्यक्तोपासक सिद्ध भक्तके लक्षण विस्तारसे बतलाये हैं।

अब रही उपासनाकी पद्धति। सो व्यक्तोपासना भक्तिप्रधान होती है। अव्यक्त और व्यक्तकी उपासनामें प्रधान भेद दो हैं—उपास्यके स्वरूपका और उपासकके भावका। अव्यक्तोपासनामें उपास्य निराकार है और व्यक्तोपासनामें साकार। अव्यक्तोपासनाका साधक अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझकर '**अहं ब्रह्मास्मि**' कहता है, तो व्यक्तोपासनाका साधक भगवान्को ही सर्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुआ समझकर '**वासुदेवः सर्वमिति**' कहता है। उसकी पूजामें कोई आधार नहीं है और इसकी पूजामें भगवान्के साकार मनमोहन विग्रहका आधार है। वह सब कुछ स्वप्नवत् मायिक मानता है तो यह सब कुछ भगवान्की आनन्दमयी लीला समझता है! वह अपने बलपर अग्रसर होता है तो यह भगवान्की कृपाके बलपर चलता है। उसमें ज्ञानकी प्रधानता है तो इसमें प्रेमकी। अवश्य ही परस्पर प्रेम और ज्ञान दोनोंमें ही रहते हैं।

अव्यक्तोपासक समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, वास्तवमें कुछ है ही नहीं। व्यक्तोपासक समझता है कि मुझे अपने हाथकी कठपुतली बनाकर भगवान् ही सब कुछ करा रहे हैं, कर्ता, भोक्ता सब वे ही हैं, मेरे द्वारा जो कुछ होता है, सब उनकी प्रेरणासे और उन्हींकी शक्तिसे होता है, मेरा अस्तित्व ही उनकी इच्छापर अवलम्बित है। यों समझकर वह अपना परम कर्तव्य केवल भगवान्का नित्य चिन्तन करना ही मानता है। भगवान् क्या कराते हैं या करायेंगे— इस बातकी वह चिन्ता नहीं करता, वह तो अपने मन-बुद्धि उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो रहता है। भगवान्के इन वचनोंके अनुसार ही उसके आचरण होते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

इस उपासनामें दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य और मोहको तनिक-सा भी स्थान नहीं है, उपासक इन दुर्गुणोंसे रहित होकर सारे चराचरमें सर्वत्र अपने उपास्यदेवको देखता हुआ उनके नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यानमें निरत रहता है। भजन-साधनको परम मुख्य माननेपर भी वह कर्तव्यकर्मोंसे कभी मुख नहीं मोड़ता; वरं न्यायसे प्राप्त सभी योग्य कर्मोंको निर्भयतापूर्वक धैर्य बुद्धिसे भगवान्के निमित्त करता है। उसके मनमें एक ही सकामभाव रहता है, वह यह कि अपने प्यारे भगवान्की इच्छाके विपरीत कोई भी कार्य मुझसे कभी न बनना चाहिये। उसका यह भाव भी रहता है कि मैं परमात्माका ही प्यारा सेवक हूँ और परमात्मा

मेरे ही एकमात्र सेव्य हैं, वे मुझपर दया करके मेरी सेवा स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करनेके लिये ही अपने अव्यक्त अनन्तस्वरूपमें स्थित रहते हुए ही साकार-व्यक्तरूपमें मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं। इसलिये वह निरन्तर श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का स्मरण करता हुआ ही समस्त कर्म करता है। भगवान्‌ने छठे अध्यायके अन्तमें ऐसे ही भजनपरायण योगीको सर्वश्रेष्ठ योगी माना है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें लगाये हुए अन्तरात्मासे निरन्तर मुझे भजता है वही मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ है। इस श्लोकमें आये हुए '**श्रद्धावान्**' और '**मद्‌गतेनान्तरात्मना**' के भाव ही द्वादश अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**श्रद्धया परयोपेताः**' और **मय्यावेश्य मनः**' में व्यक्त हुए हैं। '**युक्ततम**' शब्द तो दोनोंमें एक ही है। व्यक्तोपासनामें भजनका अभ्यास, भगवान्‌के साकार-निराकार तत्त्वका ज्ञान, उपास्य इष्टका ध्यान और उसीके लिये सर्वकर्मोंका आचरण और उसीमें सर्वकर्मफलका संन्यास रहता है। व्यक्तोपासक अपने उपास्यकी सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीसे अभ्यास, ज्ञान और ध्यानसे युक्त रहकर सर्वकर्मफलका—मोक्षका परमात्माके लिये त्याग करते ही उसे परम शान्ति, परमात्माके परमपदका अधिकार मिल जाता है। यही भाव १२ वें श्लोकमें व्यक्त किया गया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

'रहस्यज्ञानरहित अभ्याससे परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, उससे

परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है और जिस सर्वकर्मफलत्यागमें अभ्यास, ज्ञान और ध्यान तीनों रहते हैं वह सर्वश्रेष्ठ है, उस त्यागके अनन्तर ही परम शान्ति मिल जाती है।'

इसके बीच ८ से ११ तकके चार श्लोकोंमें—ध्यान, अभ्यास, भगवदर्थ कर्म और भगवत्प्राप्तिरूप योगका आश्रय लेकर कर्मफल-त्याग—ये चार साधन बतलाये गये हैं; जो जिसका अधिकारी हो वह उसीको ग्रहण करे। इनमें छोटा-बड़ा समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, जिसमें चारों हों वह सर्वोत्तम है, वही परम भक्त है। ऐसे भक्तको जब परम सिद्धि मिल जाती है तब उसमें जिन सब लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है उन्हींका वर्णन अध्यायकी समाप्तितकके अगले आठ श्लोकोंमें है। वे लक्षण सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये आदर्श हैं। यही गीतोक्त व्यक्तोपासनाका रहस्य है।

इससे यह सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिये कि अव्यक्तोपासनाका दर्जा नीचा है या उसकी उपासनामें आचरणोंकी कोई खास भिन्नता है। अव्यक्तोपासनाका अधिकार बहुत ही ऊँचा है। विरक्त, धीर, वीर और सर्वथा संयमी पुरुषपुंगव ही इस कण्टकाकीर्ण मार्गपर पैर रख सकते हैं। उपासनामें भी दो-एक बातोंको छोड़कर प्रायः सादृश्यता ही है। व्यक्तोपासकके लिये '**सर्वभूतेषु निर्वैरः**' की और '**मैत्रः करुणः**' की शर्त है तो अव्यक्तोपासकके लिये '**सर्वभूतहिते रताः**' की है। उसके लिये भगवान्‌में मनको एकाग्र करना आवश्यक है, तो इसके लिये भी समस्त 'इन्द्रियग्राम' को भलीभाँति वशमें करना जरूरी है। वह अपने उपास्यमें 'परम श्रद्धावान्' है तो यह भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमें 'समबुद्धि' है।

वास्तवमें भगवान्‌का क्या स्वरूप है और उनकी दिव्यवाणी श्रीगीताके श्लोकोंका क्या मर्म है, इस बातको यथार्थतः भगवान् ही जानते हैं अथवा जो महात्मा भगवत्कृपाका अनुभव कर चुके हैं वे कुछ जान सकते हैं। मुझ-सरीखा विषयरत प्राणी इन विषयोंमें क्या जाने? मैंने यहाँपर जो कुछ लिखा है सो असलमें पूज्य महात्मा पुरुषोंका जूठन-प्रसाद ही है। जिन प्राचीन या अर्वाचीन महात्माओंका मत इस मतसे भिन्न है, वे सभी मेरे लिये तो उसी भावसे पूज्य और आदरणीय हैं। मैंने उनकी वाणीका अनादर करनेके अभिप्रायसे एक अक्षर भी नहीं लिखा है। अवश्य ही मुझे यह मत प्यारा लगता है, सम्भव है इसमें मेरी रुचि और इस ओरकी आसक्ति ही खास कारण हो। मैं तो सब संतोंका दासानुदास और उनकी चरणरजका भिखारी हूँ!

पुरुषोत्तम-तत्त्व

विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका प्रधान प्रतिपाद्य साध्यतत्त्व 'पुरुषोत्तम' है और उसके प्राप्त करनेका प्रधान साधन भगवान्‌की 'अनन्य शरणागति' या 'पूर्ण समर्पण' है। इसी परमतत्त्वके विवेचनमें प्रसंगानुसार गीतामें विविध अवान्तर तत्त्वोंकी और साधनोंकी आलोचना हुई है। जिस प्रकृति और पुरुषके संयोगसे भगवान् अपनेको अनन्त ब्रह्माण्डरूपमें प्रकाशित किये हुए हैं, वे 'प्रकृति-पुरुष' तत्त्व गीताके अनुसार भगवान्‌की अपनी ही 'अपरा' और 'परा' नामक दो प्रकृतियाँ हैं (गीता ७। ४-५)। 'अपरा' जड है और 'परा' चेतन है। इस चेतन परा प्रकृतिके द्वारा ही समस्त जगत् विधृत है। भगवान्‌की यह चेतन प्रकृति उनकी स्वरूपभूता महाशक्तिका ही अंश है।

तेरहवें अध्यायमें जिन प्रकृति-पुरुषका विवेचन है, वे प्रकृति-पुरुष यह अपरा और परा प्रकृति ही हैं; परंतु यह गीतोक्त पुरुष सांख्यका 'नाना' पुरुष नहीं है। यह भगवान्‌की जीवभूता चेतन प्रकृति है, जो लीलासे अनन्त जीवोंके रूपमें प्रतिभात होती है।

सांख्य इन दोनों तत्त्वोंको मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् और उनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌का उदय मानता है। सांख्यका सिद्धान्त है—पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, गुणातीत और चित्स्वरूप है; प्रकृति विकारशील, परिणामिनी, क्रियावती और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति दोनों सर्वथा विपरीत धर्मवाले दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। इनमें गुणमयी प्रकृति मूल-उपादान कारण है। उसीके

परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है, परंतु पुरुषके संयोग बिना प्रकृतिमें परिणाम नहीं होता और परिणाम हुए बिना जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है। मूलतः दोनों पूर्णरूपसे पृथक् हैं। उनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्व-विमर्शके द्वारा इनके पार्थक्यका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर यह संयोग टूट जाता है, परंतु इससे जगत् मिट नहीं जाता। जिस पुरुषविशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है, उसके लिये जगत् नहीं रहता। वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होकर अपने नित्य शुद्धस्वरूपमें स्थित हो जाता है; यही मुक्ति है। अवशेष समस्त पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त ही बने रहते हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन पुरुषोंकी अनन्तताका प्रतिपादन करता है।

वेदान्तका प्रचलित सिद्धान्त सांख्यकी इस तत्त्वविवेचनाको स्वीकार करता है, परंतु परमार्थतः नहीं। परमार्थकी स्थितिमें वह ब्रह्मके अतिरिक्त किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। रज्जुमें सर्पकी भाँति समस्त विश्वको और विश्वकी सारी कर्मधाराको वह मिथ्या, अविद्या-सम्भूत और बिना हुए ही प्रतिभास होनेवाली बतलाता है। वेदान्त तीन सत्ता मानता है— १-पारमार्थिक, २-व्यावहारिक और ३-प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्तामें अर्थात् वास्तवमें एक ब्रह्म ही है। अन्य सबका अत्यन्ताभाव है। ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है। मायासे ब्रह्ममें स्पन्दन माना जाता है, इस स्पन्दनके उत्पन्न होनेपर व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताका आविर्भाव होता है। जाग्रत्‌में व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। व्यावहारिक सत्तामें छः पदार्थ हैं— ब्रह्म, ईश्वर, जीव तीनोंका परस्पर भेद,

अविद्या और अविद्याके साथ जीवका सम्बन्ध। व्यावहारिक सत्तामें ये सभी अनादि हैं। इनमें पाँच अनादि-सान्त हैं, एक ब्रह्म ही अनादि-अनन्त है। जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। सारा भेद उपाधिकृत है। अविद्याकी उपाधिवाला जीव, मायाकी उपाधिवाला ईश्वर और इन दोनोंसे सर्वथा रहित ब्रह्म है। उपाधि अज्ञानमें है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता भी अज्ञानमें ही है।

परंतु गीता इन दोनोंसे विलक्षण कुछ नयी बात कहती है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार जगत्की उत्पत्ति पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे हुई है, यह सत्य है, परंतु गीताका वह पुरुष भगवान्की ही एक प्रकृति है और वह एक ही है। साथ ही ये ही (दोनों प्रकृति और पुरुष ही) परम तत्त्व भी नहीं हैं। इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध प्रकाशमात्र हैं। इसीके साथ-साथ गीता स्पष्टरूपसे कहीं यह भी नहीं कहती कि 'यह जगत् रज्जुमें सर्पकी भाँति सर्वथा अविद्याकृत है और बिना हुए ही भास रहा है। और अविद्या तथा मायाकी उपाधिसे जीव, ईश्वर तथा ब्रह्ममें व्यावहारिक भेद है।' भगवान् विश्वको अपने सकाशसे अपनी अध्यक्षतामें अपनी ही प्रकृतिके द्वारा प्रादुर्भूत बतलाते हैं और अपने उसमें नित्य व्याप्त रहनेकी घोषणा करते हैं। यह नित्य परिवर्तनशील, अनन्त विचित्र शक्तियों और पदार्थोंसे और उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त समस्त जगत् लीलामय भगवान्की ही अभिव्यक्ति है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्का अक्षर और चिद्भाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार, अक्षर, असंग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है तथा भगवान्की स्वरूपभूता शक्तिके अंशरूप इसी चेतन परा प्रकृतिकी सत्ता और

शक्तिद्वारा यह समस्त जगत् विधृत है। अर्थात् जगत् नहीं है ऐसा नहीं, जगत् है और वह भगवान्‌से भरा हुआ है। लीलासे अभिन्न लीलामय भगवान्‌का नित्य लीला-क्षेत्र है। अवश्य ही जो भगवान्‌को भूलकर, भगवान्‌को न मानकर केवल जगत्‌को देखते हैं, उनके लिये यह जगत् अत्यन्त भयंकर और दुःखमय है।

परंतु गीतोक्त 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' केवल इस विश्वमें व्याप्त है, इतनी ही बात नहीं है, वह विश्वसे परे भी है। विश्व तो उसके ऐश्वर्य-योगके एक अंशमात्रमें है। वह अनन्त है, असीम है, अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है और नित्य अपनी महिमामें स्थित है। इस समस्त जगत्‌के अंदर और जगत्‌से परे जो सब तत्त्व हैं, वे समस्त तत्त्व इस पुरुषोत्तमकी ही अभिव्यक्ति हैं। सम्पूर्ण तत्त्वोंमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, निर्लेप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चरम तत्त्व है—अक्षर ब्रह्म। गीतामें भगवान् पुरुषोत्तम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उस 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ (१४। २७)। आठवें अध्यायमें जिन छः तत्त्वोंका भगवान्‌ने विवेचन किया है और सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्र रूपका प्रतिपादन करते हुए जिन तत्त्वोंके सहित अपनेको जाननेकी बात कही है, उन तत्त्वोंमें भी स्पष्टतः 'अक्षर ब्रह्म' का नाम आया है। भगवान्‌ने बतलाया है कि १-परम अक्षर 'ब्रह्म' है, २-मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न निर्विकार परा प्रकृतिरूप जो मेरा भाव है वह 'अध्यात्म' है, ३-अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप मेरा क्षरभाव ही 'अधिभूत' है, ४-भूतोंका उद्‌भव और अभ्युदय—पुरुषद्वारा प्रकृतिके ईक्षणरूप अथवा संकल्परूप जिस विसर्गसे होता है, वही 'कर्म' है, ५-विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है, इसीको ब्रह्म कहते हैं और ६-शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ तथा

अन्तकालमें भी जो पुरुष मेरे इस समग्र स्वरूपका स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (गीता ८।३—५)।

गीताके '**अहम्**', '**मम**', '**माम्**', '**मे**', '**मयि**' आदि अस्मत् पदोंसे और पूर्वापरका सारा विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही गीताके पुरुषोत्तम-तत्त्वके दिव्य मूर्तस्वरूप हैं। गीताकी सारी आलोचना इन्हींको लेकर हुई है और स्थान-स्थानपर नाना प्रकारसे इन्होंने अपनेको जगद्व्यापी, जगत्स्रष्टा, जगन्मय और जगत्से अत्यन्त अतीत परम तत्त्व घोषित किया है।

ये श्रीकृष्ण निर्गुण हैं या सगुण, निराकार हैं या साकार, ज्ञेयतत्त्व हैं या ज्ञाता, मायामय हैं या मायासे अतीत, आदि प्रश्नोंका उत्तर युक्तियोंसे और प्रमाणोंसे देना तथा समझना सम्भव नहीं है। भगवान्की कृपासे ही भगवान्का कोई तत्त्व समझमें आ सकता है। गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है कि 'ब्रह्मकी प्राप्तिके अनन्तर मेरी 'परा भक्ति' मिलती है और उस परा भक्तिके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है' (१८।५४-५५)।

इतना होते हुए भी शास्त्रोंके और भगवान्के श्रीमुखसे निकले हुए वचनोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी अपने अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित हैं, प्राकृत क्रियाओंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी नित्यलीलामय हैं और जड पांचभौतिक आकारसे सर्वथा रहित होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप, हानोपादानरहित, देह-देहिभेदहीन दिव्य देहसे नित्य युक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवान् शंकरजीसे स्वयं कहा है—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात् तथेश्वरम्।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात् प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥

(पद्म०, पा० ५१। ६६—७१)

'शंकर! मेरे जिस अलौकिक रूपको आज आपने देखा है, वह विशुद्ध प्रेमकी घनमूर्ति है और सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदोंके समुदाय मेरे इसी रूपको निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजन्य गुणोंका अभाव होनेसे और मेरे अंदर गुणोंकी सत्ताको असिद्ध मानकर वे मुझे 'निर्गुण' कहते हैं और अनन्त होनेसे मुझे 'ईश्वर' कहते हैं और मेरा यह रूप प्राकृतिक नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता, इसलिये महेश्वर! ये समस्त वेद मुझे रूपरहित अर्थात् 'निराकार' कहते हैं। अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक होनेके कारण पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और इस विश्वप्रपंचका कर्ता न होनेसे वे मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं; क्योंकि शिव! स्वयं मैं सृष्टि आदि कुछ भी कार्य नहीं करता; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मेरे अंश ही मायाके गुणोंसे सृष्टि आदि कार्य करते हैं।'

यह भगवान्‌का निर्गुण, निराकार और सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसी स्वरूपमें जो भगवान्‌की अभिन्नस्वरूपभूता महाशक्ति हैं, जिनका एक अंश परा प्रकृति है और जिनके न्यूनाधिक शक्तिसम्पन्न अनेकों छोटे-बड़े रूप हैं, जो सृष्टिके सृजन, पालन और संहारमें भगवान्‌के अंशावतार वस्तुतः अभिन्नस्वरूप त्रिदेवोंकी सहायता करती रहती हैं, वे मूलशक्ति श्रीराधाजी हैं। ये भगवान् श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न हैं, केवल लीलाके लिये ही एक ही भगवान्‌के इन दो रूपोंका प्रकाश है। देवर्षि नारदने श्रीराधाजीका स्तवन करते हुए कहा है—

तत्त्वं विशुद्धसत्त्वासु शक्तिर्विद्यात्मिका परा।
परमानन्दसन्दोहं दधती वैष्णवं परम्॥
कलयाश्चर्यविभवे ब्रह्मरुद्रादिदुर्गमे।
योगीन्द्राणां ध्यानपथं न त्वं स्पृशसि कर्हिचित्॥
इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिस्तवेशितुः।
तवांशमात्रमित्येवं मनीषा मे प्रवर्तते॥
माया विभूतयोऽचिन्त्यास्तन्मायार्भकमायिनः।
परेशस्य महाविष्णोस्ताः सर्वास्ते कलाः कलाः॥
आनन्दरूपिणी शक्तिस्त्वमीश्वरी न संशयः।

(पद्म०, पा० ४०। ५३—५७)

'आप ही तत्त्वात्मिका, विशुद्धसत्त्वमयी, भगवान्‌की स्वरूपाशक्ति एवं परा विद्या हैं। आप ही विष्णुके परमानन्दपुंजको धारण करती हैं (अर्थात् उनका आनन्दांश हैं)। आपकी एक-एक कलामें अत्याश्चर्यमय ऐश्वर्य भरा हुआ है; ब्रह्मा, रुद्र आदि महान् देवगण भी आपके स्वरूपको कठिनतासे जान सकते हैं। देवि! बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी आप नहीं आतीं। मेरी बुद्धिमें तो यह आता है कि आप ही अखिल जगत्‌की अधीश्वरी

हैं और इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति आपके ही अंश हैं। मायासे बालक बने हुए मायेश्वर भगवान् महाविष्णुकी जितनी भी अचिन्त्य मायाविभूतियाँ हैं, वे सब आपकी ही अंशांशरूपिणी हैं। आप ही आनन्दरूपिणी शक्ति हैं और आप ही परमेश्वरी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।'

इस वर्णनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि भगवान्‌की यह स्वरूपभूता शक्ति जगत्‌को अज्ञानसे ढक रखनेवाली जड 'माया' कदापि नहीं है। यह भगवान्‌की आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति है, इसीको लेकर भगवान् अवतरित हुआ करते हैं। यह अभिन्नशक्ति-शक्तिमान् स्वरूप ही 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' है। इसी पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें देवी पार्वतीके प्रति भगवान् शंकरके ये वचन हैं—

यदङ्घ्रिनखचन्द्रांशुमहिमान्तो न विद्यते।
तन्माहात्म्यं कियद्देवि प्रोच्यते त्वं मुदा शृणु॥
अनन्तकोटिब्रह्माण्डे अनन्तत्रिगुणोच्छ्रये।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
सृष्टिस्थित्यादिना युक्तास्तिष्ठन्ति तस्य वैभवाः।
तद्रूपकोटिकोट्यंशाः कलाः कन्दर्पविग्रहाः॥
जगन्मोहं प्रकुर्वन्ति तदण्डान्तरसंस्थिताः।
तद्देहविलसत्कान्तिकोटिकोट्यंशको विभुः॥
तत्प्रकाशस्य कोट्यंशरश्मयो रविविग्रहाः।
तस्य स्वदेहकिरणैः परानन्दरसामृतैः॥
परमामोदचिद्रूपैर्निर्गुणस्यैककारणैः।
तदंशकोटिकोट्यंशा जीवन्ति किरणात्मकाः॥
तदङ्घ्रिपंकजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः।
आहुः पूर्णब्रह्मणोऽपि कारणं वेददुर्गमम्॥

तदंशसौरभानन्तकोट्यंशो विश्वमोहनः।
तत्स्पर्शपुष्पगन्धादिनानासौरभसम्भवः ॥
तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः ॥

(पद्म०, पा० ३८। ११२—१२०)

'देवि! जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंकी भी अनन्त महिमा है, उन श्रीकृष्णकी अपार महिमाका कुछ अंश मैं वर्णन करता हूँ, उसे तुम प्रसन्न होकर सुनो। जिनमें त्रिगुणोंका ही अनन्त विस्तार है ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्त कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं; वे सब उन्हीं परम महेश्वरकी कलाके करोड़वें अंश हैं। वे उन्हींके ऐश्वर्यांश हैं और सृष्टि, स्थिति आदि अधिकारोंसे युक्त होकर उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित हैं। उनके सौन्दर्यके करोड़ों अंश कामदेवके रूपमें उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित होकर जगत्को मोहित कर रहे हैं। सर्वव्यापी विभु उनके दिव्य मंगल-विग्रहकी दिव्य कान्तिका करोड़वाँ अंश है और उस ब्रह्मके प्रकाशके करोड़ों अंश उन-उन ब्रह्माण्डोंमें सूर्य-मण्डलोंके रूपमें स्थित हैं, भगवान्के उस दिव्य प्रकाशके अंशांशरूप ये किरणमय रविमण्डल उन परम प्रकाशमय भगवान्के दिव्य विग्रहकी परमानन्दरूप, रसमय एवं अमृतमय, अलौकिक, गन्धयुक्त, चिद्रूप एवं निर्गुण ब्रह्मके कारणभूत किरणोंसे ही जीवन धारण करते हैं और भगवान्के युगल-चरणारविन्दके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाके समान प्रकाशवाले हैं। इन भगवान् श्रीकृष्णको पण्डितगण शुद्ध पूर्णब्रह्मका भी कारण और वेदोंके द्वारा भी दुष्प्राप्य कहते हैं। विश्वको मोहित करनेवाला नाना प्रकारके पुष्पोंका गन्ध

तथा अन्य प्रकारके उत्तम गन्ध इन्हींके दिव्य अंगगन्धका करोड़वाँ अंश है, उनकी वल्लभा कृष्णकान्ता श्रीराधिका आद्या प्रकृति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गादि देवियाँ उन्हीं श्रीराधाकी कलाके करोड़वें अंश हैं।'

यही परम 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' है और सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र इसीकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

गीताका पर्यवसान साकार ईश्वरकी शरणागतिमें है

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् सच्चिदानन्दकी दिव्य वाणी है, इसका यथार्थ अर्थ भगवान् ही जानते हैं, हमलोग अपनी-अपनी भावना और दृष्टिकोणके अनुसार गीताका अर्थ निकालते हैं, यही स्वाभाविक भी है। परंतु स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेसे गीता ऐसा आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है कि किसी तरह भी इसकी शरण ग्रहण करनेसे शेषमें परमात्मप्रेमका पथ मिल जाता है। गीतापर अबतक अनेक टीकाएँ बनी हैं और भिन्न-भिन्न महानुभावोंने गीताका प्रतिपाद्य विषय भी भिन्न-भिन्न बतलाया है, उन विद्वानों और पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें ससम्मान नमस्कार करता हुआ, उनके विचारोंका कुछ भी खण्डन करनेकी तनिक-सी भी इच्छा न रखता हुआ, मैं पाठकोंके सामने अपने मनकी बात रखना चाहता हूँ। शास्त्रप्रतिपादित ज्ञानयोग, ध्यानयोग, समाधियोग, कर्मयोग आदि सर्वथा उपादेय हैं और प्रसंगवश गीतामें इनका उल्लेख भी पूर्णरूपसे है, परंतु मेरी समझसे गीताका पर्यवसान 'साकार भगवान्‌की शरणागति' में है और यही गीताका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। गीताके प्रधान श्रोता अर्जुनके जीवनसे यही सिद्ध होता है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी सखा थे, उनके चुने हुए मित्र थे। आहार, विहार, भोजन, शयन—सभीमें साथ रहते थे, अर्जुनने भगवान्‌को अपने जीवनका आधार बना लिया था, इसीलिये उनके ऐश्वर्यकी तनिक-सी भी परवा न कर मधुररूप

प्रियतम उन्हींको अपना एकमात्र सहायक और संगी बनाकर अपने रथकी या जीवनकी बागडोर उन्हींके हाथमें सौंप दी थी। दुर्योधन उनकी करोड़ों सेनाको ले गया, परंतु इस बातका अर्जुनके मनमें कुछ भी असन्तोष नहीं था। उसके हृदयमें सेनाबल—जडबलकी अपेक्षा प्यारे श्रीकृष्णके प्रेम-बलपर कहीं अधिक विश्वास था। इसीलिये भगवान्‌की आज्ञासे अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुए थे; परंतु युद्धक्षेत्रमें पहुँचते ही वे इस भगवत्-निर्भरताको भूल गये। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे युद्धमें प्रवृत्त होनेपर उन्हें बीचमें अपनी बुद्धि लगाकर युद्धको बुरा बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, किंतु बड़े समझदार अर्जुनके मनमें यहाँ अपनी समझदारीका अभिमान जाग्रत् हो उठा और इसीसे वे लीलामय प्रियतम भगवान्‌की प्रेरणाके विरुद्ध 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' कहकर चुप हो बैठे। यही अर्जुनका मोह था! एक ओर निर्भरता छूटनेसे चित्त अनाधार होकर अस्थिर हो रहा था, जिसके चेहरेपर विषादकी रेखाएँ स्पष्टरूपसे प्रस्फुटित हो उठी थीं, परंतु दूसरी ओर ज्ञानाभिमान जोर दे रहा था, इसीपर भगवान्‌ने अर्जुनको प्रज्ञावादियोंकी-सी बातें कहनेवाला कहकर चेतावनी दी। उनको स्मरण दिलाया कि 'तुझे इस ज्ञान-विवेकसे क्या मतलब है तू तो मेरी लीलाका यन्त्र है, मेरे इच्छानुसार लीलाक्षेपमें खेलका साधन बना रह।' परंतु अपने ज्ञानके अभिमानसे मोहित अर्जुनको इस तत्त्वकी स्मृति नहीं हुई, इसीलिये भगवान्‌ने आत्मज्ञान, कर्म, ध्यान, समाधि, भक्ति आदि अनेक विषयोंका उपदेश दिया, बीच-बीचमें कई तरहसे सावधान करनेका प्रयत्न भी चालू रखा; अपना प्रभाव, ऐश्वर्य, सत्ता, व्यापकता, विभुत्व आदि स्पष्टरूपसे दिखलानेके साथ ही लीलाका संकेत भी किया, बीच-बीचमें चुटकियाँ लीं, भय

दिखलाया, अर्जुन उनके ऐश्वर्यमय कालरूपको देखकर काँपने लगे, स्तुति की, परंतु उन्हें वास्तविक लीलाकार्यकी पूर्वस्मृति नहीं हुई। इससे अन्तमें परम प्रेमी भगवान्‌ने १८ वें अध्यायके ६४ वें श्लोकमें अपने पूर्वकृत उपदेशकी गौणता बतलाते हुए अगले उपदेशको 'सर्वगुह्यतम' कहकर अपना हृदय खोलकर रख दिया। यहाँका प्रसंग भगवान्‌की दयालुता और उनके प्रेमानन्त समुद्रका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। अपना प्रिय सखा, अपनी लीलाका यन्त्र, निज ज्ञानके व्यामोहमें लीलाकार्यको विस्मृत हो गया, अतएव उससे कहने लगे—'प्रियवर, मेरे परम प्यारे! इन पूर्वोक्त उपदेशोंसे तुझे कोई मतलब नहीं है, तू अपने स्वरूपको पहचान, तू मेरा प्यारा है—अपना है, इस बातका स्मरण कर, इसीमें तेरा हित है, मेरे ही कार्यके लिये मेरे अंशसे तेरा अवतार है। अतएव तू मुझीमें मन लगा ले, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, तू मेरा प्यारा अंग है, मुझीको प्राप्त होगा, पूर्वोक्त सारे धर्मका आश्रय या उनमें अपना कर्तव्यज्ञान छोड़कर केवल मेरी लीलाका यन्त्र बना रह, एक मेरी ही शरणमें पड़ा रह, तुझे पाप-पुण्यसे क्या मतलब, तुझे चिन्ता भी कैसी, मैं आप ही सब सँभालूँगा। मेरा काम मैं आप करूँगा, तू तो अपने स्वरूपको स्मरण कर, अपने अवतारके हेतुको सिद्ध कर, मुझ लीलामयकी विश्वलीलामें लीलाका साधन बना रह।'

बस, इस उपदेशसे अर्जुनकी आँखें खुल गयीं, उन्हें अपने स्वरूपकी स्मृति हो गयी। 'मैं लीलाका साधन हूँ, भगवान्‌के हाथका खिलौना हूँ, इनकी शरणमें पड़ा हुआ किंकर हूँ' यह बात स्मरण हो आयी, तुरंत मोह नष्ट हो गया और तत्काल अर्जुन लीलामें सम्मिलित हो गये, लीला आरम्भ हो गयी।

अर्जुनने भगवान्‌के उपर्युक्त गीतोक्त अन्तिम वचनोंको सुनते ही पिछले ज्ञानोपदेशसे मन हटा लिया। अपने-आपको भगवान्‌की लीलामें समर्पित करके अर्जुन निश्चिन्त हो गये और लीलामयकी इच्छा तथा संकेतानुसार प्रत्येक कार्य करते रहे।

महाभारतकी संहारलीला समाप्त हुई, अश्वमेधलीला हुई, अब अर्जुनको शान्तिके समय भगवान्‌की ज्ञानलीलामें सम्मिलित होनेकी आवश्यकता जान पड़ी, परंतु गीतोक्त ज्ञानको तो उन्होंने कोई परवा ही नहीं की थी। उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वे तो 'सर्वोत्तम सर्वगुह्यतम' शरणागतिका परम मन्त्र ग्रहणकर भगवान्‌के यन्त्र बन चुके थे। भगवान् दूसरी लीलाके लिये द्वारका जानेकी तैयारी करने लगे। अर्जुनको इधर ज्ञानलीलाके प्रसारमें साधन बनना था, इससे एक दिन उन्होंने एकान्तमें भगवान्‌से पूछा कि 'हे प्रियतम! हे लीलामय! संग्रामके समय मैं आपके '**माहात्म्यम्**' और '**रूपमैश्वरम्**' को जान चुका हूँ, उस समय आपने मुझे जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे मैं भूल गया हूँ, आप शीघ्र द्वारका जाते हैं, मुझे वह ज्ञान एक बार फिर सुना दीजिये। मेरे मनमें उसे फिरसे सुननेके लिये बार-बार कौतूहल होता है।' भगवान्‌ने अर्जुनको उलाहना देते हुए कहा कि 'तैंने बड़ी भूल की, जो ध्यान देकर उस ज्ञानको याद नहीं रखा, उस समय मैंने योगमें स्थित होकर ही तुझे 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था, ('**श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।**' महा०, अ० १६। ९) अब मैं उसे उसी रूपमें दुबारा नहीं सुना सकता, तथापि तुझे दूसरी तरहसे वह ज्ञान सुनाता हूँ।' (इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् वह ज्ञान पुनः सुनानेमें असमर्थ थे, अचिन्त्यशक्ति सच्चिदानन्दके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।) भगवान्‌का उलाहना देना युक्तियुक्त ही है; क्योंकि शरणागतिके

'सर्वगुह्यतम' भावमें स्थित होनेपर भी सब तरहकी लीलाविस्तारमें सम्मिलित होनेके लिये ज्ञानयोगादिके भी स्मरण रखनेकी आवश्यकता थी, लीला-कार्यमें पूर्ण योग देनेके लिये इसका प्रयोजन था, इसीलिये भगवान्ने फटकार बतायी, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि अर्जुन भगवत्-शरणागतिरूप गीताके प्रतिपाद्यको भूल गये थे। श्रीकृष्ण-शरणागतिमें तो उनका जीवन रँगा हुआ था, दूसरे शब्दोंमें श्रीकृष्ण-शरणागतिके तो वे मूर्तिमान् जीते-जागते स्वरूप थे। प्रेम और निर्भरताके नशेमें ज्ञानकी वे विशेष बातें, जो जगत्के लोगोंके लिये आवश्यक थीं, अर्जुन भूल गये थे, जो भगवान्ने 'अनुगीता' के स्वरूपमें प्रकारान्तरसे उन्हें फिर समझा दी। अनुगीताके आरम्भमें भगवान्के द्वारा कथित 'गुह्य' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्ने उसी ज्ञानके भूल जानेके कारण अर्जुनको फटकारा है, जो 'गुह्य' था। न कि 'सर्वगुह्यतम'। अनुगीताके प्रसंगसे अर्जुनको ज्ञानभ्रष्ट समझना, गीतोक्त उपदेशको विस्मृत हो जानेवाला जानना और भगवान्की वक्तृत्व और स्मृतिशक्तिमें मर्यादितपन मानना हमारी भूलके सिवा और कुछ नहीं है। गीताके प्राण, गीताका हृदय, गीताका उद्देश्य, गीताका ज्ञान, गीताकी गति, गीताका उपक्रम-उपसंहार और गीताका तात्पर्यार्थ 'साकार भगवान्की शरणागति' है, उसके सम्बन्धमें अर्जुनको कभी व्यामोह नहीं हुआ। इस लोकमें तो क्या इससे पहले और पीछेके सभी लोकों और अवस्थाओंमें वह इसी शरणागत सेवककी स्थितिमें रहे। इसीलिये महाभारतकारने अर्जुनकी सायुज्यमुक्ति नहीं बतलायी जो सत्य तत्त्व है; क्योंकि लीलामयकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले परम ज्ञानी नित्यमुक्त अनुचर निजजनोंके लिये मुक्ति अनावश्यक है।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'जिन भक्तोंने मेरे प्रति अपना आत्मसमर्पण कर दिया है, वे मुझे छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती-राज्य, पातालका साम्राज्य, योगकी सिद्धियाँ, यहाँतक कि अपुनरावर्ती (सायुज्य मोक्ष) भी नहीं चाहते।' वास्तवमें भगवान्‌की लीलामें लगे हुए शरणागत भक्तको मुक्तिकी परवा ही क्यों होने लगी? सच्ची बात तो यह है कि जबतक (**'भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते'**) भोग-मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें रहती है, तबतक लीलामें सम्मिलित होनेका भाव ही नहीं उत्पन्न होता, या तो वह जगत्‌के भोगोंमें रहना चाहता है या जगत्‌से भागकर छूटना चाहता है। लीलामें योग देना नहीं चाहता। अर्जुन तो लीलामें सम्मिलित थे, बीचमें अपने ज्ञानाभिमानका मोह हुआ, भगवान्‌की ओरसे सौंपे हुए पार्टको छोड़कर दूसरा मनमाना पार्ट खेलनेकी इच्छा हुई, यह मोह भगवान्‌ने गीतोक्त 'सर्वगुह्यतम' उपदेशसे नष्ट कर दिया, अर्जुन स्वस्थ हो गये। इसीलिये इस लोककी लीलाके बाद परम धाममें भी अर्जुन भगवान्‌की सेवामें ही संलग्न देखे जाते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर दिव्य देह धारण कर देवताओं, महर्षियों और मरुद्गणोंसे स्तुति किये हुए उन स्थानोंमें गये, जहाँ कुरुकुलके उत्तम पुरुष पहुँचे थे। इसके बाद वे परम धाममें भगवान् गोविन्द श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्।

× × × ×

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्॥
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः।
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।
तथास्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम्॥

(महा०, स्वर्गा० ४। २—४)

'धर्मराजने वहाँ अपने ब्राह्म शरीरसे युक्त गोविन्द श्रीकृष्णको देखा, वे अपने शरीरसे देदीप्यमान थे। उनके पास चक्र आदि दिव्य और घोर अस्त्र दिव्य पुरुषका शरीर धारण किये हुए उनकी सेवा कर रहे थे। महान् तेजस्वी वीर अर्जुन (फाल्गुन) उनकी सेवा कर रहे थे। ऐसे स्वरूपमें युधिष्ठिरने भगवान् मधुसूदनको देखा।' इस विवेचनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि गीताका पर्यवसान या प्रतिपाद्य विषय 'साकार ईश्वरकी शरणागति' है, यही परम गुह्यतम तत्त्व भगवान्ने अर्जुनको समझाया, यही उन्होंने समझा और उनके इस लोक तथा दिव्य भागवत-धामका दिव्य जीवन इसीका ज्वलन्त प्रमाण है। इससे कोई यह न समझे कि भगवान् और अर्जुन दिव्य परम धाममें साकाररूपमें रहनेके कारण उसीमें सीमाबद्ध हैं, वे लीलासे दिव्य साकार-विग्रहमें रहनेपर भी अनन्त और असीम हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य'

(१)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके रणांगणमें अर्जुन मोहग्रस्त होकर जब धनुष-बाण छोड़कर रथके पिछले भागमें बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'भैया अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे हो गया? यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित है, न स्वर्गदायक है और न कीर्ति ही करनेवाला है। पार्थ! तू नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तू युद्धके लिये उठ खड़ा हो।'

इससे भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें ही युद्धके लिये आज्ञा दे दी; परंतु अर्जुन तैयार नहीं हुए और उन्होंने अपनी मानसिक स्थितिके कारणोंका निर्देश करते हुए कहा कि 'मेरे लिये जो कल्याणकारक निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये। मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ। मुझ दीनको आप शिक्षा दीजिये'—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'।

अर्जुन भगवान्के प्रिय सखा थे, आहार-विहारमें साथ रहते थे, पर न तो कभी अर्जुनने शरणागत होकर कुछ पूछा, न भगवान्ने ही कुछ कहा। आज कहनेका अवसर उपस्थित हो गया। परंतु भगवान् कुछ कहते, इससे पहले ही अर्जुनने अपना मत प्रकट कर दिया, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'— '**न योत्स्ये**'। अर्जुन यदि यह न कहते तो शायद भगवान्ने गीताके अन्तमें जो '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' का सर्वगुह्यतम उपदेश दिया है, अभी दे देते; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन अत्यन्त प्रिय

थे। उनका सारा भार वे उठा लेना चाहते थे। वे स्वयं साध्य-साधन बनकर अर्जुनको निश्चिन्त कर देना चाहते थे। परंतु भगवान्‌की कृपा तथा मंगल-विधानसे ही अर्जुन बोल उठे—और इससे अर्जुनको शरणागतके लिये पूर्णरूपसे प्रस्तुत न देखकर भगवान्‌ने कर्म, भक्ति, ज्ञानकी त्रिविध सुधाधारा बहायी। नहीं तो शायद जगत् इस महान् गीता-ज्ञान-सुधा-रससे वंचित ही रहता! अस्तु!

भगवान्‌ने गीतामें गुह्य-से-गुह्य ज्ञानका उपदेश किया। जगत्‌के विविध क्षेत्रोंके सभी अधिकारियोंके लिये यह महान् दिव्य शिक्षक प्रस्तुत हो गयी। ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी ही नहीं, संसारके विविध उलझनोंमें फँसे हुए तमोग्रस्त सभी लोगोंके लिये गीता दिव्य प्रकाशस्तम्भ बनकर सभीको उनके अधिकारानुसार पथ-प्रदर्शन करने लगी। इसीसे अरण्यवासी विरक्त साधुके हाथमें भी गीता रहती है और क्रान्तिकारी युवकके हाथमें भी गीता है। दोनों ही उससे प्रकाश पाते हैं। गीताके उपदेशमें बीच-बीचमें भगवान्‌ने अत्यन्त रहस्यमय गुह्यतम बातें भी कहीं—जैसे 'राजविद्या-राजगुह्य' रूप नवम अध्यायमें स्वयं सारे योग-क्षेमका भार उठानेकी प्रतिज्ञा करते हुए अन्तमें स्पष्ट कह दिया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'तू मुझ (श्रीकृष्ण)-में मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार अपनेको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्‌ने अपनेसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़नेके लिये यह 'राजगुह्य-गुह्यतम' आदेश दे दिया। पर अर्जुन कुछ नहीं बोले। तदनन्तर चौदहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अपनेको 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा' बतलाकर अर्जुनका ध्यान खींचा। इसके पश्चात् पंद्रहवें अध्यायमें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको 'क्षर' (नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र)-से सर्वथा अतीत और अविनाशी 'अक्षर'—जीवात्मासे या '**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८। ३)-के अनुसार ब्रह्मसे उत्तम बतलाकर कहा—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

(१५। १९-२०)

'भारत! जो मूर्ख नहीं है, वह ज्ञानी पुरुष मुझ (श्रीकृष्ण)-को ही 'पुरुषोत्तम' जानता है और वही सर्वज्ञ है। इसलिये वह सब प्रकारसे निरन्तर मुझ (श्रीकृष्ण)-को ही भजता है। निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसको तत्त्वसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।'

यहाँ भगवान्‌का स्पष्ट संकेत है कि 'अर्जुन! तू मुझ पुरुषोत्तमके ही सब प्रकारसे शरण हो जा। इससे तू कृतकृत्य हो जायगा।' पर अर्जुन कुछ नहीं बोले। तदनन्तर १६ वें अध्यायसे १८ वें अध्यायके ५३ वें श्लोकमें विविध ज्ञानका वर्णन करके ५४ वें तथा ५५ वें श्लोकोंमें 'पराभक्ति' की बात कहकर भगवान्‌ने फिर अपनी ओर लक्ष्य कराया। पर जब अर्जुन फिर भी कुछ नहीं बोले तब जरा डाँटकर रूखे स्वरमें और अपनेको अलगसे हटाते हुए भगवान्‌ने कहा—

'यदि अहंकारके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। तू जो अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या है। तेरी प्रकृति ही तुझे युद्धमें लगा देगी। कौन्तेय! जिस कर्मको तू मोहके कारण नहीं करना चाहता, उसको अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा विवश होकर करेगा।'

इसके बाद भगवान्‌ने अपना सम्बन्ध बिलकुल हटाकर अन्तर्यामी ईश्वरकी ओर लक्ष्य कराते हुए अर्जुनसे कहा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

(गीता १८। ६१—६३)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी ईश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें जा। उसकी कृपासे तू परमशान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा। इस प्रकार मैंने तो यह **'गुह्याद् गुह्यतर'** गुह्योंसे भी गुह्य ज्ञान तुझसे कह दिया। अब इसपर भलीभाँति विचार करके तू जैसा जो चाहता है सो कर।'

भगवान्‌के इन शब्दोंसे स्पष्ट यह ध्वनि निकलती है—मानो वे अर्जुनसे कह रहे हैं कि 'अर्जुन! तूने कहा था कि मैं आपके शरण हूँ और मैंने यही समझकर तेरा सारा भार वहन करना भी चाहा, तुझे कई प्रकारसे समझाया—संकेत किया, स्पष्ट शब्दोंमें

भी अपनी महत्ता बतलाकर तुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न किया, पर मैं नहीं कर पाया। मैंने अपनी महत्ताके अतिरिक्त तुझको और जो कुछ कहा है—बताया है, वह भी कम महत्त्वका नहीं है। वह भी गोपनीय-से-गोपनीय है। मालूम होता है तुझे तेरा अन्तर्यामी भ्रमा रहा है, अतएव अब तू मेरी नहीं, उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें जा, वही तुझे शान्ति देगा। मैं तो जो कुछ कह सकता था, कह चुका, अब तेरी जैसी इच्छा हो, वही कर, मेरी कोई जिम्मेवारी नहीं है।'

अर्जुनने भी समझा कि 'भगवान् जो कुछ कह रहे हैं, ठीक है। इतना समझाने-सिखानेपर भी मैं अबतक नहीं समझा। इनकी महत्ता जानकर भी मैंने नहीं जाना। इसीसे तो हताश-से होकर मेरे परम आश्रय प्रियतम प्रभु आज मुझे दूसरेका आश्रय लेनेके लिये कह रहे हैं।' इसीलिये तो 'आज्ञा—आदेश न देकर मुझे इच्छानुसार करनेकी (**'यथेच्छसि तथा कुरु'**) बात कह रहे हैं। मैं कितना मूर्ख हूँ।' इस प्रकार समझकर अर्जुन अत्यन्त विषादग्रस्त हो गये और मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए भगवान्‌की ओर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे देखने लगे। वाणी बंद हो गयी। शरीर अवश-सा होकर गिरने लगा। यह सब इसीसे सूचित होता है कि **'यथेच्छसि तथा कुरु'** कहनेके बाद अर्जुनके बिना कुछ कहे ही भगवान्‌का रुख बदल गया और वे अत्यन्त स्नेहभरे शब्दोंमें अपनी ओरसे पुनः अपनी महान् महत्ताकी बात कहने लगे। मालूम होता है अर्जुनकी विषादयुक्त मुखाकृति देखकर भगवान्‌का स्नेह उमड़ आया। भगवान् तो यही परिस्थिति लाना चाहते थे, जिसमें अर्जुन सर्वतोभावसे शरणागत हो जाय, वह ऐसी स्थितिमें आ जाय, जिसमें वह भगवान्‌को ही एकमात्र साध्य-साधन सब कुछ मानकर अपनेको पूर्णरूपसे समर्पण कर

दे। भगवान्ने अर्जुनके हावभावसे यह निश्चितरूपसे जान लिया कि अब 'शक्ति' ग्रहण करनेके लिये शिष्य पूर्णरूपसे प्रस्तुत है और इसीलिये तुरंत शक्तिपात करके उसे शक्तिमान् बना दिया। भगवान्ने कहा—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'भैया! तू 'सर्वगुह्यतम' मेरे परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन। तू मेरा दृढ़ इष्ट है—अतिशय प्रिय है, अतएव तेरे ही हितके लिये यह कह रहा हूँ।' अभिप्राय यह कि भगवान् अर्जुनको उदास देखकर उन्हें गले लगाकर अब वह बात कहना चाहते हैं, जो 'सर्वगुह्यतम' है। गुप्त (गुह्य), गुप्तोंमें भी गुप्त (गुह्यतर), उसमें भी गुप्त (गुह्यतम) बात हुआ करती है, पर यह तो गुह्यतममें भी सबसे अधिक गुह्यतम—'सर्वगुह्यतम' है, तो अत्यन्त अन्तरंगता हुए बिना कही जा सकती ही नहीं। तू मेरा प्रिय ही नहीं, ऐसा प्रिय है कि उसमें कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। इसीसे तेरे ही हितके लिये यह बात कह रहा हूँ—और यह ऐसी बात है कि 'जो सबसे श्रेष्ठ है, पहले भी इसे कह चुका हूँ, तूने ध्यान नहीं दिया। अब तू फिरसे सुन।' इस प्रकार कहकर मानो भगवान्ने वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसकी भूमिका बाँधी है। अथवा अब अगले दो श्लोकोंके रूपमें जो महान् दिव्य रत्न प्रदान करना चाहते हैं, उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये मंजूषाके नीचेका हिस्सा दिखाया है। इसमें वे रत्न रखकर फिर उसके ऊपरका ढक्कन देंगे ६७ वें श्लोकके रूपमें। वे अमूल्य परम गोपनीयोंमें गोपनीय रत्न क्या हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको ही प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ परमपुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

भगवान्‌ने इन शब्दोंके द्वारा अर्जुनसे कहा है कि अबतक जो बात कही, वह तो गुप्त-से-गुप्त होनेपर भी प्रायः सबको कही जा सकती थी। अब यह ऐसी बात है, जिसका सम्बन्ध तुझसे और मुझसे ही है। तू क्यों किसी बखेड़े-झगड़ेमें पड़ता है? मन लगानेयोग्य, भक्ति-सेवा करनेयोग्य, पूजा करनेयोग्य और नमस्कार करनेयोग्य समस्त चराचर विश्वमें और विश्वसे परे भी यदि कोई है तो वह एकमात्र मैं ही हूँ। लोग मुझे न जान-मानकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि जो यों मान लेता है, वह मुझ ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठास्वरूप मुझ भगवान्‌को पाता है। तू मेरा प्रिय है—अन्तरंग इष्ट है। इसीसे अपना निजका यह महत्त्वपूर्ण रहस्य तुझे बतलाया है। तू यही कर। अबतक जो कुछ धर्म मैंने बतलाये हैं, उन सबकी तुझे आवश्यकता नहीं, छोड़ उन सबको। सब धर्मोंका परम आश्रय तो मैं हूँ, तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। धर्मोंके त्यागसे पापका भय हो तो तू डर मत, जरा भी चिन्ता न कर—तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा। असल बात तो यह है—जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं आ सकता,

वैसे ही मेरी शरणमें आये हुएके समीप पाप-ताप आ ही नहीं सकते। तू निश्चिन्त हो जा।

अर्जुनने इसकी मूक स्वीकृति दी—मुखमण्डलपर विलक्षण आनन्दकी छटा लाकर। तब भगवान्ने कहा—देख भैया! यह अत्यन्त ही गोपनीय रहस्यकी बात है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(गीता १८। ६७)

'यह सर्वगुह्यतम तत्त्व किसी भी कालमें जो तपरहित हो—जो सर्वत्यागरूपी कष्ट सहनेको न तैयार हो, जो मेरा भक्त न हो, जो सुनना न चाहता हो और जो मुझमें दोष देखता हो—उससे कभी कहना ही मत।'

इस श्लोकके द्वारा मानो भगवान्ने रत्नोंकी पेटीके ढक्कन लगा दिया। अतएव इस श्लोकमें जो 'सर्वधर्मत्याग'की आज्ञा है, वह ठीक इसी अर्थमें है। इस प्रकार सर्वधर्मत्याग करके शरणागत हो जानेवाला पुरुष सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, किसी भी ऊहापोहमें न पड़कर वह अपने शरण्यके कथनानुसार सहज आचरण करता है। सहज रूपमें ही शरण्यके अनुकूल आचरण करना उसका एकमात्र धर्म होता है। वह और किसी धर्मको जानता ही नहीं। सब धर्मोंको भुलाकर वह इस एक ही धर्मका अनन्य सेवन करता है। यह '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' श्लोक ही भगवद्गीताका अन्तिम उपदेश है। अब अर्जुन इस तत्त्वको जान-मान गये हैं। उनका मुखमण्डल एक परम स्निग्ध उज्ज्वल दीप्तिसे चमचमा उठा है। तब भगवान् पुनः निश्चय करनेके लिये उनसे पूछते हैं, क्यों अर्जुन! मेरे इस सर्वगुह्यतम उपदेशको

तूने पूरा मन लगाकर सुना? और इसे सुनकर तेरा मोह दूर हुआ? अर्जुन उत्तरमें कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८। ७३)

'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त कर ली। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ अतः आप जो कहेंगे, वही करूँगा।'

इस श्लोकमें अर्जुनके द्वारा शरणागतिकी स्वीकृति है अथवा यही शरणागतिका स्वरूप है। अर्जुन कहते हैं—'मेरे मोहका नाश हो गया (**'नष्टो मोहः'**) मैं अहंकारवश कह रहा था कि युद्ध नहीं करूँगा। वह मोह था। अब मुझे स्मरण हो आया कि मैं तो आप यन्त्रीके हाथका यन्त्रमात्र हूँ (**'स्मृतिर्लब्धा'**)। पर यह मोहनाश और स्मृतिकी प्राप्ति भी मेरे पुरुषार्थसे नहीं हुई, यह आपकी शरणागत-वत्सलतारूप कृपासे हुई है (**'त्वत्प्रसादात्'**) और इस कृपाकी भी मैंने साधनसे उपलब्धि नहीं की, अच्युत! आप अपने विरदसे कभी च्युत नहीं होते, अतः स्वभावसे आपने कृपा की है। अब मैं यन्त्ररूपमें स्थित हो गया (**'स्थितोऽस्मि'**) मेरे सारे संशय-भ्रम मिट गये (**'गतसन्देहः'**)। अब तो बस, आप जो कुछ कहेंगे, वही करूँगा (**'करिष्ये वचनं तव'**)।' यही 'शरणागति-धर्म' है।

और सचमुच अर्जुन इस शरणागतिके सिवा और सब धर्मोंके ज्ञानको भूल गये। इसका पता लगता है तब जब अश्वमेधपर्वमें अर्जुन भगवान्‌से उन धर्मोंको फिरसे सुनना चाहते हैं और कहते हैं कि 'मैं उनको भूल गया।' उस समय भगवान् उन्हें उलाहना देते हुए कहते हैं कि 'मैंने

उस समय तुम्हें 'गुह्य' ज्ञान सुनाया था जो स्वरूपभूत शाश्वत-धर्म था।'

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मस्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान्॥

यहाँ 'गुह्य' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने श्रेष्ठ वचन (**'परमं वचः'**)-के रूपमें जो 'सर्वधर्मत्याग' करके अनन्य शरणागतिका 'सर्वगुह्यतम' उपदेश किया था उसे अर्जुन नहीं भूले थे, वे तो उसी 'गुह्य' को भूल-से गये थे, जिसका त्याग करनेके लिये भगवान्ने कहा था। इसीसे यहाँ 'गुह्य' शब्द आया है।

अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि इस श्लोकमें सब धर्मोंको त्यागकर अनन्य शरणागतिका ही उपदेश है और यही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

(२)

प्रश्न—गीतामें भगवान्ने सब धर्मोंका त्याग करके शरण आनेकी बात कही है। इस सब धर्मोंके त्यागका आप क्या अर्थ मानते हैं? धर्मोंका त्याग न? और यदि यही अर्थ है तथा भगवान्की भक्तिमें सभी धर्मोंका त्याग आवश्यक है, तो फिर एक लौकिक धर्मकी परवा न करके और लोकनिन्दासे न डरकर गुरु-सेवनमें क्या आपत्ति है?

उत्तर—गीतामें कहे हुए भगवान्के **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** (१८।६६)-का अर्थ बहुत प्रकारसे किया जाता है। परंतु मैं मान लेता हूँ कि इसका अर्थ 'सब धर्मोंका त्याग' ही है, और वस्तुतः मैं मानता भी यही हूँ। भगवच्छरणागतिकी एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें भक्त धर्माधर्मके स्तरसे बहुत ऊपर उठ जाते हैं। उनका

धर्म ही होता है—धर्माधर्मके ऊपर उठकर केवल श्रीभगवान्‌के हाथका यन्त्र बने रहना। भगवान् जो करावें सो करना, जैसे नचावें वैसे ही नाचना। परंतु यह स्थिति सहज ही नहीं प्राप्त होती। पूर्ण वैराग्य होनेपर ही इस स्थितिकी ओर साधक चल सकता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(११। २०। ९)

'जबतक इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे वैराग्य न हो जाय और भगवान्‌की लीलाओंके श्रवण-कीर्तन आदिमें ही सर्वार्थ-सिद्धिका विश्वास न हो जाय, तबतक कर्म करने चाहिये।' इससे यह सिद्ध है कि पूर्ण वैराग्य तथा भक्तिनिष्ठाकी प्राप्ति हुए बिना जो विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंके शासनका तथा शास्त्रोंके अनुसार कर्तव्यधर्मका त्याग कर देते हैं, वे बड़ी गलती करते हैं और परिणाममें उन्हें बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। यह सत्य है कि सर्वधर्माधर्मसे ऊपर उठकर श्रीभगवान्‌की अहैतुकी भक्ति पाना ही मुख्य कर्तव्य है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ३२)

'उत्तम (श्रेष्ठ) वही है जो मेरे बतलाये हुए समस्त धर्माचरणरूप गुणों और अधर्माचरणरूप दोषोंको भलीभाँति त्यागकर मुझको ही भजता है।'

परंतु ऐसी अवस्था सहसा नहीं प्राप्त होती। इसके लिये अर्जुनकी भाँति अनासक्त और निष्काम होनेकी सतत साधना

करनी पड़ती है। स्त्री अपने पतिको क्यों पूजती है? शिष्य गुरुकी सेवा क्यों करता है? भगवान्‌को पानेके लिये पति और गुरुको भगवान्‌का प्रतिनिधि या प्रतीक मानकर! पति या गुरुमें भगवान्‌के दर्शन करके उनकी पूजा की जाती है तभीतक, जबतक जगत्पति नहीं मिल जाते। परंतु जगत्पतिके मिलनेके लिये इनकी पूजा आवश्यक है। जब पूजा सिद्ध हो जाती है, प्रत्यक्ष जगत्पति मिल जाते हैं, तब इनकी पूजाका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। फिर गोपियोंकी भाँति लज्जा, धैर्य, कुल, मान, भय—सबका त्यागकर धर्माधर्मसे ऊपर उठकर श्रीकृष्णको ही परम प्रियतम घोषित करनेमें आपत्ति नहीं। परंतु पहले ऐसा नहीं किया जाता। पहले तो उनका प्रतिमापूजन ही होता है। अवश्य ही जो स्त्री भगवान्‌को भूलकर पतिकी या जो शिष्य भगवान्‌की परवा छोड़कर गुरुकी सेवा करते हैं, वे पति या गुरुकी सेवाके फलमें नश्वर वस्तु ही पाते हैं, भगवान्‌को नहीं पाते। इसलिये उनका भी उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये। तथापि छतपर चढ़नेके लिये जैसे सीढ़ियोंकी जरूरत होती है, वैसे ही 'सर्वधर्मत्याग' रूपी परम धर्मतक पहुँचनेके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता होती है। इसलिये जबतक भोगोंमें पूर्ण वैराग्य नहीं है, और जबतक भक्तिमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है, तबतक सर्वधर्मत्यागकी कल्पना नहीं की जा सकती।

गुरु-सेवन तो उत्तम है, परंतु धर्मको मानते हुए—धर्मकी रक्षा करते हुए ही! लोकनिन्दा यदि धर्म-सम्मत है, तो लोकनिन्दासे भी डरना ही चाहिये।

गीतोक्त समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम

गीताका 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' कौन है, इसका यथार्थ तत्त्व तो गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं तथापि हमारी दृष्टिमें इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण ही वह 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' हैं; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे ही अपनेको 'समग्र' (गीता ७। १)[१] और 'पुरुषोत्तम' (गीता १५। १८)[२] घोषित किया है। परंतु अब प्रश्न यह रह जाता है, उन श्रीकृष्णका स्वरूप क्या है? ब्रह्मवादी महात्मा कहते हैं कि श्रीकृष्णने ब्रह्मको लक्ष्य करके ही अपनेको पुरुषोत्तम बतलाया है। पर द्वैतवादी महापुरुष कहते हैं कि अर्जुनके सामने रथपर विराजित साकारविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण केवल अपने लिये ही ऐसा कहते हैं। अब गीताके द्वारा ही हमें यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप गीतामें क्या है। श्रीकृष्णके स्वरूपका विचार ही 'समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तम' का विचार है और श्रीकृष्णके स्वरूपकी उपलब्धि ही समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तमकी प्राप्ति है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीतामें भगवान्ने '**अहम् , मम, माम् , मे, मयि**' आदि पदोंसे

१-मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन।

२-यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

सर्वत्र अपनेको ही परमतत्त्व बतलाया है और अन्तमें खुले शब्दोंमें यह आज्ञा दी है कि 'अर्जुन! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर (गीता १८। ६६)[१]।' परंतु विचार यह करना है कि अर्जुनके सामने मनुष्यरूपमें भासनेवाले दिव्य मंगलविग्रह भगवान् उतने ही मानवरूपमें अपनी शरण ग्रहण करनेको कहते हैं या अपनेको कुछ और भी बतलाते हैं। यदि यह मानें कि उतने ही मानवरूपके लिये भगवान्का कथन है तब तो भगवान्के इस कथनका क्या तात्पर्य है कि 'मानुषी तनु' धारण किये हुए मेरे भूत-महेश्वररूपके परम भावको मूढ़लोग नहीं जानते (गीता ९। ११)[२]! इससे यह सिद्ध होता है कि उनका भूत-महेश्वररूप परम भाव इस योगमायासमावृत[३] 'मानुषी तनु' से ही प्रकट नहीं है; वह पृथक् है और उसे देखनेके लिये 'मानुषी तनु' से परे दृष्टिको ले

१-सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

२-अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।

३-'योगमाया' भगवान्की स्वरूपाशक्ति है, इसीको गीतामें 'आत्ममाया' भी कहा है।

जाना पड़ेगा। साथ ही इस मानुषी तनुको तो भगवान्‌ने अपनी विभूति बतलायी है—'**वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि**' (१०। ३७) और यदि यह मान लें कि ब्रह्मके लिये ही भगवान्‌का यह कथन है तो 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' (गीता १४। २७)* इस कथनकी व्यर्थता सिद्ध होती है, अतएव यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें क्या हैं? आनन्दकी बात है कि महान् भक्त अर्जुनकी कृपासे हमें भगवान्‌का वह रहस्य उन्हींके श्रीमुखकी दिव्य वाणीसे उपलब्ध हो जाता है। अर्जुन-सा बछड़ा न होता तो कभी हमें यह भगवत्-रहस्यरूपी गीतामृत न मिलता। भगवान् जहाँ भी कुछ रहस्य बतलाना चाहते हैं, वहीं अर्जुनके प्रेमको कारण बतलाते हैं। अब हमें यह देखना है वह भगवत्-रहस्य क्या है, जिससे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको जान सकें। इसके लिये सरसरी निगाहसे हमें गीताके प्रारम्भसे ही विचार करना है।

पहले अध्यायमें भगवान् केवल सारथिरूपमें अपना दर्शन देते हैं। अर्जुनके आज्ञानुसार वे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर देते हैं। अर्जुन सेनाको देखकर मोहमें डूब जाते हैं और धनुष-बाण रथके एक किनारे रखकर बैठ जाते हैं। भगवान् कुछ भी नहीं बोलते। दूसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान् अर्जुनको एक बुद्धिमान् प्रतिभाशाली महापुरुषके रूपमें उत्साह दिलाते हैं और समझाते हैं। तदनन्तर अर्जुनके द्वारा यह कहनेपर कि 'मैं आपके शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ, मुझे

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।

उपदेश दीजिये।' (गीता २। ७)[१] भगवान् पहले सांख्ययोग कहते हैं, फिर क्षात्रधर्मका महत्त्व बतलाकर निष्काम कर्मयोगका वर्णन करते हैं और अन्तमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण कहते हैं। इस सारे अध्यायमें एक जगह भगवान् **'मत्परः'** शब्दका प्रयोग कर इन्द्रियसंयमपूर्वक युक्तचित्तसे अपने परायण होनेकी आज्ञा देते हैं। यहाँ अपने स्वरूपमहिमाका यह साधारण संकेत है। तीसरे अध्यायमें वे यज्ञ और कर्मकी व्याख्या करते हुए अपनेको लोकसंग्रही आदर्श पुरुष या लोकशिक्षक प्रधान नेताके रूपमें प्रकट करते हैं और अपने लिये कुछ भी प्राप्तव्य या कोई भी कर्तव्य न बतलाकर अपने ज्ञानस्वरूप या नित्य पूर्ण प्रयोजनरहित ईश्वरस्वरूपको व्यक्त करते हैं, परंतु खुलकर कुछ भी नहीं कहते। चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही अविनाशी योगका सर्वप्रथम उपदेशक हूँ, मैंने ही कल्पके आदिमें विवस्वान् या सूर्यको इसका उपदेश किया था। मेरा ही बतलाया हुआ यह सनातन योग परम्पराक्रमसे राजर्षियोंने जाना था, परंतु बहुत कालसे वह योग लुप्तप्राय हो गया था (गीता ४। १-२)[२]। इससे आपने अपने सनातन

१-कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

२-इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

जगद्गुरु-पदको व्यक्त किया और अर्जुनको अपना भक्त एवं प्रिय सखा समझकर उस पुरातन योगके व्यक्त करनेकी बात कहते हुए अवतार-रहस्य बतलाया। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कुछ खुले। कुछ रहस्य बतलाया। कहा कि 'मैं अविनाशी, अजन्मा और सबका ईश्वर रहते हुए ही अपनी योगमायाके निमित्तसे अवतार धारण करता हूँ। मेरे जन्म-कर्म दिव्य हैं (गीता ४। ६—९)*।' अन्य जीवोंकी भाँति ही मेरे जन्म-कर्मोंको देखनेवाला मुझको नहीं जान सकता। मेरे जन्म-कर्मको तत्त्वतः जानना होगा। फिर कर्मरहस्य, यज्ञ और ज्ञानकी महिमा

श्रीभगवान् बोले—'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था।

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

'मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ, अर्थात् साकाररूपसे प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ। अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

आपने बतलायी। पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और संन्यासका निर्णय, सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी मुक्त पुरुषोंके लक्षण आदि बतलाकर अन्तमें अपने रहस्यके पर्देको जरा हटाकर कहा कि 'सारे यज्ञ और तपोंका भोक्ता मैं ही हूँ, कोई किसी देवताके नामसे यज्ञ-तप करे, सब मुझको ही पहुँचता है। मैं समस्त लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और ऐसा होते हुए ही मैं जीवमात्रका सुहृद् हूँ। मेरे इस स्वरूपको जान लेनेसे ही शान्ति प्राप्त हो जाती है (गीता ५। २९)[१]।' यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने यह दिखलाया कि तुम मुझे अपना सखा समझते हो, फिर भी चिन्ता क्यों करते हो? समस्त कर्मोंका नियन्ता, सबका महेश्वर जिसका सुहृद् सखा हो, यह बात जो जान ले वह दुःख, शोक और संतापको कैसे प्राप्त हो सकता है? वह आसक्ति, अहंकारका शिकार कैसे हो सकता है? फिर छठे अध्यायमें आपने योगके साधन और स्वरूपकी भलीभाँति व्याख्या करके, सिद्ध योगियोंके लक्षण बतलाकर कहा कि 'जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, जो सब भूतोंमें स्थित मुझ एकको भजता है वह सब कुछ करता हुआ मुझमें ही बर्तता है (गीता ६। ३०-३१)[२]। यहाँ भगवान्

१-भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

२-यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

श्रीकृष्णने अपने 'अहम्' का तात्त्विक स्वरूप दिखलाया। और अन्तमें कहा कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी सबकी अपेक्षा इस प्रकार मुझको जाननेवाला योगी श्रेष्ठ है और योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ वह श्रद्धावान् योगी है जो अन्तरात्मासे मुझको ही भजता है (गीता ६। ४६-४७)*। यहाँपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने भजनीय स्वरूपका निर्देश किया। यहाँतक भगवान्‌ने यह बतलाया कि 'मैं ही लोकशिक्षक आदर्श पुरुष हूँ, मैं ही आदि उपदेष्टा जगद्गुरु हूँ, मैं ही धर्म-संस्थापक, दिव्य अवतारी और दिव्य कर्मी हूँ। मैं ही सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता हूँ, मैं ही सबका परमेश्वर हूँ; जो मुझे अपना सुहृद् समझ लेता है वह उसी क्षण परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। मैं ही सबमें हूँ और सब मेरेमें ही हैं। मैं ही ज्ञानी, तपस्वी, कर्मी, सबका आराध्य हूँ।' यद्यपि इस प्रसंगमें संकेतसे कई बार भगवान्‌ने अपना रहस्य बतलाया, पर इसके आगे अब

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।

* तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे अर्जुन! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

स्पष्टरूपसे अपना रहस्य खोलकर बतलाने लगे। सातवें अध्यायके आरम्भमें ही आप कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

(गीता ७। १-२)

'अर्जुन! मुझमें मनको आसक्त करके और मेरे शरणागत होकर योगयुक्त होनेपर मुझे 'समग्र' रूपमें संशयरहित होकर किस प्रकार जाना जाता है, सो सुनो! मैं तुम्हें विज्ञानसहित उस ज्ञानको (रहस्यसहित मेरे तत्त्वको) पूरे तौरसे खोलकर कहता हूँ। इस रहस्यको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।' 'समग्र' को जाननेपर शेष रहेगा भी क्या? यहाँ भगवान् यह भी कह देते हैं कि हजारों लाखोंमेंसे कोई बिरला ही मुझे जाननेके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भी कोई बिरला ही मुझे समग्ररूपसे तत्त्वतः जानता है (गीता ७। ३)।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण जीव और जगत्, चेतन और जड दोनोंको अपनी प्रकृति बतलाते हुए कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार— यह आठ प्रकारसे विभक्त बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्के

समस्त उपादान मेरी ही प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति है। इससे विलक्षण जीव या चैतन्यरूप मेरी दूसरी परा प्रकृति है, जिससे यह सारा जगत् विधृत है।'

वस्तुतः इस द्विविध प्रकृतिके द्वारा ही भगवान्‌ने अपनेको विश्वरूपमें प्रकट किया है। प्रकृति प्रकृतिमान्‌से भिन्न नहीं है, इसलिये यह जो कुछ है सब प्रकृतिमान् भगवान्‌का ही स्वरूप है। भगवान् ही इस रूपमें प्रकट हो रहे हैं, इसीसे आगे चलकर वे कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जैसे सूतकी मालामें सूतकी मणियाँ गुँथी होती हैं, वैसे ही मेरी प्रकृतिसे बना हुआ सारा जगत् मेरी प्रकृतिके द्वारा मुझमें गुँथा है। मैं ही जलमें रस हूँ, चन्द्र और सूर्यमें प्रभा हूँ, समस्त वेदोंमें प्रणव हूँ, आकाशमें शब्द हूँ, पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ। पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, जीवोंमें जीवन, तपस्वियोंमें तप, बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें कामरागविवर्जित बल, मैथुनोत्पन्न प्राणियोंमें धर्माविरुद्ध काम हूँ (गीता ७। ७—११)। फिर अपने भक्तोंकी श्रेणी और महिमा बतलाकर कहा कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं, उनकी उन देवताओंके रूपोंमें मैं ही श्रद्धा करवा देता हूँ, देवताओंकी पूजा भी मेरी ही पूजा है। देवताओंके द्वारा मिलनेवाला फल भी मेरा ही विधान किया हुआ होता है। मूढ़लोग योगमायासे समावृत मुझको पहचानते नहीं (गीता ७। २५)। यहाँ भगवान्‌ने अपने रहस्यका कुछ अंश भलीभाँति खोल दिया। इसके बाद सातवें अध्यायके अन्तमें आप कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

'जो पुरुष मेरे शरण होकर जरा-मरणसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये यत्न (मेरा भजन) करते हैं, वे उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, निखिल कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको सम्यक् रूपसे जानते हैं, वे ही युक्तचित्त पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते (पाते) हैं।' वे जानते हैं कि सम्पूर्ण विभिन्न भाव एकमात्र उन्हीं पूर्णतम परात्पर भगवान्‌के ही प्रकाश हैं। इसीसे तद्भाव-भावित होनेके कारण उन्हें अन्तमें भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है।

आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन उत्सुकताके साथ भगवान्‌से ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका स्वरूप पूछते हैं एवं प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेका—पानेका साधन जानना चाहते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८। ३—५)

जिस समग्र रूपको बतलानेकी भगवान्‌ने सातवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रतिज्ञा की थी; जिसका उल्लेख अध्यायके अन्तिम श्लोकोंमें कर दिया था, अब अर्जुनके पूछनेपर उसीका स्पष्टीकरण करते हैं। पूर्णतम भगवान्‌के अनेकों भाव हैं, और भगवान्‌का भाव

होनेके कारण स्वरूपत: उनमेंसे कोई भी अपूर्ण या न्यूनाधिक नहीं है तथापि उनके कार्य और बाह्य रूपके प्रकाशमें भेद होनेके कारण न्यूनाधिकता प्रतीत होती है। उनमेंसे किसी एक भावको पूजनेवाला भी भगवान्को ही पूजता है, परंतु विधिपूर्वक नहीं। समग्रको जानकर ही किसी एक भाव या रूपको पूजना यथार्थ विधिवत् भगवत्पूजन है। ऐसा न होनेके कारण ही अनेकों मतवाद हो रहे हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि 'समस्त कारणोंके परम कारण, उपाधिरहित नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, सच्चिदानन्दस्वरूप, बोधानन्दघन ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्-तत्त्व है और सब मिथ्या है, उस ब्रह्मके स्वरूपको जानना ही परम पुरुषार्थ है।' अध्यात्मवादी मानते हैं कि 'आत्मानात्मविचारके द्वारा उपलब्ध स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीर-विहीन अक्षर आत्मा ही एकमात्र परम तत्त्व है। इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर या ब्रह्म नहीं है।' कर्मवादियोंका कहना है कि 'कर्म ही सृष्टिका मूल कारण-तत्त्व है, कर्मके द्वारा ही सबका नियन्त्रण होता है, कर्मसे ही जीवनकी सार्थकता और अभीष्टकी प्राप्ति होती है। अतएव एकमात्र कर्म ही सेवनीय है।' आधिभौतिक लोगोंका मत है कि 'चेतन भी जडका ही एक धर्म है, जड ही वस्तुतत्त्व है, जडको छोड़कर चित्सत्ताका अन्य कोई प्रमाण नहीं है अतएव जड-जगत्की उन्नति करना, शरीर और शरीरसम्बन्धी पदार्थोंकी उन्नति करना और आरामके लिये धन-दौलतको इकट्ठा करना ही मनुष्यका कर्तव्य है।' आधिदैविक मानते हैं कि 'देवता ही सब कुछ करते हैं, वे ही जगत्के तमाम विभिन्न भोगोंके नियन्ता और अधिष्ठाता हैं; वे ही मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंके संचालक, भर्ता,पोषक और भोगविधाता हैं, यज्ञ-यागादि उपासनाके द्वारा उन्हींको संतुष्ट करनेसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है। उन देवताओंमें भी सबसे प्रधान परमदेव समग्र ब्रह्माण्डके अभिमानी

देवता या सबके स्वामी एक ही हैं, जिनको विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, शिव, शक्ति, नारायण, सूर्य आदि विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं।' यह सूक्ष्मदर्शी आधिदैविक पुरुषोंकी मान्यता है। याज्ञिकलोग यज्ञको ही प्रधान धर्म मानते हैं और उनके अधिष्ठातृ-देवताओंकी आराधना भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा करते हैं। इस प्रकार अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी ठीक हैं। तात्त्विक दृष्टिसे भी सब मत अपनी-अपनी पद्धति और भावसे एक ही भगवान्‌की पूजा करनेवाले होनेसे भगवान्‌के ही उपासक हैं, परंतु 'समग्र' को न जाननेके कारण उनकी पूजा पूर्णांग नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण अपने 'समग्र' स्वरूपकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे यहाँ इन सबका समन्वय करते हुए सबको अपनी ही अभिव्यक्ति बतलाते हैं। इसीसे वे उपर्युक्त गीताके श्लोक (८। ३—५)-में कहते हैं—

परम अक्षर 'ब्रह्म' है; मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न होनेवाला जो निर्विकार परा प्रकृतिरूप मेरा (भगवान्‌का) अपना भाव (अंशरूप) है, वही जीवात्मारूपसे जडके अंदर अनुस्यूत ब्रह्म ही 'अध्यात्म' है। अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप जो मेरा क्षरभाव है वही 'अधिभूत' है। भूतोंका उद्‌भव और अभ्युदय जिस विसर्ग—त्याग अथवा यज्ञसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, वह विसर्ग ही 'कर्म' है। यह भगवान्‌का ही एक विशेष विकास है। '**यज्ञो वै विष्णुः**' पुरुषसूक्तोक्त विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदेव' है। इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। प्रत्येक देवता इसका एक-एक अंग है, चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका यही प्राणपुरुष है। भगवान्‌के इस पुरुषभावका विकास ही 'अधिदैव' है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं और प्रभु

हैं। अतएव वे कहते हैं कि मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ और इस शरीरमें ही अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ। अन्तकालमें जो पुरुष इस प्रकारके मुझ 'समग्र' को स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है वह निःसंदेह मेरे ही भावको—मेरे ही साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है।

यहाँ भगवान्ने प्रधान-प्रधान भावोंका समन्वय करके अपने स्वरूपका निर्देश किया। इसके बाद अपने महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्ने यह बतलाया कि मेरे भावविशेषकी अभिव्यक्तिरूप जो कुछ भी और पदार्थ हैं, वे सब कालाधीन हैं, उस सबकी प्राप्ति पुनरावर्तिनी है। ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं। एकमात्र मैं ही कालातीत हूँ, जो मुझको प्राप्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। '**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते**॥' हाँ, अव्यक्त अक्षर ब्रह्म कालाधीन नहीं है, वह भगवान्का परम भाव है, उसीको परम धाम कहते हैं, यह परम धाम अव्यक्तरूप मूलप्रकृतिसे भी विलक्षण सनातन अव्यक्त भाव है, यह किसी भी हालतमें सबके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता, अतएव इसको प्राप्त होकर भी जो वापस नहीं आता। परंतु यही 'समग्र' नहीं है, यह समग्र भगवान्का एक सनातन अव्यक्त परम भाव है। आठवें अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान् छठे अध्यायके अन्तिम श्लोककी भाँति ही ऐसे भगवान्के उपासक योगीकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(८।२८)

इस रहस्यको तत्त्वतः जानकर वह योगी वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्यफल होते हैं, जो गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन सबको लाँघकर, उन सबसे आगे बढ़कर सर्वोच्च आद्य परम स्थानको प्राप्त होता है। यहाँ अपने स्वरूपका और उसके जाननेवाले योगीका महत्त्व बतलाकर नवम अध्यायके आरम्भमें गुह्यतम रहस्यको ज्ञान-विज्ञानसहित बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं और इसे राजविद्या, राजगुह्य, परमपवित्र, प्रत्यक्ष फलरूप, परमधर्म, सुगम और अविनाशी बतलाते हैं (गीता ९। १-२)। फिर कहते हैं समस्त जगत्में मैं ही अव्यक्त मूर्तिके रूपमें परिपूर्ण हूँ, सब भूत मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ, वे भी मुझमें नहीं हैं, यह मेरे ऐश्वरयोगका प्रभाव है कि सब प्राणियोंका धारण-पोषण करनेवाला और सबका उद्भव करनेवाला भी मैं उनमें नहीं हूँ (गीता ९। ४-५)। इसका तात्पर्य यह है कि जगत्में साकार मूर्तिसे व्याप्ति नहीं हो सकती। उसमें तो अव्यक्त मूर्तिसे ही व्याप्ति होती है, परंतु वह अव्यक्त मूर्ति, भगवान् कहते हैं कि मेरी ही है, मुझसे भिन्न अव्यक्त कोई दूसरा नहीं है। यह बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् मेरी ही अष्टधा अपरा प्रकृति है और इस प्रकृतिका निवासस्थान अधिष्ठान स्वामी मैं हूँ, अतएव ये सब मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ; परंतु प्रकृति मुझ प्रकृतिमान्से अभिन्न है इसलिये ये सब भी मुझमें नहीं हैं। वस्तुतः यह सारा जड-चेतन विश्वभुवन मेरी ही अभिव्यक्ति है और स्वरूपतः मुझसे अभिन्न है। यह मेरी लीला है, ऐश्वरयोग है। कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें चले जाते हैं और कल्पके आदिमें मैं पुनः अपनी प्रकृतिसे उन्हें प्रकट कर देता हूँ। इतना होते हुए भी मैं नित्य अपनी महिमामें अपने स्वरूपमें स्थित हूँ, मैं उदासीनवत् आसीन किसी भी कर्मसे नहीं बँधता (गीता ९। ७९)। तदनन्तर

अपनी महिमा और सकाम देवोपासकोंकी पुनरावर्तिनी स्वर्गगतिका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं वे भी मुझको ही पूजते हैं, परंतु 'समग्र' को जानकर नहीं पूजते इसलिये उनकी पूजा अज्ञानकृत है। मैं ही सबका स्वामी, भोक्ता और सर्वरूप हूँ। इस रहस्यको तत्त्वसे न जाननेके कारण वे लोग पुनरावर्तिनी गतिको पाते हैं, यानी प्राप्त की हुई स्थितिसे गिर जाते हैं (गीता ९। २३-२४)। फिर अपने भजनकी— शरणागतिकी महिमा बतलाकर अन्तमें आप खुले शब्दोंमें परम रहस्यकी घोषणा करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'इस प्रकार मुझ समग्रको जानकर तुम मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो; इस तरह आत्माको लगाकर मेरे परायण—मेरे अनन्यशरण होनेसे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।'

यहाँ भगवान्‌के द्वारा गुह्यतम रहस्य बतलाया गया, परंतु अर्जुन कुछ नहीं बोले। तब दशम अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने कहा कि अच्छी बात है, मैं अब फिर (**'भूयः'**) तुमसे तुम्हारे हितार्थ अपना परम रहस्ययुक्त सिद्धान्त सुनाता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। देखो, मेरे प्रभावको देवता-महर्षि कोई भी नहीं जानते; क्योंकि मैं ही सबका आदि हूँ, जो मुझको अज, अनादि और लोकमहेश्वर तत्त्वतः जान लेते हैं, वे असंमूढ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं (गीता १०। १—३)। इसके बाद अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन किया। इस विभूतिवर्णनमें भगवान्‌ने विष्णु, शंकर, सूर्य,

चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु प्रभृति समस्त देवताओंको भी अपनी विभूति ही बतलाया है। यह कहा कि 'मैं ही सबका मूल हूँ, अधिक क्या समस्त जगत् मेरे एक अंशमात्रमें स्थित है (गीता १०। ४२)।' इसके बाद एकादश अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर अपना महामहिम विराट्‌रूप प्रत्यक्ष दिखलाया, अपनेको काल बतलाया और अन्तमें अपने साकार दिव्य मंगल विग्रहकी महिमा गाकर अनन्य भक्तिके द्वारा उसे तत्त्वतः जानने, देखने और प्राप्त करनेकी बात कही। बारहवें अध्यायमें सगुण साकाररूपमें अवतीर्ण दिव्यमूर्ति अपने श्रीकृष्णरूपकी परम श्रद्धापूर्वक उपासना करनेवाले योगियोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया और अन्तमें भक्त महात्माओंके लक्षणोंका प्रतिपादन किया। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि नवमसे लेकर द्वादश अध्यायतकके वर्णनमें बहुत थोड़े श्लोक ऐसे हैं, जिनमें '**अहम्**', '**मम**', '**माम्**', '**मे**', '**मयि**' आदि **अस्मद्** शब्दवाचक पदोंका प्रयोग न हुआ हो।

तेरहवें अध्यायमें प्रकृति-पुरुषका विवेचन है। सातवें अध्यायकी द्विविधा अपरा और परा प्रकृतिका ही यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे वर्णन है। इन्हींको आगे चलकर सूक्ष्म और व्यापकरूपमें 'प्रकृति' और 'पुरुष' कहा है। इस प्रसंगमें सांख्यदर्शनके दोनों मूल तत्त्व 'पुरुष' और 'प्रकृति' को भगवान्‌ने स्वीकार किया और खुले शब्दोंमें यह मान लिया कि समस्त जगत्‌के मूलमें प्रकृति-पुरुष-तत्त्व ही हैं; परंतु इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस बातको स्वीकार नहीं किया। न यही माना कि ये दोनों तत्त्व मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् हैं और इनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌की सृष्टि हुई है। सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है कि पुरुष निर्विकार,

निष्क्रिय, गुणातीत और चित्स्वरूप है। प्रकृति विकारशीला, परिणामिनी, सक्रिय और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति सर्वथा विपरीत धर्मवाली दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इनके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति हुई है। इनमें गुणात्मिका प्रकृति मूल उपादानकारण है। उसीके परिणामसे जगत्के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परंतु पुरुषके संयोग बिना प्रकृतिका परिणाम नहीं होता। और परिणाम हुए बिना जगत्का सर्जन नहीं होता। व्यक्त जगत्में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर आरोपित होता है और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है, मूलतः दोनों पूर्णरूपेण पृथक् हैं। इनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्वविचारके द्वारा इनके पार्थक्यका विवेक होनेपर संयोग टूट जाता है, परंतु उससे जगत् नहीं मिट जाता। जिस पुरुषविशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है, उसके लिये जगत् नहीं रहता, वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होनेके कारण अपने नित्य शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥'

(योग० २।२२)

इसीलिये पुरुष अनेक हैं। यही सांख्यका सिद्धान्त है। भगवान् कहते हैं, पुरुष-प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति हुई है यह ठीक है, परंतु यही परम तत्त्व नहीं है, इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और भी है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध विकास हैं। वह मूल तत्त्व ही प्रकृति और पुरुषके रूपमें अपनेको अनेकों प्रकारसे व्यक्त करता है। पुरुष और प्रकृति दोनों ही उसकी (परा और अपरा) द्विविध प्रकृति हैं। नित्य परिवर्तनशील असंख्य पदार्थों और शक्तियोंसे तथा उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त यह प्राकृत जगत् उसीकी (उन भगवान्की ही) अभिव्यक्ति

है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षरभाव चित्स्वभाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार अक्षर असंग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है और इसी भगवदंशरूप चेतनकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह जगत् विधृत है। भगवान् इस बातको बतलाते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्वज्ञान भी मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करनेसे होता है (गीता १३। १०)। देहमें स्थित पुरुष उस महेश्वरका ही प्रकाश है, वही परपुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, परमात्मा और महेश्वर कहलाता है।

चौदहवें अध्यायमें फिर परम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् यही बतलाते हैं कि 'मैं ही बीजप्रद पिता हूँ, सब भूतोंकी उत्पत्ति मुझसे ही होती है। गुणोंके स्वरूपको जानकर पुरुष गुणातीत होता है। परंतु उसका साधन भी मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति ही है। क्योंकि अविनाशी सनातन ब्रह्म, अमृत, सनातन-धर्म और अखण्ड एकरस सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ। ये सब मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। मैं ही इन सब स्वरूपोंमें प्रकट हूँ।' पंद्रहवें अध्यायमें संसारवृक्ष और उसके रहस्यका वर्णन करनेके बाद कहते हैं—'जो सूर्यगत तेज जगत्‌को प्रकाशित करता है, अग्नि और चन्द्रमामें जो तेज है वह सब मेरा ही है। मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी ओजशक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ, मैं ही रसात्मक सोम होकर समस्त ओषधिसमूहको पुष्ट करता हूँ, मैं ही प्राणिमात्रके शरीरमें स्थित वैश्वानर अग्नि बनकर प्राणापानयुक्त हो उनके खाये हुए चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ। अधिक क्या, मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें संनिविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। मैं ही समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य हूँ, मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ और मैं ही वेदोंको जाननेवाला भी हूँ।

इस संसारमें क्षर और अक्षर ये दो प्रकारके पुरुष हैं, जिनमें समस्त अचेतन भूतप्राणियोंके शरीररूप जगत् क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अविनाशी, परमात्मा, महेश्वर दूसरा ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है। वह पुरुषोत्तम मैं हूँ, क्योंकि मैं क्षरसे तो अतीत हूँ और अक्षरसे उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेद मुझको ही 'पुरुषोत्तम' कहते हैं (गीता १५। १२—१८)।'

सातवें अध्यायमें कथित अपरा प्रकृतिको ही यहाँ क्षर पुरुष बतलाया गया है और परा प्रकृति जीवात्माको ही अक्षर पुरुष 'पुरुषोत्तम' वही समग्र ब्रह्म है जिसका यह द्विविध प्रकाश है। भगवान्‌का यह 'समग्र' रूप ही गीतोक्त पुरुषोत्तमरूप है। इस 'पुरुषोत्तम' स्वरूपका ही मूर्तिमान् नित्य सत्य मायातीत सौन्दर्य-माधुर्यसमुद्र परम दिव्यातिदिव्य मंगलविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

'अर्जुन! जो पुरुष इस प्रकार तत्त्वतः मुझे 'पुरुषोत्तम' जान लेता है वही असंमूढ है और वही सब कुछ जान गया है। ऐसा ज्ञानी पुरुष सर्वभावसे मुझ (श्रीकृष्ण)-को ही भजता है।' यही गुह्यतम शास्त्र है, इसको जानकर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

जो भगवान्‌को इस प्रकार नहीं जानते वही संमूढ हैं। उन्हींके लिये भगवान्‌ने कहा है —'**अवजानन्ति मां मूढाः।**'

इस विवेचनसे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका किंचित् अनुमान कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हैं, भगवान् ही

अक्षर, अविनाशी आत्मा हैं, भगवान् ही हिरण्यगर्भ हैं, भगवान् ही सर्वदेवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा हैं, भगवान् ही प्रकृति हैं, भगवान् ही जगत् हैं, भगवान् ही जगद्व्यापी विभु अक्षर अव्यक्त सगुण निराकार ब्रह्म हैं, भगवान् ही यज्ञ हैं, भगवान् ही कर्म हैं, भगवान् ही जगत्के कर्ता, भर्ता, संहर्ता हैं, भगवान् ही साक्षी और भगवान् ही भोक्ता हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, सूर्य आदिके अंशी हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, सूर्य आदि हैं। भगवान् ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंह आदि अवतार हैं, भगवान् ही समस्त सृष्टिके द्वारा विभिन्न रूपोंमें पूजित विभिन्न नामरूपधारी ईश्वरीय नियमविशेष हैं। भगवान् ही विश्वगुरु हैं और भगवान् ही वसुदेवपुत्र, देवकीनन्दन, नन्दनन्दन, यशोदालाल, गोपीवल्लभ, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, राधारमण, रुक्मिणीपति, व्रजनवयुवराज, व्रजेश्वर, द्वारिकाधीश और व्यास-भीष्मादिके द्वारा पूज्य परमेश्वर हैं और वही भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ इतिहासप्रसिद्ध 'पार्थसखा' या 'तोत्त्रवेत्रैकपाणि पार्थसारथि' हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके सर्वातीत और सर्वमय 'समग्र' स्वरूपको सम्यक्-रूपसे जानकर उनकी जो उपासना होती है, वही श्रीकृष्णकी यथार्थ उपासना है (जाननेका अर्थ केवल बुद्धिद्वारा समझ लेना ही नहीं है, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिये)। यह श्रीकृष्ण न तो केवल एकदेशीय व्यक्त स्वरूपविशेष 'वृष्णिवंशी' वसुदेवसुत 'वासुदेव' हैं और न केवल शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव 'ब्रह्म' ही हैं। ये दोनों ही उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। उनको एकदेशीय माननेमें भी उनके स्वरूपको अल्प और परिच्छिन्न करना पड़ता है और केवल शुद्ध ब्रह्म माननेसे भी शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और सब कुछका कोई स्वरूप निश्चय नहीं होता। माया या मिथ्या कहकर टालनेसे भी काम नहीं

चलता। इसीसे यह कहा जाता है कि सब कुछ नहीं है सो नहीं है, पर वह सब (ब्रह्मसमेत) भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। सबको लेकर ही भगवान् हैं और वही पुरुषोत्तम हैं। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७। ७)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

'धनंजय! मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, यह समस्त जगत् सूतमें सूतकी मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा है। जगत् ही क्यों अव्यय, परब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक आनन्दका आधार भी मैं ही हूँ।' सबका समन्वयात्मक यही गीतोक्त 'समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम' का स्वरूप है और वे श्रीकृष्ण हैं। इसीलिये वेदान्त-ज्ञानके उपदेष्टा और ज्ञाता श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

गीतामें विश्वरूप-दर्शन

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें भगवान्‌के विश्वरूप-दर्शनका प्रसंग है। प्रसंग बड़ा ही मधुर और हृदयग्राही है। जितना भी मन लगाकर पढ़ा जाता है उतना ही अधिक आनन्द आता है। परंतु यह समझमें आना बहुत ही कठिन हो जाता है कि भगवान्‌का यह विश्वरूप वस्तुतः था कैसा? अनेक महानुभावोंने इस प्रसंगपर विभिन्न मत प्रकट किये हैं। किन्हींका कहना है कि 'यह भक्तिपूर्ण मनोहर काव्यमात्र है।' किन्हींका कथन है कि 'यह रूपक है, इसमें अर्जुनकी उस समयकी मानस-स्थितिका चित्रण किया गया है।' कोई कहते हैं— 'अर्जुनको दिव्यचक्षु देनेका अर्थ है उसे सम्यक् ज्ञान प्रदान करना और विश्वरूप दिखानेका तात्पर्य है उस ज्ञानको सुदृढ़ करना कि एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ भी भासता है सब मायामात्र है।' इसी प्रकार अन्यान्य बहुत-से महानुभावोंने और भी अनेकों प्रकारसे इसकी व्याख्या की है। गीताके इस विश्वरूप-दर्शनका वास्तविक रहस्य क्या है और विश्वरूपका यथार्थ स्वरूप कैसा है, इसको तो वे ही बतला सकते हैं जिनको इस विश्वरूप-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसे सौभाग्यवान् एक अर्जुन ही हैं अथवा गौणरूपसे व्यासजीके द्वारा दिव्यदृष्टिप्राप्त संजय हैं। परंतु इस समय ये दोनों ही हमारे सामने नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें विश्वरूपका रहस्य समझनेमें शास्त्र, संत, महात्मा और विद्वानोंके विचार तथा अपने अनुमानके सिवा और कोई उपाय नहीं है। यहाँ इन्हीं उपायोंके सहारे भगवान्‌के इस

विश्वरूप-प्रसंगपर कुछ विचार किया जा रहा है। वस्तुतः लेखकको न तो यथार्थ रहस्यका ज्ञान है, न उनका रहस्योद्घाटनका दावा है और न रहस्योद्घाटनके विचारसे यह प्रयास ही किया जाता है। यह तो केवल '**स्वान्तःसुखाय**' है। आशा है, अनुभवी विज्ञ विद्वान् इस बालचपलताके लिये कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

भगवान्का स्वरूप क्या और कैसा है, इसको वस्तुतः भगवान् ही जानते हैं। वे निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार सभी कुछ हैं और सभीसे परे हैं। वे क्या हैं और क्या नहीं हैं, इसका विवेचन पूर्णरूपसे न तो आजतक कोई कर सके हैं, न आगे कर ही सकते हैं। भगवान्का जितना भी वर्णन है, सभी आंशिक है, परंतु आंशिक होनेपर भी है उन्हींका, इसीलिये सभी ठीक है। अनन्तका अन्त तो कौन पा सकता है। यथार्थमें भगवान्के स्वरूप, तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और लीला-गुणादिका वर्णन उनके स्वरूपकी यथार्थ व्याख्याके लिये नहीं, वरं अपने कल्याणके लिये ही किया जाता है और इसी दृष्टिसे लेखकका भी यह क्षुद्र प्रयास है।

भगवान्की सृष्टि अनन्त है। हम जिस भूमण्डलमें हैं, यह तो एक सृष्टिका एक अत्यन्त क्षुद्र अंशमात्र है। नक्षत्रविज्ञानी तत्त्ववेत्ताओंका कहना है कि यह सूर्य हमारी पृथ्वीसे नौ करोड़ मीलकी दूरीपर स्थित है। परंतु ऐसे-ऐसे अति विशाल नक्षत्र भी हैं, जहाँकी आलोक-रश्मिको पृथ्वीतक पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं। जान रखना चाहिये कि वैज्ञानिकोंकी गणनाके अनुसार आलोक-रश्मिकी गति (Speed) प्रति सेकेण्ड एक लाख छियासी हजार मील है। अब हिसाब लगाइये कि इतनी तेज चालसे

चलनेवाली आलोक-रश्मिको जिस नक्षत्रसे यहाँतक आते-आते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं, वह यहाँसे कितनी दूरीपर होगा। ऐसे अगणित नक्षत्र हमारे विश्वमें हैं, ये सब नक्षत्र चौदह* प्रधान लोकोंके अन्तर्गत विभिन्न लोकमात्र हैं और ऐसे विश्वोंकी गणना असंख्य है। देवीभागवतमें कहा है—

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते।
प्रतिविश्वेषु सन्त्येवं ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥

'धूलके कणोंकी गिनती हो सकती है, परंतु विश्व-ब्रह्माण्डोंकी नहीं हो सकती। इन ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। अतएव जिस प्रकार ब्रह्माण्डोंकी संख्या नहीं है इसी प्रकार ये ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि भी असंख्य हैं।'

ये सब ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिनके अंशावतार हैं, वे अवतारी एक महेश्वर हैं। उन्हींको पुरुषोत्तम, महाविष्णु, महाशिव, श्रीकृष्ण, श्रीराम, महाशक्ति आदि कहते हैं।

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥

(लिंगपुराण)

'असंख्य रुद्र हैं, असंख्य ब्रह्मा हैं, असंख्य विष्णु हैं, परंतु महेश्वर एक ही हैं।' सृष्टिके प्रकाशके समय ये सब ब्रह्मा,

---

* चौदह भुवन हैं—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—ये सात देवताओंके ऊर्ध्वलोक हैं और अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये सात असुरोंके अधोलोक हैं। ये ही चौदह भुवन हैं। इनके अन्तर्गत अनेकों लोक-लोकान्तर हैं।

विष्णु, शिव अपने-अपने ब्रह्माण्डमें प्रकट हो जाते हैं और लयके समय पुनः उन सृष्टियोंके साथ ही महेश्वरमें प्रवेश कर जाते हैं। ऐसी सृष्टियाँ असंख्य हैं—

यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले॥

'जैसे समुद्रमें अपार तरंगें उठती हैं वैसे ही परमेश्वरमें ये सृष्टियाँ महान् वायुमें रजःकणोंकी भाँति उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं।'

ब्रह्माण्डों और सृष्टियोंका यह हाल है। ऐसे-ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड परम महिमामय महेश्वरके उस विराट् देहके क्षुद्रातिक्षुद्र अंगोंमें सुशोभित हैं। महेश्वरका वह विराट् देह ऐसा विलक्षण है कि अनन्त सृष्टिकी समस्त दशाओंका उसके अंदर साक्षात् समावेश है। उसमें समस्त कालोंके, समस्त सृष्टियोंके, सृष्टियोंके अंदर होनेवाली समस्त भूत, वर्तमान और भविष्यकी घटनाओंके प्रत्यक्ष दृश्य उपस्थित हैं। कालभेद और देशभेद हमारी दृष्टिमें हैं। भगवान्में भूत या भविष्यत् नहीं है, वहाँ सभी कुछ वर्तमान है और इसी प्रकार सम्पूर्ण देश उनके अन्तर्गत एक ही साथ निहित हैं। जहाँ जो कुछ हो चुका है, हो रहा है, होगा और जहाँ जो कुछ था, वर्तमान है और आगे होगा, वह—क्रिया और वस्तु—सब एक ही साथ महेश्वरके विराट्-स्वरूपमें स्थित हैं। समस्त सृष्टियोंके साथ महेश्वरका अच्छेद्य सम्बन्ध है; क्योंकि सारी सृष्टियाँ महेश्वरके ही ऐश्वर-योगकी लीला या खेल हैं। महेश्वरका सम्पूर्ण ऐश्वर-योग अपनी सम्पूर्ण शक्तियों और क्रियाओंसमेत जिस एक ही महान् दिव्य स्वरूपमें नित्य विराजित है वही महेश्वरका ऐश्वर-रूप है। उसीको विराट् या विश्वरूप कहते हैं। यह स्वरूप रूपक या केवल ज्ञानका विषय

नहीं है। अंशतः चक्षुओंका विषय ही है। हम रात-दिन जो कुछ देखते-सुनते हैं—करते-कराते हैं, यह भी उस महान् विराट्-स्वरूपका ही एक अत्यन्त क्षुद्रतम अंश है। परंतु यह मायाकी आँखोंसे मायाके राज्यमें देखा जाता है, इसलिये अदिव्य है। जिनको भगवान् अपने उस दिव्य तेजोमय, आद्य (सनातन), अनन्त, मन-बुद्धि-वचनके अगोचर लोकोत्तर महान् चमत्कारपूर्ण विराट्-स्वरूपकी किंचित् झाँकी कराना चाहते हैं उन्हें वे अपनी दिव्यदृष्टि दे देते हैं। बिना दिव्यदृष्टिके उस महान् तेजोमय स्वरूपको कोई देख ही नहीं सकता। देखनेपर भी यह तो सम्भव ही नहीं है कि उसके समस्त अंग-प्रत्यंगोंके समस्त अवयवोंको और उनमें संलग्न सामग्रीको सम्पूर्ण रूपसे कोई देख सके। जिन-जिनको भगवान्ने वह स्वरूप दिखलाया है, सबने उसके विभिन्न अंश ही देखे हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है कि '**ईश्वराणां परमं महेश्वरम्**', '**सर्वलोकमहेश्वरम्**', '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' आदि रहस्यमय वाक्योंसे जिन ईश्वरोंके महान् ईश्वर, पुरुषोत्तम भगवान्का निर्देश किया गया है, उन पूर्ण पुरुषोत्तम समग्रब्रह्म स्वयं भगवान्के अतिरिक्त दूसरे कोई भी इस विश्वरूपको नहीं दिखला सकते। पूर्णावतार भगवान्ने श्रीरामरूपसे माता कौसल्याजीको तथा भक्तराज काकभुशुण्डिजीको इस स्वरूपकी किंचित् झाँकी करायी थी, और श्रीकृष्णरूपमें गोकुलमें यशोदा मैयाको, कुरुक्षेत्रके रणांगणमें भक्तराज अर्जुनको, कौरवोंकी राजसभामें भीष्माचार्य आदि और तपोधन मुनिगणोंको एवं ऋषियोंके आश्रमोंमें गुरुभक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीउत्तंकजीको इस स्वरूपके दर्शन कराये गये थे। श्रीरामचरितमानसका वर्णन देखिये—बालकाण्डकी कथा है। माता कौसल्याजी शिशुरूप श्रीरामजीको नहलाकर शृंगार करके पालनेमें पौढ़ा देती हैं और

स्वयं इष्टदेवकी पूजाके लिये स्नान करके उनकी पूजा करती हैं और भोग चढ़ाती हैं। फिर किसी कार्यसे चौकेमें जाकर लौटकर देखती हैं तो रामजी भोग लगाते दिखायी देते हैं। कौसल्याजी घबराकर पालनेके समीप जाती हैं तो वहाँ भी श्रीरामजीको उसमें सोये पाती हैं, फिर यहाँ आती हैं तो यहाँ प्रसाद पाते देखती हैं। एक ही साथ दो स्थानोंमें श्रीरामजीको देखकर माता घबरा उठती हैं। इतनेमें प्रभु हँस देते हैं और माताको अपना अद्भुत अखण्ड विश्वरूप दिखलाते हैं। विश्वरूप देखकर माता पुलकित हो जाती हैं। वे अपनी आँखें मूँद लेती हैं और सिर नवाने लगती हैं। बस, विश्वरूपका उपसंहार हो जाता है और भगवान् पुनः शिशुरूप बन जाते—

तन पुलकित मुख बचन न आवा । नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥
बिसमयवंत देखि महतारी । भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥

श्रीअवधपुरीमें बालरूप श्रीरामजीके साथ काकभुशुण्डिजी खेल रहे हैं। श्रीरामजीने काकजीको पकड़नेके लिये हाथ फैलाया। वे उड़े, हाथ पीछे-पीछे चला। लोक-लोकान्तरोंमें, जहाँतक गति थी, काकभुशुण्डि गये; परंतु दो अंगुलके बीचसे सर्वत्र श्रीरामजीके हाथको अपने पीछे देखा। उन्होंने डरकर आँखें मूँद लीं। फिर जब नेत्र खोले तो अपनेको अयोध्याजीमें पाया। इतनेमें भगवान्ने हँस दिया, भुशुण्डिजी खिंचकर उनके मुखमें प्रवेश कर गये और अंदर भगवान्के विराट्-रूपके भिन्न-भिन्न स्तरोंमें घूमने लगे। अन्तमें घबरा उठे, व्याकुल हो गये, पूरा न देख सके, तब श्रीरामजी हँसे और उनके हँसते ही वे बाहर आ गये।

देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

श्रीकृष्णरूपमें सबसे पहले यशोदा मैयाको मुखमें दर्शन

कराये। यशोदाजीने श्यामसुन्दरके छोटे-से मुखमें विराट्-स्वरूप देखा। यहाँतक कि उसके एक कोनेमें गोकुल गाँवके श्रीनन्दरायजीके घरमें अपनेको भी देखा। वे मोहित हो गयीं। आगे न देख सकीं। तब भगवान्ने अपना वह रूप संवरण कर लिया। यह कथा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें है।

कौरवोंकी राजसभामें जब दुर्योधनने दूतरूपसे पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णको कैद करनेकी दुरभिसन्धि की, तब आप खिल-खिलाकर हँस पड़े। हँसते ही विराट्-स्वरूपका प्राकट्य हो गया। उस महान् रूपको देखते ही सब राजाओंने मारे डरके घबराकर आँखें मूँद लीं। वे कुछ भी न देख सके। गुरु द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपोमूर्ति ऋषि-मुनियोंने भगवान्के उस स्वरूपको देखा, क्योंकि भगवान्ने उनको दिव्य दृष्टि दे दी थी—

'प्रादात्तेषां स भगवान् दिव्यचक्षुर्जनार्दनः।'

धृतराष्ट्रने भी दिव्य दृष्टिके लिये प्रार्थना की, तब भगवान्ने कृपा करके उनको भी दिव्य दृष्टि देकर अपना स्वरूप दिखलाया। तदनन्तर पृथ्वी हिल उठी, समुद्र खलबला उठे, तब भगवान्ने अपना वह विराट-स्वरूप संवरण कर लिया। यह कथा महाभारतके उद्योगपर्वमें है।

इसके बाद भीष्मपर्वमें श्रीमद्भगवद्गीताका विश्वरूप-प्रदर्शन-प्रसंग है। इसपर आगे चलकर विचार करना है। इसके अनन्तर अश्वमेधपर्वमें उत्तंक ऋषिको विराट्-स्वरूप-दर्शन करानेकी कथा मिलती है। महाभारतयुद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको कारण मानकर उत्तंक ऋषि भगवान्को शाप देनेको तैयार हो गये। भगवान्ने कहा—'मुनिवर! आप तपस्वी हैं, परंतु मुझे शाप देनेसे आपका तप नष्ट हो जायगा। आपके शापका मुझपर कुछ भी प्रभाव न होगा।' इसके बाद मुनिके पूछनेपर भगवान्ने उनको

अपना स्वरूप-तत्त्व समझाया और फिर मुनिकी प्रार्थनापर उनको अपना दिव्य विश्वरूप दिखलाया। वैशम्पायनजी कहते हैं—

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद्धनंजयः॥

(५५।४)

'तब उनपर प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णने उनको उसी सनातन वैष्णव-स्वरूपके दर्शन कराये, जिसके बुद्धिमान् अर्जुनने दर्शन किये थे।'

भगवान्का विराट्-रूप देखकर मुनि सहम गये और बोले—

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम्।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम्॥

(५५।९)

'देव! आप अपने इस अक्षय, उत्तम स्वरूपको समेट लीजिये। मैं आपको फिर उसी अपने सनातन श्रीकृष्णरूपमें देखना चाहता हूँ।' तब भगवान्ने अपना विराट्-रूप संवरण करके उन्हें फिर श्रीकृष्णरूपमें दर्शन दिये।

यहाँ कई प्रकारकी शंकाएँ होती हैं, उनमें प्रधान ये हैं—

१-यदि विराट् या विश्वरूप एक ही है तो सबको अलग-अलग रूपोंके दर्शन क्यों हुए? कौसल्याजी और काकभुशुण्डिजीने रामजीको देखा, यशोदा मैयाने गोकुलसमेत अपनेको देखा, अर्जुनने भीष्म-द्रोणका चूर्ण होना देखा, कौरव-सभामें भीष्मादिने सात्यकि और पाण्डवोंको भी भगवान्के शरीरमें देखा। एक ही स्वरूपमें इतने भेद क्यों?

२-यदि विराट्-रूप एक नहीं है और समय-समयपर प्रकट होनेवाले अनेक हैं, तो क्या वे सभी नित्य हैं? यदि नित्य नहीं हैं और उन्हींमें गीतोक्त विश्वरूप भी है तो फिर भगवान्ने

उसको 'आद्य' (सनातन) और 'अनन्त' तथा उत्तंक मुनिने 'अक्षय' (अविनाशी) कैसे बतलाया?

३-यदि सब एक ही है तो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे स्पष्ट ऐसा क्यों कह रहे हैं कि यह रूप तेरे सिवा न किसीने आजतक देखा और न आगे कोई देख सकता है—'**त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्**', '**त्वदन्येन न द्रष्टुं शक्यः**'। यदि ऐसी बात है तो दूसरोंने उसे कैसे देखा? यदि कहें कि दूसरे किसीने नहीं देखा तो फिर वैशम्पायनजी यह कैसे कह सकते हैं कि उत्तंकने वही रूप देखा जो अर्जुनने देखा था? विचार करनेपर पता लग जायगा कि इन प्रश्नोंका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। समझनेके लिये यहाँ फिरसे उसीको दोहराया जाता है। भगवान् महेश्वरका एक नित्य अनन्त विराट्-रूप है। जिसमें भूत, वर्तमान, भविष्य सभी कालोंके, सभी सृष्टियोंके तथा सभी ब्रह्माण्डोंके पूरे कार्य साक्षात्-रूपसे रहते हैं। वह विराट्-रूप स्वरूपतः एक होनेपर भी जब किन्हींको दिखाया जाता है, तब उस स्वरूपके अपरिमित तेज, प्रभाव, असीम और अनन्त विस्तार आदि ऐश्वर्यका स्तर तो न्यूनाधिकरूपसे अवश्य ही दिखलाया जाता है; परंतु सृष्टिचक्रकी प्रायः उन्हीं घटनाओंके स्तर दिखलाये जाते हैं जिनका देखनेवालेसे सम्बन्ध होता है और जिसके दिखलानेकी आवश्यकता समझी जाती है। पूर्णरूप तो अनन्त और अप्रमेय है, उसे तो कोई देख ही नहीं सकता। जैसे सिनेमाकी कोई बड़ी भारी फिल्म हो और उसमें बहुत ही लम्बी घटनावलियोंके चित्र अंकित हों और उसमेंसे जैसे एकके बाद दूसरे दृश्य देखनेवालोंके सामने आते हों। इसी प्रकार महेश्वरके विराट्-स्वरूपके अनन्त स्तर हैं और भगवान् उनमेंसे जिसको जिस स्तरसे, जिस स्तरके दर्शन कराना चाहते हैं उसीके कराते

हैं। फिर या तो स्वयं ही उसे समेट लेते हैं या देखनेवाला ही नहीं देखना चाहता। इससे वह वहींतक देख पाता है। इससे यह पता लगता है कि मूलतः स्वरूप एक ही हैं; परंतु वह अनन्त है, वह सब नहीं देखा जा सकता। कौसल्याजी, काकभुशुण्डिजी, यशोदा मैया, भीष्मादि, अर्जुन और उत्तंक—इन सबने देखा उस एक ही विराट्-स्वरूपको; परंतु अप्रमेय होनेसे तथा आवश्यकता न होनेके कारण पूरा कोई न देख सके, और इसीके साथ-साथ सबने देखा अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्योंके स्तरोंको ही। इसलिये वस्तुतः एकको देखनेपर भी उनके दर्शनोंमें भेद रहना उचित ही है। और इसीलिये अर्जुनसे भगवान्का यह कहना भी सत्य है कि यह रूप—अर्थात् तुमने लीलाका जो दृश्य देखा उस दृश्यसे युक्त ऐसा विश्वरूप—तुम्हारे सिवा पहले किसीने नहीं देखा और आगे भी कोई नहीं देख सकता। और चूँकि स्वरूप तत्त्वतः एक ही है, इससे वैशम्पायनजीका यह कथन भी ठीक ही है कि अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वही उत्तंकजीको दिखलाया। भगवान्का यह विराट्-स्वरूप जिस अनादि और अचिन्त्यकालसे सृष्टिचक्र चला, तबसे है और जबतक यह चक्र रहेगा तबतक रहेगा। इससे उसको 'आद्य' (सनातन), 'अनन्त' और 'अक्षय' (अविनाशी) कहना भी उचित ही है; क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि-चक्रोंका आधार यही स्वरूप है। सब इसीसे उत्पन्न होते हैं, इसीमें निवास करते हैं और इसीमें लय हो जाते हैं।

अब गीताजीके प्रसंगपर ध्यान दीजिये—

दसवें अध्यायमें संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन करके जब भगवान्ने अन्तमें यह कहा कि 'अर्जुन! बहुत जाननेमें क्या है, तुम यही समझ लो कि इस सारे जगत्को मैंने अपने एक अंशमात्रमें धारण कर रखा है।' बस, तभी अर्जुनके मनमें यह

आकांक्षा जाग उठी कि जिस भगवान्‌के एक अंशमें यह उत्पत्ति-विनाशमय सारा 'जगत्' स्थित है, उन भगवान्‌का पूर्णरूप अवश्य देखना चाहिये। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि जन्मना, रहना, बढ़ना, घटना, रूपान्तर होना और नाश होना—ये छः अवस्थाएँ जैसे व्यष्टि शरीरकी हैं, वैसे ही समष्टि शरीरकी भी हैं। इन छहों अवस्थावाले पदार्थोंसे युक्त छहों अवस्थावाली जो सृष्टि है उसीको 'जगत्' कहते हैं। इसलिये 'जगत्' शब्दसे जगत्‌में होनेवाले सृजन, पालन और संहार, जगत्‌के भूत, वर्तमान और भविष्य आदि सभी कुछ आ जाते हैं। ऐसे जगत्‌को एक अंशमें धारण करनेवाले भगवान्‌को सर्वांश पूर्णस्वरूपमें देखनेकी इच्छा होनेसे ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुन कहते हैं—'भगवन्! मुझपर कृपा करके आपने परम गोपनीय ऐसा उपदेश दिया कि मेरा मोह नष्ट हो गया। मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका विस्तार और आपके अविनाशी माहात्म्यको भी सुना। परमेश्वर! पुरुषोत्तम! (यहाँ परमेश्वर और पुरुषोत्तम ये दोनों ही सम्बोधन ध्यान देने योग्य हैं) अब मैं आपका वह 'ऐश्वर-रूप' प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि मैं उसके दर्शन करनेयोग्य समझा जाऊँ तो मुझे योगेश्वर! आप अपने उस अव्यय (अविनाशी) स्वरूपके दर्शन कराइये।'

इसके बाद भगवान् अपने विश्वरूपका संक्षेपमें वर्णन करते हुए अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं और अपना ऐश्वरयोग (इसकी आंशिक सूचना नवें अध्यायमें दी जा चुकी थी) प्रत्यक्ष पूर्णरूपसे देखनेकी आज्ञा करके स्वरूप प्रकट करते हैं। संजय यहाँ कहते हैं कि महायोगेश्वर भगवान्‌ने तब अर्जुनको वह श्रेष्ठ ऐश्वर-रूप दिखलाया। इसके बाद श्लोक १० से १३ तक संजयने भगवान्‌के उस दिव्य विश्वरूपका जो वर्णन किया

है। उससे पता लगता है कि आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको वही स्तर दिखलाया जो ऐश्वर्य और सौन्दर्यसे पूर्ण था, उसे देखकर अर्जुन आश्चर्य और हर्षमें डूब गये (डरे नहीं) और पुलकित होकर तथा प्रणाम करके मुग्ध होकर उनके स्वरूपका वर्णन करने लगे। सिनेमाके फिल्मकी भाँति विराट्स्वरूपके स्तर-के-स्तर एकके बाद एक उनके दिव्य नेत्रोंके सामने आ रहे हैं। सिनेमाके जड, विनाशी, क्षुद्र फिल्मके साथ भगवान्के उस दिव्य असीम अनन्त रूपकी तुलना किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। समझनेके लिये यह संकेतमात्र किया गया है। वस्तुतः इससे उसकी किसी अंशमें भी उपमा नहीं दी जा सकती। अर्जुन देखते हैं और वैसा ही वर्णन करते जाते हैं। विश्वरूपका कहीं ओर-छोर न देखकर १६ वें श्लोकमें अर्जुनके नेत्र और मन-बुद्धि थकित हो जाते हैं। हार मान बैठते हैं और वे कहते हैं—'मैं सब ओर आपके अनन्तरूपको देखता हूँ। आपका न कहीं आदि है, न मध्य है और न अन्त है।' फिर १७ वें श्लोकमें कहते हैं, आप अप्रमेय-स्वरूप हैं, आपके विस्तारका कहीं पार ही नहीं है। इसके बाद १८ वेंमें प्रभावका वर्णन करके १९ वेंमें अर्जुन भगवान्के उस चन्द्र-सूर्यके नेत्रवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे जगत्को तपानेवाले रूपको और श्लोक २० से २२ तक भगवान्के स्वरूपकी अत्यन्त उग्रतासे तीनों लोकोंको व्यथित, देवताओंको भयभीत, ऋषियोंको स्तवनपरायण और रुद्र, आदित्य आदिको विस्मित देखते हैं। ज्यों-ज्यों विश्वरूपके उग्र स्तर नेत्रोंके सामने आते हैं, त्यों-ही-त्यों अर्जुन डरते जाते हैं और तेईसवें श्लोकमें स्पष्ट कह देते हैं कि आपके महान् उग्ररूपको देखकर सब लोकोंके साथ-साथ मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। इससे पता

लगता है कि अर्जुन अब पहलेकी भाँति हर्षितचित्त नहीं हैं, वरं डर रहे हैं, और २४ वेंमें तो यहाँतक कह डालते हैं कि डरके मारे मैं अपनेमें 'धीरज और शान्ति नहीं देख पाता हूँ'—'**धृतिं न विन्दामि शमं च।**' फिर २५ से ३० तक वे और भी उग्ररूप देखते हैं और ३१ वें श्लोकमें अत्यन्त डरकर नमस्कार करते हुए भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं और पूछते हैं कि 'महाराज! बतलाइये, आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?'

बस, यहीं विश्वरूपके अगले स्तरोंके दर्शन बंद हो जाते हैं। अर्जुनने विश्वरूपके जिस भयंकर स्तरको देखकर घबराकर उनसे प्रार्थना की, उसी रूपमें स्थित रहकर भगवान् कहने लगे कि 'मैं काल हूँ, सबका संहार करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र बन जा' इत्यादि। इसके बाद भी अर्जुनके सामने वही उग्ररूप बना रहता है। डरे हुए अर्जुन भगवान्‌की स्तुति आरम्भ करते हैं, नमस्कार करते हैं और पहले की हुई अवज्ञाओंके लिये पश्चात्ताप करते हुए क्षमा चाहते हैं। एवं अन्तमें विश्वरूपका संवरण करके अपना चिर-परिचित सौन्दर्य-माधुर्यसे युक्त गदाचक्रधारी चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये विनय करते हैं। अर्जुनके इस स्तवनमें पहले ३६ वें श्लोकके बाद ४६ वें श्लोकतक कहीं विश्वरूपके स्वरूपका वर्णन नहीं है। इसका यही तात्पर्य है कि अब विश्वरूपके अन्य स्तरोंके दर्शन रुक गये हैं, केवल वही भयंकर उग्ररूप अर्जुनके सामने है। भगवान्‌का यहींतक अर्जुनको दर्शन करानेका प्रयोजन था और अर्जुन भी इससे आगे देखना नहीं चाहते थे। बिना चाहे भगवान् दिखाते भी क्यों?

इसके बाद भगवान् अपने इस विश्वरूपको परम तेजोमय, आद्य (आदिरूप-सनातन) और अनन्त कहकर इसकी प्रशंसा करते हैं और अर्जुनको आश्वासन देते हुए कहते हैं कि मैंने प्रसन्न होकर ही तुमको ऐसा (वर्तमान महाभारतके वीरोंके संहारके दृश्यसे युक्त) प्रभावशाली महान् महिमामय स्वरूप दिखलाया है, जो अबतक किसीने नहीं देखा तथा आगे कोई देख नहीं सकता। तू मेरे इस घोर रूपको देखकर व्याकुल मत हो। मूढ़ता छोड़ दे। अब तेरे इच्छानुसार इस रूपका संवरण करके मैं तुझे वही चतुर्भुजरूप दिखलाता हूँ। तू उसे देख!

इस प्रकार यह प्रसंग समाप्त होता है। यहाँ दो-तीन शंकाएँ और की जाती हैं—

१-इतना बड़ा भगवान्का अप्रमेयस्वरूप जरा-से रथपर भगवान्ने अर्जुनको कैसे दिखलाया?

२-भगवान्का विश्वरूप यदि नित्य, अविनाशी और सनातन है तो उसमें ये विनाशी शरीर आदि प्राकृतिक पदार्थ कैसे रहते हैं?

३-सृष्टिका भविष्य पहलेसे ही निश्चित है और भगवान् उसे जानते हैं, तो फिर अमुक कर्म करो, अमुकका अमुक फल होगा, यह क्यों कहा जाता है?

इन शंकाओंका समाधान यह है कि—

१-भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं वे अवकाशमें अनवकाश, अनवकाशमें अवकाश कर सकते हैं, सूईके छेदसे सृष्टिको निकाल सकते हैं। उनके लिये कुछ भी अशक्य नहीं है, उनके लिये जरा-से स्थानमें अपना विराट्स्वरूप दिखलाना कौन बड़ी बात है?

२-यह सारा जगत् भगवान्का खेल है, खेलकी समस्त वस्तुएँ भगवान्के विराट् शरीरमें ही तो रहती हैं। क्षर, अक्षर सब उस खेलकी वस्तुएँ हैं, इसलिये उनका विश्वरूपमें दीखना उचित ही है। इससे उनके अविनाशीपनमें कोई बाधा नहीं आती।

३-हमारे लिये तो भविष्य निश्चित नहीं है; हमें तो अपने कर्मका ही फल मिलता है। परंतु भगवान्के लिये भविष्य कोई वस्तु ही नहीं है। जहाँ जो कुछ है सब भगवान्की दृष्टिमें है। वे त्रिकालज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं। अनिश्चित और निश्चित दोनोंको ही वे जानते हैं। कैसे जानते हैं इस बातका उत्तर उनके सिवा और कौन दे सकता है?

अन्तमें यह निवेदन है कि जो महानुभाव इस प्रसंगको काव्य, रूपक, ज्ञान-प्रदान या माया कहते हैं, वे भी अपनी-अपनी दृष्टिसे सत्य ही कहते हैं; क्योंकि यह महान् सुन्दर काव्य है ही। रूपक बन ही सकता है। ज्ञान-प्रदान तो निस्संदेह था ही; और सब कुछ भगवान्की लीला है, तब उसे भगवान्की माया बतावें तो क्या अनुचित है। लीला और भगवान्की स्व-माया एक ही चीज तो है।

किसी भी बहाने भगवान्के गुणोंकी चर्चा करना परम कल्याणकारक है, इसी उद्देश्यसे यह सब लिखा गया है। अज्ञताके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना है।

गीता और साधना

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते स मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः
सुता जह्नोः पूताः चरणनखनिर्णेजनजलम्।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः॥

(शंकराचार्य)

श्रृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य निर्विकार अज अविनाशी घट-घटवासी पूर्णब्रह्म परमात्मा लीलामय भगवान् श्रीकृष्णके चारु-चरणारविन्दोंकी परमपावनी भवभयहारिणी ऋषि-मुनिसेविता सुरासुर दुर्लभ भक्तजन-दिव्यनेत्रांजनस्वरूपा चरणधूलिको असंख्य नमस्कार है, जिसके एक कणप्रसादसे अनादिकालीन त्रितापतप्त मायामोहित जीव समस्त बन्धनोंसे अनायास ही मुक्त होकर लीलामयकी नित्य नूतन मधुर लीलामें सदैव सम्मिलित रहनेका प्रत्यक्ष अनुभव कर अपार आनन्दाम्बुधिमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है। साथ ही पूर्ण ब्रह्मकी उस पूर्ण ज्ञानमयी वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अनेक नमस्कार है, जिसके किंचित् अध्ययनमात्रसे ही मनुष्य सुदुर्लभ परमपदका अधिकारी हो जाता है। गीता भगवान्‌की दिव्य वाणी है, वेद तो भगवान्‌का निःश्वासमात्र हैं; परंतु गीता तो स्वयं आपके मुखारविन्दसे निकली हुई त्रितापहारिणी दिव्य सुधा-धारा है। गीतानायक

भगवान् श्रीकृष्ण, गीताके श्रोता अधिकारी भक्तशिरोमणि महात्मा अर्जुन और भगवती भागवती गीता तीनोंके प्रति पुनः-पुनः नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

भगवान्‌का तत्त्व भक्तिसे जाना जाता है, बुद्धिवादसे नहीं

विश्वके जीवोंका परम सौभाग्य है कि उन्हें श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन, श्रीकृष्ण-लीला-श्रवण और श्रीकृष्णोपदेश-अध्ययनका परम लाभ मिल रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण जीवोंपर दया करके ही पूर्णरूपसे द्वापरके अन्तमें अवतीर्ण हुए थे। मनुष्य-बुद्धिका मिथ्या गर्व आजकल बहुत ही बढ़ गया है, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्ण ईश्वरता और उनके पूर्ण अवतारपर लोग शंका कर रहे हैं, यह जीवोंका परम दुर्भाग्य समझना चाहिये कि आज स्वयं भगवान्‌के अवतार और उनकी लीलाओंपर मनमानी टीका-टिप्पणियाँ करनेका दुःसाहस किया जाता है और इसीमें ज्ञानका विकास माना जाता है। कुछ लोग तो यहाँतक मानते और कहते हैं कि भगवान्‌का अवतार कभी हो नहीं सकता। क्यों नहीं हो सकता? इसीलिये कि हमारी बुद्धि भगवान्‌का मनुष्यरूपमें अवतार होना स्वीकार नहीं करती। वाह री बुद्धि! जो बुद्धि क्षण-क्षणमें बदल सकती है, जिस बुद्धिका निश्चय तनिक-से भय या उद्वेगका कारण उपस्थित होते ही परिवर्तित हो जाता है, जो बुद्धि आज जिस वस्तुमें सुख मानती है, कल उसीमें दुःखका अनुभव करती है, जो बुद्धि भविष्य और भूतका यथार्थ निर्णय ही नहीं कर सकती और जो बुद्धि निरन्तर

मायाभ्रममें पड़ी हुई है, वह बुद्धि प्रकृतिके प्रकृत स्वामी परमात्माके कर्तव्य, उनकी अपरिमित शक्ति-सामर्थ्यका निर्णय करे और उनको अपने मनोऽनुकूल नियमोंकी सीमामें आबद्ध रखना चाहे, इससे अधिक उपहासास्पद विचार और क्या हो सकता है? अनादिकालसे जीव परमानन्दरूप परमात्माकी खोजमें लगा है, परमात्माकी प्राप्तिके लिये वह मनुष्य-जीवन धारण करता है, परमात्माकी प्राप्ति परमात्माको जाननेसे होती है, इसके लिये और कोई भी साधन नहीं है— **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'** परंतु उनका जानना अत्यन्त ही कठिन है। कारण, उनका स्वरूप अचिन्त्य है, मनुष्य अपने बुद्धि-बलसे भगवान्‌को कभी नहीं जान सकता, वह अपने विद्या, बुद्धि, बलसे जड संसारके तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परंतु परमात्माका ज्ञान बुद्धिके सहारे सर्वथा असम्भव है।

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः', **'यन्मनसा न मनुते'** (केन०)। **'नैषा तर्केण 'मतिरापनेया'**, **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'** (कठ०)।

श्रुतियाँ इस प्रकार पुकार रही हैं, फिर क्षणजीवन—अस्थायी, अस्थिरमति मनुष्य अपने बुद्धिवादके भरोसे परमात्माके परम तत्त्वका पता लगाना चाहता है **'किमाश्चर्यमतः परम्!'**

भगवान्‌को जाननेके बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'मैं जैसा हूँ वैसा तत्त्वसे मुझे जानते ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर जाता है यानी मद्रूपताको प्राप्त हो जाता है।' **भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥** (गीता १८।५५)

परंतु इस प्रकार जाननेका उपाय है केवल उनकी परम कृपा। भगवत्कृपाद्वारा ही भक्त उन्हें तत्त्वतः जान सकता है।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥' (कठ०)।

भगवान् जिसपर कृपा करते हैं वही उन्हें पाता है, उसीके समीप वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

इस कृपाका अनुभव उनकी 'परा' (अनन्य) भक्तिसे होता है, जिसके साधन भगवान्ने अपने श्रीमुखसे ये बतलाये हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८। ५१—५४)

(१) जिसकी बुद्धि तर्कजालसे छूटकर, परम श्रद्धासे ईश्वर-प्रेमके समुद्रमें अवगाहन कर विशुद्ध हो जाती है।

(२) जिसकी धारणामें एक भगवान्के सिवा अन्य किसीका भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता।

(३) जो अन्तःकरणको वशमें कर लेता है।

(४) जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों विषयोंमें आसक्त नहीं होता।

(५) जो राग-द्वेषको नष्ट कर डालता है।

(६) जो ईश्वरीय साधनके लिये एकान्तवास करता है।

(७) जो केवल शरीर-रक्षणार्थ सादा अल्प भोजन करता है।

(८) जिसने मन, वाणी और शरीरको जीत लिया है।

(९) जिसको इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे नित्य अचल वैराग्य है।

(१०) जो सदा-सर्वदा परमात्माके ध्यानमें मस्त रहता है।

(११) जिसने अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोधरूप दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग कर दिया है।

(१२) जो भोगके लिये आसक्तिवश किसी भी वस्तुका संग्रह नहीं करता।

(१३) जिसको सांसारिक वस्तुओंमें पृथक्-रूपसे 'मेरापन' नहीं रह गया है।

(१४) जिसके अन्तःकरणकी चंचलता नष्ट हो गयी है।

(१५) जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें लीन होनेकी योग्यता प्राप्त कर चुका है।

(१६) जो ब्रह्मके अंदर ही अपनेको अभिन्नरूपसे स्थित समझता है।

(१७) जो सदा प्रसन्नहृदय रहता है।

(१८) जो किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता।

(१९) जिसके मनमें किसी भी पदार्थकी आकांक्षा नहीं है।

(२०) जो सब भूतोंमें सर्वत्र समभावसे आत्मारूप परमात्माको देखता है।

इन लक्षणोंसे युक्त होनेपर साधक मेरी (भगवान्‌की) पराभक्तिको प्राप्त होता है, **'मद्भक्तिं लभते पराम्'** जिससे वह भगवान्‌का यथार्थ तत्त्व जान सकता है।

ईश्वरका अवतार

आजके हम क्षीणश्रद्धा, क्षीणबुद्धि, क्षीणबल, क्षीणपुण्य, साधनहीन, विषय-विलासमोहित, राग-द्वेषविजड़ित, काम-क्रोध-मद-लोभ-परायण, अजितेन्द्रिय, मानसिक संकल्पोंके गुलाम, अनिश्चितमति, दुर्बलहृदय मनुष्य तर्कके बलसे ईश्वरको तत्त्वसे जाननेका दावा करते हैं और यह कहनेका दुःसाहस कर बैठते हैं कि बस, ईश्वर ऐसा ही है। यह अभिमानपूर्ण दुराग्रहके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ईश्वरकी दिव्य क्रियाओं और उनकी अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें युक्तियाँ उपस्थित करके उन्हें सिद्ध या असिद्ध करते जाना नितान्त हास्यजनक बालकोचित कार्य है और इसीलिये यह किया भी जाता है। परमात्माके वे बालक जैसे अपनी ससीम बुद्धिकी सीमामें परम पिताकी असीम क्रियाशीलता और अपरिमित सामर्थ्यको बाँधनेका ईश्वरकी दृष्टिमें एक विनोदमय खेल करते हैं, इसी प्रकार मैं भी, जो अपने उन बड़े भाइयोंसे सब तरह छोटा हूँ—अपने उन भाइयोंको खेलका प्रतिद्वन्द्वी बनकर परम पिताको और अपने बड़े भाइयोंको अपनी मूर्खतापर हँसाकर प्रसन्न करनेके लिये कुछ खेल रहा हूँ, अन्यथा न तो मैं ईश्वरावतारको सिद्ध करनेकी आवश्यकता समझता हूँ, न उसे सिद्ध करनेका अपना अधिकार ही मानता हूँ, न वैसी योग्यता समझता हूँ, न साधक और सदाचारी होनेका ही दावा करता हूँ और न सांसारिक विद्या-बुद्धि एवं तर्कशीलतामें ही अपनेको दूसरे पक्षके समकक्ष पाता हूँ, ऐसी स्थितिमें मेरा यह प्रयत्न इसीलिये समझना चाहिये कि इसी बहाने भगवान्‌के कुछ नाम आ जायँगे, उनकी दो-चार लीलाओंका स्मरण होगा, जिनके प्रभावसे महापापी मनुष्य भी परमात्माके प्रेमका अधिकारी बन जाता है।

अवतारके विरोधियोंकी प्रधान दलीलें हैं—

(१) पूर्ण परब्रह्मका अवतार धारण करना सम्भव नहीं।

(२) यदि अखण्डब्रह्म अवतार धारण करता है तो उसकी अखण्डता नहीं रह सकती जो ईश्वरमें अवश्य रहनी चाहिये।

(३) ब्रह्मके एक ही निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें रहनेपर शेष सृष्टिका काम कैसे चलेगा?

(४) किसी देश, काल, पात्रविशेषमें ही ईश्वरको माननेसे ईश्वरकी महत्ताको संकुचित किया जाता है।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण बिना ही अवतार धारण किये दुष्ट-संहार, शिष्टपालन और धर्मसंस्थापनादि कार्य कर सकता है, फिर उसको अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता है।

(६) ईश्वरके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उसका अपमान करना है।

इसी प्रकार और भी कई दलीलें हैं, इन सबका एकमात्र उत्तर तो यह है कि यही मेरी समझसे सबसे उपयुक्त है कि 'सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें सब कुछ सम्भव है, छोटे-बड़े होनेमें उनका कोई संकोच विस्तार नहीं होता; क्योंकि उनका रूप ही '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' है, उनकी इच्छाका मूल उन्हींके ज्ञानमें है, अतः वे कब, क्यों, कैसे, क्या करते हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर वे ही दे सकते हैं। परंतु उन भगवान्‌को हम जैसे अतपस्क, अभक्त, जिज्ञासाशून्य, ईश्वरनिन्दक जीवोंके सामने अपनी गोपनीय लीला प्रकाश करनेकी गरज ही क्या है? अस्तु।'

अतएव विनोदके भावसे ही उपर्युक्त दलीलोंका कुछ उत्तर दिया जाता है।

दलीलोंका उत्तर

(१) सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्मके लिये ऐसी कोई बात नहीं जो सम्भव न हो। जब नाना प्रकार विचित्र सृष्टिकी रचना, उसका पालन विधिवत् समस्त व्यवहारोंका संचालन तथा चराचर छोटे-बड़े समस्त भूतोंमें विकसित एवं अविकसित आत्मसत्तारूपमें निवास आदि अद्भुत कार्य सम्भव हैं, तब अपनी इच्छासे अवतार धारण करना उनके लिये असम्भव कैसे हो सकता है।

(२) अखण्ड ब्रह्मके अवतार धारण करनेसे उनकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पहुँचती। परमात्माका स्वरूप जगत्के औपाधिक पदार्थोंकी तरह ससीम नहीं है, जगत्के पदार्थ एक समय दो जगह नहीं रह सकते, परंतु परमात्माके लिये ऐसी बात नहीं कही जा सकती। क्या परमात्मा असंख्य जीवोंमें आत्मरूपसे वर्तमान नहीं है? यदि है तो क्या वह खण्ड-खण्ड है? यदि उन्हें खण्ड मानते हैं तो अनेक ब्रह्म मानने पड़ते हैं। परंतु ऐसी बात नहीं है। वे एक जगह मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होनेपर भी अनन्तरूपसे अपनी सत्तामें स्थिर रहते हैं। यह सारा संसार ब्रह्मसे उत्पन्न है, सभी जीवोंमें ब्रह्मकी आत्मसत्ता है जो 'निरंश' भगवान्का सनातन अंश है। **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** इतना होनेपर उनकी अखण्डतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वे सृष्टिके पूर्व जैसे थे वैसे ही अब हैं, उनकी पूर्णता नित्य और अनन्त है। क्योंकि—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णकी वृद्धि होती है, पूर्णके पूर्णको ले लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है।

आकाशमें लाखों नगर बस जानेपर भी आकाशकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पड़ती, यद्यपि दीवारोंसे घिरे हुए अंशविशेषमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है। आकाशका उदाहरण भी भगवान्‌की अखण्डताको बतलानेके लिये पर्याप्त नहीं है; क्योंकि यह अनन्त और असीम नहीं है, सान्त और ससीम है; परंतु भगवान् तो नित्य अनन्त और असीम हैं।

यही भगवान्‌की महिमा है, इसीसे वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहते हैं। ऐसे महामहिम भगवान्‌के सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपोंकी कल्पना की जाती है। भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको तो भगवान् ही जानते हैं। अतएव अवतार लेनेपर भी वे अखण्ड ही रहते हैं।

(३) जब भगवान् अपनी सत्तामें सदैव समानभावसे पूर्ण रहते हैं, तब उनके एक जगह अवतार धारण करनेपर उनके द्वारा शेष सृष्टिके कार्य-संचालन होनेमें कोई बाधा आ ही कैसे सकती है?

(४) ईश्वरका संकोच नहीं होता, वे '**आत्ममायया**' अपनी लीलासे नरदेह धारण करते हैं। किसी निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें प्रकट होनेपर भी वे व्यापक अव्यक्त अग्निकी भाँति समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त रहते हैं और जिस सत्ताके द्वारा सृष्टि-क्रमका संचालन किया जाता है, उसमें भी स्थित रहते हैं। यही उनकी अलौकिकता है। अवतारवादी लोग ईश्वरको केवल देहदृष्टिसे नहीं पूजते, वे उन्हें पूर्ण परात्पर भगवत्-भावसे ही पूजते हैं। इसलिये वे उनको छोटा नहीं बनाते, वरं कृपावश अपनी महिमासे अपने नित्य स्वरूपमें पूर्णरूपसे स्थित रहते हुए ही हमारे उद्धारके लिये प्रकट हुए हैं, ऐसा समझकर वे उनकी महिमाको और भी बढ़ाते

हैं। यहाँपर यह कहा जा सकता है कि आत्मरूपसे तो सभी जीव ईश्वरके अवतार हैं, फिर किसी खास अवतारको ही भगवान् क्यों मानना चाहिये? यद्यपि भगवान्‌की आत्मसत्ता सबमें व्याप्त होनेसे सभी ईश्वरके अवतार हैं; परंतु वे जीवभावको प्राप्त रहनेके कारण कर्मवश मनुष्यादि शरीरमें प्रकट हुए हैं, वे कर्मफल भोगनेमें परतन्त्र हैं, परंतु भगवान् तो यह कहते हैं कि—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—मैं अविनाशी, अजन्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृतिको साथ लेकर लीलासे देह धारण करता हूँ।

इससे पता चलता है, वे जीवोंका उद्धार करनेके लिये स्वतन्त्रतासे दिव्य देह धारण करते हैं। अतएव उनमें कोई संकोच नहीं होता।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे संकल्पसे ही सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, इस स्थितिमें उनके लिये अवतार धारण किये बिना ही दुष्टोंका संहार, शिष्टोंका पालन और धर्म-संस्थापन करना सर्वथा सम्भव है, परंतु तो भी सुना जाता है कि वे भक्तोंके प्रेमवश अवतार लेकर जगत्‌में एक महान् आदर्शकी स्थापना करते हैं। वे संसारमें न आवें तो जगत्‌के लोगोंको ऐसा महान् आदर्श कहाँसे मिले? लोकमें आदर्श स्थापन करनेके लिये ही वे अपने पार्षद और मुक्त भक्तोंको साथ लेकर धराधाममें अवतीर्ण होते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

(गीता ३। २२ से २४ का पूर्वार्ध)

हे अर्जुन! यद्यपि तीनों लोकोंमें न तो मुझे कुछ कर्तव्य है और न मुझे कोई वस्तु अप्राप्त ही है, (क्योंकि मैं ही सबका आत्मा, अधिष्ठान, सूत्रधार, संचालक और भर्ता हूँ) तथापि मैं कर्म करता हूँ, यदि मैं सावधानीसे कर्म न करूँ तो दूसरे लोग भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करके आदर्श शुभ कर्मोंका करना त्याग दें (क्योंकि कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग तो होता नहीं, केवल शुभ कर्म ही त्यागे जाते हैं)। अतएव मेरे कर्म करके आदर्श स्थापित न करनेसे लोक साधनमार्गसे भ्रष्ट हो जायँ।

इसके अतिरिक्त उनके अवतारके निगूढ़ रहस्यको वास्तवमें स्वयं वे ही जानते हैं, या वे महात्मा पुरुष यत्किंचित् अनुमान कर सकते हैं जो भगवान्‌की प्रकृतिसे उनकी कृपाके द्वारा किसी अंशमें परिचित हो चुके हैं। परंतु जो अपनी बुद्धिके बलपर तर्कयुक्तियोंकी सहायतासे तर्कातीत परमात्माकी प्रकृतिका निरूपण करना चाहते हैं, उन्हें तो औंधे मुँह गिरना ही पड़ता है। पर अवतारवादी तो यह कभी कहते भी नहीं कि बिना अवतारके दुष्ट-संहार, शिष्ट-पालन और धर्म-संस्थापन कार्य कभी नहीं होता। न गीतामें ही कहीं भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान् किसी दूसरेको भेजकर या दूसरेको शक्ति प्रदान करके भी ये काम करवा सकते हैं, इसीसे कला और अंशभेदसे अनेक अवतार माने जाते हैं। अधर्मके कितने परिमाणमें बढ़ जानेपर और भक्तोंके प्रेमकी धारा कहाँतक बह जानेपर भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं,

इस बातका निर्णय हमारी बुद्धि नहीं कर सकती; क्योंकि वह अपने बलसे आध्यात्मिक पथपर बहुत दूरतक जा ही नहीं सकती।

भगवान् दुष्टोंका विनाश करके भी उनका उद्धार ही करने आते हैं। महाभारत और श्रीमद्भागवतके इतिहाससे यह भलीभाँति सिद्ध है। पर इस कार्यके लिये अवतार धारण करनेकी यह आवश्यकता कब होती है, इस बातका पता भी उन्हींको है, जिनकी एक सत्ताके अधीन सब जीवोंके कर्मोंका यन्त्र है।

(६) उनके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उनका अपमान नहीं है, अपितु उनकी शक्तिको सीमाबद्ध कर देना और यह मान लेना कि वे ऐसा नहीं कर सकते, यही उनका अपमान है। जो अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर सकते हैं, वे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण नहीं हो सकते, ऐसा निर्णय कर उनकी शक्तिका सीमानिर्देश करना कदापि उचित नहीं है।

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान् हैं

उपर्युक्त विवेचनसे गीताके अनुसार यह सिद्ध है कि ईश्वर अपनी इच्छासे प्रकृतिको अपने अधीनकर जब चाहें तभी लीलासे अवतार धारण कर सकते हैं। संसारमें भगवान्‌के अनेक अवतार हो चुके हैं, अनेक रूपोंमें प्रकट होकर मेरे उन लीलामय नाथने अनेक लीलाएँ की हैं—'**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि**'। कला और अंशावतारोंमें कई क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुके होते हैं, कुछ भगवान् शिवके होते हैं, कुछ सच्चिदानन्दमयी योगशक्ति देवीके होते हैं, किसीमें कम अंश रहते हैं, किसीमें अधिक, अर्थात् किसीमें भगवान्‌की शक्ति-सत्ता न्यून प्रकट

होती है, किसीमें अधिक। इसीलिये सूतजी महाराजने मुनियोंसे कहा है—

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

(श्रीमद्भा० १। ३। २८)

मीन, कूर्मादि अवतार सब भगवान्के अंश हैं, कोई कला है, कोई आवेश है, परंतु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।

वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पूर्ण हैं। उनमें सभी पूर्व और आगामी अवतारोंका पूर्ण समावेश है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त वैराग्यकी जीवन्त मूर्ति हैं। प्रारम्भसे लेकर लीलावसानपर्यन्त उनके सम्पूर्ण कार्य ही अलौकिक—चमत्कारपूर्ण हैं। उनमें सभी शक्तियाँ प्रकट हैं। बाबू बंकिमचन्द्रजी चटर्जीने भगवान् श्रीकृष्णको अवतार माना है और लाला लाजपतराय आदि विद्वानोंने महान् योगेश्वर। परंतु इन महानुभावोंने भगवान् श्रीकृष्णको जगत्के सामने भगवान्की जगह पूर्ण मानवके रूपमें रखना चाहा है। मानव कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह है मानव ही, पर भगवान् भगवान् ही हैं, वे अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति हैं। महामना बंकिम बाबूने अपने भगवान् श्रीकृष्णको, सर्वगुणान्वित, सर्वपापसंस्पर्शशून्य, आदर्शचरित्र, पूर्ण मानवके रूपमें विश्वके सामने उपस्थित करनेके अभिप्रायसे उनके अलौकिक ऐश्वरिक, मानवातीत, मानव-कल्पनातीत, शास्त्रातीत और नित्य मधुर चरित्रोंको उपन्यास बतलाकर उड़ा देनेका प्रयास किया है, उन्होंने भगवान्के ऐश्वर्यभावके कुछ अंशको, जो उनके मनमें निर्दोष जँचा है, मानकर, शेष रस और ऐश्वर्यभावको प्रायः छोड़ दिया है। इसका कारण यही है कि वे भगवान् श्रीकृष्णको पूर्ण मानव-आदर्शके नाते भगवान्का

अवतार मानते थे, न कि भगवान्‌की हैसियतसे अलौकिक शक्तिके नाते। यह बात खेदके साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि विद्या-बुद्धिके अत्यधिक अभिमानने भगवान्‌को तर्ककी कसौटीपर कसनेमें प्रवृत्त कराकर आज मनुष्यहृदयको श्रद्धाशून्य, शुष्क, रसहीन बनाना आरम्भ कर दिया है। इसीलिये आज हम अपनेको भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका माननेवाला कहते हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् माननेमें और उनके शब्दोंका सीधा अर्थ करनेमें हमारी बुद्धि सकुचाती है और ऐसा करनेमें हमें आज अपनी तर्कशीलता और बुद्धिमत्तापर आघात लगता हुआ-सा प्रतीत होता है। भगवान्‌का सारा जीवन ही दिव्य लीलामय है, परंतु उनकी लीलाओंको समझना आजके हम-सरीखे अश्रद्धालु मनुष्योंके लिये बहुत कठिन है—इसीसे उनकी चमत्कारपूर्ण लीलाओंपर मनुष्यको शंका होती है और इसीलिये आजकलके लोग उनके दिव्यरूपावतारसे पूतनावध, शकटासुरवध, यशोदाको मुखमें विराट्-रूप दिखलाने, दधिमाखन-भक्षण, अघासुरवध, सालभरतक बछड़े और बालकरूप बने रहने, कालियदमन, अग्निपान, चीरहरण, गोवर्धनधारण, रासलीला, पांचालीका चीर बढ़ाने, कौरवोंकी राजसभामें विलक्षण चमत्कार दिखलाने और अर्जुनको विराट्स्वरूप दिखलाने आदि लीलाओंपर सन्देह करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जिन परमात्माकी मायाने जगत्‌को मनुष्यकी बुद्धिसे अतीत नाना प्रकारके अद्भुत वैचित्र्यसे भर रखा है, उन मायापति भगवान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, बल्कि इन ईश्वरीय लीलाओंमें ही उनका ईश्वरत्व है, परंतु यह लीला मनुष्य-बुद्धिसे अतर्क्य है। इन लीलाओंका रहस्य समझ लेना साधारण बात नहीं है। जो भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मके रहस्यको तत्त्वतः समझ

लेता है, वह तो उनके चरणोंमें सदाके लिये स्थान ही पा जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीर छोड़कर पुनः जन्म नहीं लेता, वह तो मुझको ही प्राप्त होता है।' जिसने भगवान्‌के दिव्य अवतार और दिव्य लीला-कर्मोंका रहस्य जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। वह तो फिर भगवान्‌की लीलामें उनके हाथका एक यन्त्र बन जाता है। लोकमान्य लिखते हैं कि 'भगवत्प्राप्ति होनेके लिये (इसके सिवा) दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है; भगवत्‌की यही सच्ची उपासना है।' परंतु तत्त्व जानना श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करनेसे ही सम्भव होता है। जिन महात्माओंने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ-रूपसे जान लिया था, उन्हींमेंसे श्रीसूतजी महाराज थे, जो हजारों ऋषियोंके सामने यह घोषणा करते हैं कि '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' और भगवान् वेदव्यासजी तथा ज्ञानिप्रवर शुकदेवजी महाराज इसी पदको ग्रन्थितकर और गानकर इस सिद्धान्तका सानन्द समर्थन करते हैं!

भगवान् श्रीकृष्णको नारायण ऋषिका अवतार कहा गया है, नर-नारायण ऋषियोंने धर्मके औरस और दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे उत्पन्न होकर महान् तप किया था। कामदेव अपनी सारी सेना समेत बड़ी चेष्टा करके भी इनके व्रतका भंग नहीं कर सका (भागवत २। ७। ८)। ये दोनों भगवान् श्रीविष्णुके अवतार थे। देवीभागवतमें इन दोनोंको हरिका अंश (**हरेरंशौ**) कहा है (दे० भा० ४। ५। १५) और भागवतमें कहा है कि भगवान्‌ने

चौथी बार धर्मकी कलासे नर-नारायण ऋषिके रूपमें आविर्भूत होकर घोर तप किया था। भागवत और देवीभागवतमें इनकी कथाका विस्तार है। महाभारत और भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको कई जगह नर-नारायणका अवतार बतलाया गया है (वनपर्व ४०।१२; भीष्मपर्व ६६।११; उद्योगपर्व ९६।४६ आदि; श्रीमद्भागवत ११।७।१८; १०।८९।३२-३३ आदि)।

दूसरे प्रमाण मिलते हैं कि वे क्षीरसागरनिवासी भगवान् विष्णुके अवतार हैं। कारागारमें जब भगवान् प्रकट होते हैं तब शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीविष्णुरूपसे ही पहले प्रकट होते हैं तथा भागवतमें गोपियोंके प्रसंगमें तथा अन्य स्थलोंमें उन्हें 'लक्ष्मीसेवितचरण' कहा गया है, जिससे श्रीविष्णुका बोध होता है। भीष्मपर्वमें ब्रह्माजीके वाक्य हैं—

हे देवतागणो! सारे जगत्का प्रभु मैं इनका ज्येष्ठ पुत्र हूँ, अतएव—

वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः॥

(महा०, भीष्म० ६६।१३-१४)

'सर्वलोकके महेश्वर इन वासुदेवकी पूजा करनी चाहिये। हे श्रेष्ठ देवताओ! साधारण मनुष्य समझकर उनकी कभी अवज्ञा न करना। कारण, वे शंख, चक्र, गदाधारी महावीर्य (विष्णु) भगवान् हैं।' जय-विजयकी कथासे भी उनका विष्णु-अवतार होना सिद्ध है। इस विषयके और भी अनेक प्रमाण हैं।

तीसरे इस बातके भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परमब्रह्म पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन थे। भगवान्ने गीता और अनुगीतामें स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें अनेक बार ऐसा कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (गीता १०।८)

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (गीता ७।७)

... ... सर्वलोकमहेश्वरम्। (गीता ५।२९)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १०।४२)

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५।१९)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

गीतामें ऐसे श्लोक बहुत हैं, उदाहरणार्थ थोड़ेसे लिखे हैं। इनके सिवा महाभारतमें पितामह भीष्म, संजय, भगवान् व्यास, नारद, श्रीमद्भागवतमें नारद, ब्रह्मा, इन्द्र, गोपियाँ, ऋषिगण आदिके ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म सनातन परमात्मा थे। अग्रपूजाके समय भीष्मजी कहते हैं—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥

(महा०, सभा० ३८। २३-२४)

'श्रीकृष्ण ही लोकोंके अविनाशी उत्पत्तिस्थान हैं, इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है। यही अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता हैं, यही अच्युत सर्वभूतोंसे श्रेष्ठतम और पूज्यतम हैं।' जो ईश्वरोंके ईश्वर होते हैं, वही महेश्वर या परब्रह्म कहलाते हैं—

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।' (श्वेता० ६। ७)

मनुष्यरूप असुरोंके अत्याचारों और पापोंके भारसे घबराकर पृथ्वीदेवी गौका रूप धारण कर ब्रह्माजीके साथ जगन्नाथ भगवान् विष्णुके समीप क्षीरसागरमें जाती हैं (भगवान् विष्णु व्यष्टि पृथ्वीके अधीश्वर हैं; पालनकर्ता हैं। इसीसे पृथ्वी उन्हींके पास गयी)। तब भगवान् कहते हैं— 'मुझे पृथ्वीके दुःखोंका पता है, ईश्वरोंके ईश्वर कालशक्तिको साथ लेकर पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये पृथ्वीपर विचरण करेंगे। देवगण उनके आविर्भावसे पहले ही वहाँ जाकर यदुवंशमें जन्म ग्रहण करें।

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

'साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेवके घरमें अवतीर्ण होंगे, अतः देवांगनागण उनकी सेवाके लिये वहाँ जाकर जन्म ग्रहण करें।' फिर कहा कि (वासुदेवके कलास्वरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीहरिके प्रियसाधनके लिये पहले जाकर अवतीर्ण होंगे और भगवती विश्वमोहिनी माया भी प्रभुकी आज्ञासे उनके कार्यके लिये अवतार धारण करेंगी।) इससे भी यह सिद्ध होता है, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म थे। अब यह शंका होती है कि यदि वे पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे तो नर-नारायण और श्रीविष्णुके अवतार कैसे हुए और भगवान् विष्णुके अवतार तथा नर-नारायण ऋषिके अवतार थे तो पूर्ण ब्रह्मके अवतार कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें पूर्ण ब्रह्म ही हैं। वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं, उनमें सारे भूत, भविष्य, वर्तमानके अवतारोंका समावेश है। वे कभी विष्णुरूपसे लीला करते हैं, कभी नर-नारायणरूपसे और कभी पूर्ण ब्रह्म सनातन ब्रह्मरूपसे। मतलब यह कि वे सब कुछ हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, वे सनातन ब्रह्म हैं, वे गोलोकविहारी महेश्वर हैं, वे क्षीरसागरशायी

परमात्मा हैं, वे वैकुण्ठनिवासी विष्णु हैं, वे सर्वव्यापी आत्मा हैं, वे बदरिकाश्रमसेवी नर-नारायण ऋषि हैं, वे प्रकृतिमें गर्भ स्थापन करनेवाले विश्वात्मा हैं और वे विश्वातीत भगवान् हैं। भूत, भविष्य, वर्तमानमें जो कुछ है, वे वह सब कुछ हैं और जो उनमें नहीं है, वह कभी कुछ भी कहीं नहीं था, न है और न होगा। बस, जो कुछ हैं सो वही हैं, इसके सिवा वे क्या हैं सो केवल वही जानते हैं, हमारा कर्तव्य तो उनकी चरणधूलिकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनामात्र है, इसके सिवा हमारा और किसी बातमें न तो अधिकार है और न इस परम साधनका परित्याग कर अन्य प्रपंचमें पड़नेसे लाभ ही है।

साधकोंका कर्तव्य

जो लोग विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, तर्कशील हैं, वे अपने इच्छानुसार भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी समालोचना करें। उन्हें महापुरुष मानें, योगेश्वर मानें, परम पुरुष मानें, पूर्ण मानव मानें, अपूर्ण मानें, राजनीतिक नेता मानें, कुटिल नीतिज्ञ मानें, संगीत-विद्याविशारद मानें या कविकल्पित पात्र मानें, जो कुछ मनमें आवे सो मानें। साधकोंके लिये साँवरे मनमोहनके चरणकमल-चंचरीक दीनजनोंके लिये तो वे अंधेकी लकड़ी हैं, कंगालके धन हैं, प्यासेके पानी हैं, भूखेकी रोटी हैं, निराश्रयके आश्रय हैं, निर्बलके बल हैं, प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, देवोंके देव हैं, ईश्वरोंके ईश्वर हैं और ब्रह्मोंके ब्रह्म हैं, सर्वस्व वही हैं—बस,

मोहन बसि गयो मेरे मनमें।
लोक-लाज कुल-कानि छूटि गई, याकी नेह- लगनमें॥
जित देखों तित ही वह दीखै, घर-बाहर, आँगनमें।
अंग अंग प्रति रोम-रोममें, छाइ रह्यो तन-मनमें॥

कुंडल-झलक कपोलन सोहै, बाजूबन्द भुजनमें।
कंकन-कलित ललित बनमाला, नूपुरधुनि चरननमें॥
चपल नैन, भ्रकुटी बर बाँकी, ठाढ़ो सघन लतनमें।
नारायन बिन मोल बिकी हौं याकी नैंक हसनमें॥

अतएव साधकोंकी बड़ी सावधानीसे अपने साधन-पथकी रक्षा करनी चाहिये। मार्गमें अनेक बाधाएँ हैं। विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ आदिके अभिमानकी बड़ी-बड़ी घाटियाँ हैं, भोगोंकी अनेक मनहरण वाटिकाएँ हैं, पद-पदपर प्रलोभनकी सामग्रियाँ बिखरी हैं, कुतर्कका जाल तो सब ओर बिछा हुआ है, दम्भ-पाखण्डरूपी मार्गके ठग चारों ओर फैल रहे हैं, मान-बड़ाईके दुर्गम पर्वतोंको लाँघनेमें बड़ी वीरतासे काम लेना पड़ता है; परंतु श्रद्धाका पाथेय, भक्तिका कवच और प्रेमका अंगरक्षक सरदार साथ होनेपर कोई भय नहीं है। उनको जानने, पहचानने, देखने और मिलनेके लिये इन्हींकी आवश्यकता है, कोरे सदाचारके साधनोंसे और बुद्धिवादसे काम नहीं चलता। भगवान्‌के ये वचन स्मरण रखने चाहिये—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

'हे अर्जुन! हे परंतप! जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकार वेदाध्ययन, तप, दान और यज्ञसे मैं नहीं देखा जा सकता। केवल अनन्य भक्तिसे ही मेरा देखा जाना, तत्त्वसे समझा जाना और मुझमें प्रवेश होना सम्भव है।'

गीताका सदुपयोग और दुरुपयोग

भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशामृत गीतासे हमें वही यथार्थ तत्त्व

ग्रहण करना चाहिये, जिससे भगवत्-प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो। वास्तवमें भगवद्गीताका यही उद्देश्य समझना चाहिये और इसी काममें इसका प्रयोग करना गीताके उपदेशोंका सदुपयोग करना है। भगवान् श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीबलदेव आदि महान् आचार्योंसे लेकर आधुनिक कालके महान् आत्मा लोकमान्य तिलक महोदयतकने भिन्न-भिन्न उपायोंका प्रतिपादन करते हुए भगवत्-प्राप्तिमें ही गीताका उपयोग करना बतलाया है। इन लोगोंमें भगवान् और भगवत्-प्राप्तिके स्वरूपमें पार्थक्य रहा है; परंतु भगवत्-प्राप्तिरूप साध्यमें कोई अन्तर नहीं है। अवश्य ही आजकल गीताका प्रचार पहलेकी अपेक्षा अधिक है; परंतु उससे जितना आध्यात्मिक लाभ होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है; इसका कारण यही है कि गीताका अध्ययन करनेके लिये जैसा अन्तःकरण चाहिये, वैसा आजकलके हमलोगोंका नहीं है। नहीं तो गीताके इतने प्रचार-कालमें देश-देशान्तरोंमें पवित्र भगवद्भावोंकी बाढ़ आ जानी चाहिये थी। गीताके महान् सदुपदेशोंके साथ हमारे आजके आचरणोंकी तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि हमारा आजका गीताप्रचार केवल बाहरी शोभामात्र है। कई क्षेत्रोंमें तो गीता स्वार्थसाधन या स्वमत-पोषणकी सामग्री बन गयी है, यही गीताका दुरुपयोग है। यहाँ इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) कुछ लोग जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, नाना प्रकारसे पापाचरणोंमें प्रवृत्त हैं; चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि करते हैं; परंतु अपनेको गीताके अनुसार चलनेवाला प्रसिद्ध करते हैं। वे पूछनेपर कह देते हैं कि 'यह सब तो प्रारब्ध-कर्म है;' क्योंकि गीतामें कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(३।३३)

'सभी जीव अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार बनी हुई प्रकृतिके वश होते हैं, ज्ञानीको भी अपनी अच्छी-बुरी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करनी पड़ती है, इसमें कोई क्या कर सकता है? जब ज्ञानीको भी पाप करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है तब हमारी तो बात ही क्या है?' यों अर्थका अनर्थ कर अपने पापोंका समर्थन करनेवाले लोग इसीके अगले श्लोकपर और आगे चलकर ३७ वेंसे ४३ वें श्लोकतकके विवेचनपर ध्यान नहीं देते, जिनमें स्पष्ट कहा गया है कि पाप आसक्तिमूलक कामनासे होते हैं जिसपर विजय प्राप्त करना यानी पापोंसे बचना मनुष्यके हाथमें है और उसे उनसे बचना चाहिये। परंतु वे इन बातोंकी ओर क्यों ध्यान देने लगे? उन्हें तो गीताके श्लोकोंसे अपना मतलब सिद्ध करना है। यह गीताका एक दुरुपयोग है।

(२) कुछ पाखण्डी और पापाचारी लोग—जो अपनेको ज्ञानी या अवतार बतलाया करते हैं, अपने पाखण्ड और पापके समर्थनमें गीताके ये श्लोक उपस्थित करते हैं कि—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

'अपने राम तो अपने स्वरूपमें ही मस्त हैं, कुछ करते-कराते नहीं; यह सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना, जाना, सोना, श्वास लेना, बोलना, त्यागना, ग्रहण करना, आँखें खोलना, बंद करना आदि कार्य तो इन्द्रियोंका अपने-अपने अर्थोंमें बर्तनामात्र है।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्तती हैं, अपने राम तो आकाशवत् निर्लेप हैं।' कहाँ तो आत्मज्ञानीकी स्थिति और कहाँ उसके द्वारा पापीका पाप समर्थन! यह गीताका दूसरा दुरुपयोग है।

(३) कुछ लोग जो भक्तिका स्वाँग धारण कर पाप बटोरना और इन्द्रियोंको अन्यायाचरणसे तृप्त करना चाहते हैं—यह श्लोक कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अपना तो भगवान्‌के जन्म या लीलास्थानमें उनकी शरणमें पड़े रहनामात्र कर्तव्य है। उन्होंने स्पष्ट ही आज्ञा दे रखी है कि सब धर्मों (सत्कर्मों)-को छोड़कर मेरी शरण हो जाओ। पाप करते हो उनके लिये कोई परवा नहीं, पापोंसे मैं आप ही छुड़ा दूँगा। तुम तो निश्चिन्त होकर मेरे दरवाजेपर चाहे जैसे भी पड़े रहो। इसलिये अपने तो यहाँ पड़े हैं, पाप छूटना तो हमारे हाथकी बात नहीं और भगवान्‌के वचनानुसार छोड़नेकी जरूरत ही क्या है? दान-पुण्य, जप-तपका बखेड़ा जरूर छोड़ दिया है। भगवान् आप ही सँभालेगा।'

यह अर्थका अनर्थ और गीताका महान् दुरुपयोग है।

(४) कुछ लोग जिनका हृदय राग-द्वेषसे भरा है। अन्तःकरण विषमताकी आगसे जल रहा है, पर अभक्ष्य-भक्षण और व्यभिचार आदिके समर्थनके लिये सारे भेदोंको मिटाकर परस्पर प्रेम स्थापन करना अपना सिद्धान्त बतलाते हुए गीताका श्लोक कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

'जो पण्डित या ज्ञानी होते हैं, वे विद्या और विनयशील ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी, कुत्तेमें कोई भेद नहीं समझते, सबसे एक-सा व्यवहार करते हैं। भगवान्‌के कथनानुसार जब कुत्ते और ब्राह्मणमें भी भेद नहीं करना चाहिये तब मनुष्य-मनुष्यमें भेद कैसा?' परंतु यह इस श्लोकके अर्थका सर्वथा विपरीतार्थ है। भगवान्‌ने इस श्लोकमें व्यावहारिक भेदको विशेषरूपसे मानकर ही आत्मरूपमें सबमें समता देखनेकी बात कही है! इसमें 'समान व्यवहार' की बात कहीं नहीं है, बात है 'समान दर्शन' की। हमें आत्मरूपसे सबमें परमात्माको देखकर किसीसे भी घृणा नहीं करनी चाहिये; परंतु सबके साथ एक-सा व्यवहार होना असम्भव है। इसीसे भगवान्‌ने कुत्ते, गौ और हाथीके दृष्टान्तसे पशुओंका और विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डालके दृष्टान्तसे मनुष्योंके व्यवहारका भेद सिद्ध किया है। राजा कुत्तेपर सवारी नहीं कर सकता। गौकी जगह कुतियाका दूध कोई काममें नहीं आता। परंतु स्वार्थसे विपरीत अर्थ किया जाता है। यह गीताका दुरुपयोग है।

(५) कुछ लोग '**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा**' का प्रमाण देकर केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातिमें जन्म होनेके कारण ही अपनेको बड़ा और इतर वर्णोंको छोटा समझकर उनसे घृणा करते हैं; परंतु वे यह नहीं सोचते कि भगवद्भक्तिमें सबका समान अधिकार है और भगवान्‌की प्राप्ति भी उसीको पहले होती है, जो सच्चे मनसे भगवान्‌का अनन्य भक्त होता है, इसमें जाति-पाँतिकी कोई विशेषता नहीं है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।

मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(७।९।१०)

पद्मपुराणका वाक्य है—

हरेरभक्तो विप्रोऽपि विज्ञेयः श्वपचाधिकः।
हरेर्भक्तः श्वपाकोऽपि विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः॥

ऐसी स्थितिमें केवल ऊँची जातिमें पैदा होनेमात्रसे ही अपनेको ऊँचा मानकर गीताके श्लोकके सहारे दूसरोंसे घृणा करना-कराना गीताका दुरुपयोग करना है।

(६) कुछ लोग जो गेरुआ कपड़ा पहनकर आलस्य या प्रमादवश कोई भी अच्छा कार्य न करके कर्तव्यहीन होकर मानव-जीवन व्यर्थ खो देते हैं, पूछनेपर कहते हैं—'हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं है।' भगवान्‌ने गीतामें साफ कह दिया है—'**तस्य कार्यं न विद्यते**' इससे हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं रह गया है, जबतक कोई कर्तव्य रहता है, तबतक मनुष्य मुक्त नहीं माना जाता। कर्तव्योंका त्याग ही मुक्ति है। इस प्रकार जीवन्मुक्त त्यागी विरक्त महात्माके लिये प्रयुक्त गीताके शब्दोंका तामस कर्तव्यशून्यतामें प्रयोग करना अवश्य ही गीताका दुरुपयोग है।

(७) कुछ लोग जो आसक्ति और भोग-सुखोंकी कामनावश रात-दिन प्रापंचिक कार्योंमें लगे रहते हैं, कभी भूलकर भी भगवान्‌का भजन नहीं करते, परंतु भगवदीय साधनके लिये गृहस्थ-त्यागकर संन्यास ग्रहण करनेवाले संतोंकी निन्दा करते हुए कहते हैं—भगवान्‌ने गीतामें '**कर्मयोगो विशिष्यते**' कहकर कर्म ही करनेकी आज्ञा दी है। 'ये संन्यासी सब ढोंगी हैं, हम तो दिन-रात कर्म करके भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं।' इस प्रकार आसक्तिवश पाप-पुण्यके विचारसे रहित सांसारिक

कर्मोंका समर्थन करनेमें गीताका सहारा लेकर त्यागियोंकी निन्दा करना और अपने विषय-वासनायुक्त कर्मोंको उचित बतलाना गीताका दुरुपयोग है।

(८) कुछ लोग '**एवं प्रवर्तितं चक्रम्**' श्लोकसे चरखा और '**ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्**' श्लोकसे शरीर-रचनाका अर्थ लगाकर मूल यथार्थ भावके सम्बन्धमें जनताकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करते हैं। यह बुद्धिकी विलक्षणता और समयानुकूल अच्छे कार्यके लिये समर्थन होनेपर भी अर्थका अनर्थ करनेके कारण गीताका दुरुपयोग ही है।

गीता परमधामकी कुंजी है

और भी अनेक प्रकारसे गीताका दुरुपयोग हो रहा है। यहाँ थोड़ा-सा दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। सो भी साधकोंको सावधान करनेके लिये ही। भगवत्प्राप्तिके साधकोंके लिये उपर्युक्त अर्थ कदापि माननीय नहीं है। उन्हें तो भगवान् शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य और लोकमान्य तिलक आदिके बतलाये हुए अर्थके अनुसार अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल मार्ग चुनकर भगवत्प्राप्तिके लिये ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। गीता वास्तवमें भगवान्‌के परम मन्दिरकी सिद्ध कुंजी है, इसका जो कोई उचित उपयोग करता है, वही अबाधितरूपसे उस दरबारमें प्रवेश करनेका अधिकारी हो जाता है; किसी देश, वर्ण या जाति-पाँतिके लिये वहाँ कोई रुकावट नहीं है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'साधकोंको एक बातसे और भी सावधान रहना चाहिये। आजकलके बुद्धिवादी लोगोंमें कुछ सज्जन श्रीकृष्णको ही नहीं मानते। उनके विचारमें महाभारत रूपक ग्रन्थ है और भागवत कपोल कल्पनामात्र। महाभारत काव्यके अन्तर्गत व्यासरचित गीता एक उत्तम लोकोपकारी रचना है।' यह वास्तवमें गीताका अपमान है। भगवान् श्रीकृष्णको न मानकर गीताको मानना, उससे आध्यात्मिक लाभ उठानेकी आशा रखना, प्राणहीन शरीरसे लाभ उठानेकी इच्छाके सदृश दुराशामात्र है। इस प्रकारके विचारोंसे साधकोंको सावधान रहना चाहिये। यह मानना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण गीताके हृदय हैं और भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके उपाय बतलाना ही गीताका उद्देश्य है। इसी उद्देश्यसे प्रेरित होकर जो लोग गीताका अध्ययन करते हैं, उन्हींको गीतासे यथार्थ लाभ पहुँचता है।

कुछ लोग गीताके श्रीकृष्णको निपुण तत्त्ववेत्ता, महायोगेश्वर, निर्भय योद्धा और अतुलनीय राजनीति-विशारद मानते हैं, परंतु भागवतके श्रीकृष्णको इसके विपरीत नचैया, भोगविलासपरायण, गाने-बजानेवाला और खिलाड़ी समझते हैं; इसीसे वे भागवतके श्रीकृष्णको नीची दृष्टिसे देखते हैं या उनको अस्वीकार करते हैं और गीताके या महाभारतके श्रीकृष्णको ऊँचा या आदर्श मानते हैं। वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है! श्रीकृष्ण जो भागवतके हैं, वही महाभारत या गीताके हैं। एक ही भगवान्‌की भिन्न-भिन्न स्थलों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न लीलाएँ हैं। भागवतके श्रीकृष्णको भोगविलासपरायण और साधारण नचैया-गवैया समझना भारी भ्रम है। अवश्य ही भागवतकी लीलामें पवित्र और महान् दिव्य प्रेमकी लीला अधिक थी, परंतु वहाँ भी ऐश्वर्य-लीलाकी कमी नहीं थी। असुर-वध, गोवर्द्धन-धारण, अग्नि-पान, वत्स-

बालरूप-धारण आदि भगवान्की ईश्वरीय लीलाएँ ही तो हैं। नवनीत-भक्षण, सखा-सह-विहार, गोपी-प्रेम आदि तो गोलोककी दिव्य लीलाएँ हैं। इसीसे कुछ भक्त भी वृन्दावनविहारी मुरलीधर रसराज प्रेममय भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपासना करते हैं, उनकी मधुर भावनामें—

कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति॥

—'यदुनन्दन श्रीकृष्ण दूसरे हैं और वृन्दावनविहारी पूर्ण श्रीकृष्ण दूसरे हैं। पूर्ण श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर कभी अन्यत्र गमन नहीं करते।' बात ठीक है—***'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'*** इसी प्रकार कुछ भक्त गीताके '**तोत्रवेत्रैकपाणि**' योगेश्वर श्रीकृष्णके ही उपासक हैं। रुचिके अनुसार उपास्यदेवके स्वरूपभेदमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु जो लोग भागवत या महाभारतके श्रीकृष्णको वास्तवमें भिन्न-भिन्न मानते हैं या किसी एकको अस्वीकार करते हैं। उनकी बात कभी नहीं माननी चाहिये। महाभारतमें भागवतके और भागवतमें महाभारतके श्रीकृष्णके एक होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। एक ही ग्रन्थकी एक बात मानना और दूसरीको मनके प्रतिकूल होनेके कारण न मानना वास्तवमें यथेच्छाचारके सिवा और कुछ भी नहीं है।

अतएव साधकोंको इन सारे बखेड़ोंसे अलग रहकर भगवान्को पहचानने और अपनेको '**सर्वभावेन**' उनके चरणोंमें समर्पण कर शरणागत होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीता और प्रेम-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्की शरणागतिमें ही है। यही गीताका प्रेम-तत्त्व है। गीताकी भगवच्छरणागतिका

ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रेममय भगवान् अपने प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग बतलाते हैं, जिसमें उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ करना बाकी रह ही नहीं जाता।

कुछ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमका विषय नहीं है; परंतु विचारकर देखनेपर मालूम होता है कि 'प्रेम' शब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अंदर प्रेम ओत-प्रोत है। गीता भगवत्प्रेमरसका समुद्र है। प्रेम वास्तवमें बाहरकी चीज होती भी नहीं। वह तो हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे हृदयको ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है। जो बाहर आता है वह तो प्रेमका बाहरी ढाँचा होता है। श्रीहनुमान्जी महाराज भगवान् श्रीरामका सन्देश श्रीसीताजीको इस प्रकार सुनाते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

प्रेम हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है। गीतामें भी प्रेम गुप्त है। वीरवर अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णका सख्यप्रेम विश्वविख्यात है। आहार-विहार, शय्या-क्रीडा, अन्तःपुर-दरबार, वनप्रान्त-रणभूमि सभीमें दोनोंको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव अर्जुनके समीप खाण्डव-दाहके लिये अनुरोध करने आते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार करनेके बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए थे। जब संजय भगवान् श्रीकृष्णके पास जाते हैं, तब उन्हें अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमें द्रौपदी-सत्यभामासहित विराजित पाते हैं। अर्जुन '**विहारशय्यासनभोजनेषु**' कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या, खाण्डववनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र

प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'देवराज! मुझे भी एक चीज दो और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे'—

'वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।'

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं। यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेतकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्के मुखसे बह निकली। अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर बह निकले, जो गीताके रूपमें आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं। इतना होनेपर भी गीतामें प्रेम न मानना दुराग्रहमात्र है। प्रेमका स्वरूप है—प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना, जो भगवान्में पूर्णरूपसे थी; इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार थे। प्रेमका दूसरा स्वरूप है—प्रेमीके सामने बिना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना।' वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं। भगवान्की जगह दूसरा होता तो ऐसे शब्दोंमें, जिनमें वीरतापर धब्बा लग सकता था, अपने मनका भाव कभी नहीं प्रकट कर सकते। प्रेममें लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्ने अर्जुनके पाण्डित्यपूर्ण परंतु मोहजनित विवेचनके लिये उन्हें फटकार दिया और युद्धस्थलमें, दोनों ओरकी सेनाओंके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान गा डाला जो लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता। प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बातें निःसंकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं। प्रेमके कारण ही उन्हें विभूतियोग

बतलाकर अपना विश्वरूप दिखला दिया। नवम अध्यायके '**राजविद्याराजगुह्य**' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमें अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमें विभूति और विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने और पंद्रहवें अध्यायमें 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌की मायावश भलीभाँति उन्हें नहीं समझे, तब प्रेमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमें इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं—'मेरे प्यारे! तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसीसे भाई! मैं अपना हृदय खोलकर तेरे सामने रखता हूँ, बड़े संकोचकी बात है, हर एकके सामने नहीं कही जा सकती, सब प्रकारके गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय (सर्वगुह्यतम) विषय है, ये मेरे अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (**'मे परमं वचः'**) हैं, कई बार पहले कुछ संकेत कर चुका हूँ, अब फिर सुन (**'भूयःशृणु'**) बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूँ (**'ते हितं वक्ष्यामि'**); क्योंकि इसीमें मेरा भी हित है। क्या कहूँ? अपने मुँह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगड़ता है, लोकसंग्रह बिगड़ता है; परंतु भाई! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (**'मे प्रियः असि'**) तुझे क्या आवश्यकता है। इतने झगड़े-बखेड़ेकी? तू तो केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना, पूजा और नमस्कार करना आप-से-आप आ जाता है, मैं भी यही कह रहा हूँ। अतएव भाई! तू ही मुझे अपना प्रेममय जीवन-सखा मानकर मेरे ही मनवाला बन जा, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूँ, अरे भाई! शपथ खाता हूँ, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायँगे; (गीता १८। ६५) क्योंकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं

जानता; किसीको नहीं पहचानता, उसका तो जीवन, प्राण, धर्म, कर्म, ईश्वर जो कुछ भी होता है सो सब प्रेमास्पद ही होता है, वह तो अपने-आपको उसीपर न्योछावर कर देता है, तू सारी चिन्ता छोड़ दे (**'मा शुचः'**) धर्म-कर्मकी कुछ भी परवा न कर (**'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**), केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले (**'मामेकं शरणं व्रज'**), प्रेमकी ज्वालामें तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायँगे। तू मस्त हो जायगा।' यह प्रेमकी तन-मन-लोक-परलोकभुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥

(नारदभक्तिसूत्र ४—६)

जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है; सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न **'गतासून् अगतासून्'** के लिये चिन्ता करता है, न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनोऽनुकूल विषयोंमें आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमें उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममें सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है। इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (**'सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मण्यपि'**)।

इस स्थितिमें उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमें रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमें

परिणत हो जाती है। प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवन-व्रत ही होता है केवल प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना (**'तत्सुखसुखित्वम्'**)। वह इसीलिये जीवन धारण करता है। मेरा अवतारधारण भी इन अपने प्रेमास्पदोंके लिये ही है, इसीलिये—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

—तो 'मैं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रेममय दिव्य देह धारण कर यदुकुलमें अवतीर्ण हुआ हूँ।'

भगवान्ने गीताके १८ वें अध्यायके ६४ वेंसे ६६ वेंतक तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट तो कर दिया, परंतु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं 'कि यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमें दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८। ६७) इस कथनमें भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बताते हुए भगवान् अर्जुनके सामने संकोच छोड़कर ऐसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े होते हैं (**'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्'**)। जिसका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिसका अन्तःकरण भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंसे नित्य प्रकाशित हो, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्चे मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एवं जो भगवान्की महिमामें भूलकर भी संदेह नहीं करता हो, वही इसका अधिकारी है। भगवान्की

मधुर बाललीलामें भाग्यवती प्रातःस्मरणीया गोपियाँ इसकी अधिकारिणी थीं। इस रण-लीलामें अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोंके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार अनुकरण कर मनुष्य कठिन पापपंकमें फँस गये हैं। गोपियोंका जीवन भी '**तत्सुखसुखित्वम्**' के भावमें रँगा हुआ था और इस प्रेमरहस्यका उद्घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रंगमें रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओंको भूल गये, भूल ही नहीं गये, सारी प्रतिकूलताएँ तुरंत अनुकूलताके रूपमें परिवर्तित हो गयीं और वह आनन्दसे कह उठे—

'करिष्ये वचनं तव'

—'तुम जो कुछ चाहोगे, जो कुछ कहोगे, बस मैं वही करूँगा; वही मेरे जीवनका व्रत होगा। इसीको अर्जुनने जीवनभर निबाहा। यही प्रेमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्‌की इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको मिला देना, भगवान्‌के भावोंमें अपने सारे भावोंको भुला देना, भगवान्‌के अस्तित्वमें अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना, यही '**मामेकं शरणम्**' है, यही प्रेमतत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीसे गीताका पर्यवसान साकार भगवान्‌की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परमपावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविके शब्दोंमें साधक पुकारकर कहता है—

एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचरमें।
जासों मनु राँचै, तासों तनु मनु राँचै, रुचि-
भरिकै उघरि जाँचै, साँचै करि करमें॥

पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती लौं बैठे सरमें।
प्रेमसों कहत कोऊ, ठाकुर, न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम-घरमें॥ १॥
कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक बरलोकनमें,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लोकनिते न्यारी हौं॥
तन जाउ मन जाउ, देव गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीकी मुकुटवार,
पीतपटवारी वहि मूरति पै बारी हौं॥ २॥
तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ, गाढ़े—
बन्धन बँधावौ औ खिंचावौ काची खालसों।
विष लै पिलाऔ, तापै मूठ भी चलावौ,
मँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर 'कमाल' सों॥
बिच्छू लै विछाऔ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि
आग भी लगावौ बाँधि कापड़-दुसाल सों।
गिरिते गिरावौ, काले नागते डसावौ, हा! हा!
प्रीति न छुड़ावौ गिरिधारी नंदलालसों॥ ३॥

सकाम भक्तों और योगक्षेमकी व्यवस्था

सकाम भक्तोंमें तीन तरहके भक्त माने गये हैं— अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु (**'आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी'**)। इनमें एक तो वह है, जो किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये—धन, जन, मान, यश, भोग, स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌को भजता है; दूसरा वह है, जो प्रारब्धवश किसी संकटमें पड़कर उससे त्राण पानेके लिये भगवान्‌की भक्ति करता है और तीसरा वह है, जो भगवान्‌की प्राप्तिका सरल और सहज पथ जाननेके लिये भगवान्‌को याद करता है। इन तीनों सकाम भक्तोंकी सकाम भक्तिको भी तभी पूर्ण समझना चाहिये जबकि वे भगवान्‌को ही एकमात्र आश्रय मानकर उन्हींपर निर्भर करें। और तभी उन्हें अनायास फल भी मिलता है। ध्रुव अर्थार्थी भक्त थे; वे ज्यों ही भगवान्‌पर निर्भर हुए, त्यों ही उन्हें उनका इच्छित फल मिल गया। द्रौपदी और गजराज आर्त भक्त थे और जबतक वे दूसरोंसे त्राणकी जरा भी आशा करते रहे, तबतक उनके संकट दूर नहीं हुए; जब एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर करके उनको पुकारा, तब उसी क्षण भगवान्‌ने स्वयं प्रकट होकर उनके दुःख दूर कर दिये। जिज्ञासु भक्त तो ऐसे बहुत हुए हैं, जो भगवान्‌पर निर्भर करके भगवत्प्रेरणासे भगवान्‌के पथपर सहज ही आरूढ़ हो गये हैं। सकामभावकी इस निर्भरताके लिये बंदरके बच्चेसे तुलना करके संतलोग बिल्लीके बच्चेका दृष्टान्त दिया करते हैं। बंदरका बच्चा स्वयं कूदकर माँको पकड़कर उसका स्तनपान करने लगता है। परंतु भूखा बिल्लीका बच्चा माँकी प्रतीक्षा करता हुआ

अपने स्थानमें बैठा रहता है; स्वयं माँ उसकी चिन्ता करती है और उसके पास आकर जहाँ ले जाना होता है, अपने मुँहसे उठाकर उसे वहाँ ले जाती है और अपना दूध पिलाकर संतुष्ट करती है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी भी कामकी सिद्धिके लिये श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए भगवान्पर निर्भर करते हैं, उनके कामको भगवान् स्वयं पधारकर पूरा कर देते हैं। नरसी मेहता आदि अनेक भक्तोंके उदाहरण इसमें प्रमाण हैं। परंतु जहाँतक ऐसा सकामभाव है, वहाँतक भगवान्पर निर्भरता आंशिक ही है।

इसके बाद यह होता है कि मनुष्य कुछ चाहता तो है, उसे अभावका अनुभव तो होता है; परंतु उस अभावकी पूर्ति किस वस्तुसे होगी, इसको वह नहीं जानता। उसे विश्वास होता है कि जिस वस्तुसे मेरे अभावकी पूर्ति होगी, उसको भगवान् जानते हैं और इसलिये वह उस अज्ञात वस्तुके लिये भगवान्पर निर्भर करता है। जैसे छोटा शिशु विस्तरपर पड़ा रोता है, उसे कोई कष्ट है—जाड़ा लग रहा है, मच्छर काट रहे हैं या और कोई पीड़ा है। वह यह नहीं जानता कि किस वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मेरा संकट दूर होगा—वह केवल माँको जानता है और रोकर माँको बुलाता है। माँ आकर स्वयं पता लगाती है कि बच्चा क्यों रो रहा है और पता लगाकर स्वयं उसके कष्ट-निवारणका उपाय करती है। इसी प्रकार इस अवस्थामें भक्त अपने लिये उपयोगी अज्ञात फलके लिये भगवान्पर निर्भर करता है और उन्हींकी कृपासे कल्याणकारी फलको प्राप्त करके संतुष्ट होता है। इसमें फलरूप वस्तुका निर्णय भगवान् करते हैं, इस दृष्टिसे निर्भरताका यह स्तर पहलेसे ऊँचा होनेपर भी सकामभाव होनेके कारण यह भी वस्तुतः आंशिक ही है।

इसके बाद उन भक्तोंकी बात है, जो केवल भगवान्‌को ही प्राप्त करना चाहते हैं और उसके लिये भगवान्‌पर ही निर्भर करते हैं। इनके लिये भी बिल्लीके बच्चे और छोटे शिशुके उदाहरण लागू पड़ सकते हैं। ये केवल चिन्तनपरायण रहते हैं, उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति कब होगी, क्योंकर होगी—इस बातको भगवान्‌पर ही छोड़ देते हैं, और वास्तवमें यों सब कुछ भगवान्‌पर छोड़नेवाले बड़े लाभमें ही रहते हैं। क्योंकि प्रथम तो कोई शर्त न होनेसे इनके भजनमें निष्काम और अनन्यभाव रहता है; दूसरे जिनको पाना है, वे ही भगवान् जब स्वयं मिलना चाहें, तब उनके मिलनेमें विलम्ब भी नहीं होता। भक्तको कहीं चलकर नहीं जाना पड़ता, बिल्लीकी भाँति या छोटे शिशुकी स्नेहमयी जननीकी भाँति स्वयं भगवान् ही उसके समीप आ जाते हैं। ऐसे ही भक्तोंके लिये भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'केवल मुझपर ही निर्भर करनेवाले जो भक्त नित्य मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भलीभाँति भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका 'योगक्षेम' मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुके संरक्षणका नाम 'क्षेम' है। इस 'योग' और 'क्षेम' के वहनका सारा भार स्वयं भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। संसारमें हम देखते हैं कि अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले होनेपर भी जिनपर हमारा विश्वास होता है, वे वैद्य-डॉक्टर जब हमारे इलाजका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर निर्भर करने लगते हैं। अपना जीवन उन्हें सौंप देते हैं, विश्वासपूर्वक उनकी दी हुई

दवा लेते हैं—चाहे वह जहर ही क्यों न हो—और उनके आज्ञानुसार पथ्य भी करते हैं। हमारी असमर्थतामें कोई श्रेष्ठ पुरुष जिनकी शक्ति और हितैषितापर हमारा विश्वास होता है, हमारे जीवन-निर्वाहका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर अपनेको छोड़ देते हैं। केवटके विश्वासपर नौकामें बैठ जाते हैं, चलानेवालेपर निर्भर करके मोटर और हवाई जहाजमें बैठ जाते हैं और मनमें कोई चिन्ता नहीं करते। तब स्वयं अपने मुँहसे हमारे सुहृद् होनेकी घोषणा करनेवाले सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वलोकमहेश्वर भगवान्पर निर्भर करनेमें तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण है। वे हमारे परम सुहृद् हैं, इसलिये कभी अकल्याण नहीं कर सकते; वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारा कल्याण किस बातमें है, इसको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी भूल नहीं कर सकते। और सर्वशक्तिमान् हैं, इसलिये हमारा कल्याण अनायास ही कर सकते हैं। और वे यहाँतक जिम्मा लेनेको तैयार हैं कि तुम्हारे लिये जो आवश्यक अप्राप्त वस्तु है, उसकी प्राप्ति मैं करा दूँगा और जो आवश्यक वस्तु प्राप्त है, उसकी रक्षा मैं करूँगा। इतनेपर भी हम यदि उनपर निर्भर करके उनके चिन्तनपरायण नहीं होते तो फिर हमारे समान मन्दबुद्धि और मन्दभाग्य और कौन होगा।

यहाँ इस 'योगक्षेम' से यह अर्थ भी लिया जाता है कि भक्तके देह-परिवारादिकी रक्षा और उसके लिये आवश्यक लौकिक पदार्थोंकी व्यवस्था भी भगवान् करते हैं। और ऐसा अर्थ लेना अनुचित भी नहीं है; क्योंकि अनन्य भक्तकी तो अपने भगवान्को छोड़कर न किसी अन्य वस्तुमें आसक्ति है, न किसी वस्तुकी ओर उसका लक्ष्य है, न देह परिवारादिके देख-रेखकी उसे चिन्ता है, और न उसे दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना करनेके लिये अवकाश ही

है। ऐसी अवस्थामें भक्तवत्सल भगवान् उसके देह-परिवारादिके लिये आवश्यक प्राप्त सामग्रियोंकी रक्षा करें और अप्राप्तकी प्राप्ति करवा दें तो इसमें क्या अनहोनी बात है? बल्कि भगवान्पर निर्भर करनेवाले भक्तका 'योगक्षेम' और भी अच्छा होना चाहिये। वह अपनी परिमित शक्तिसे उतनी रक्षा नहीं कर सकता, जितनी भगवान्की शक्तिसे हो सकती है, और इसी प्रकार वह अपने लिये आवश्यक वस्तुओंका भी संग्रह इच्छानुसार नहीं कर सकता; क्योंकि उसके पास उनके संग्रह करनेके लिये उतना मूल्य देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है। परंतु समस्त ऐश्वर्यके महान् ईश्वर भगवान् जो चाहें वही वस्तु—चाहे वह वस्तु मनुष्यकी ताकतसे कितनी भी दुर्लभ हो—उसे अनायास दे सकते हैं। ऐसी अवस्थामें अपने बलपर निर्भर करनेवालेकी अपेक्षा भगवान्पर निर्भर करनेवाला स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम 'योगक्षेम' को प्राप्त होता है। परंतु जो भक्त अपने मनमें यह सोचकर भगवान्पर निर्भर होना चाहता है कि 'भगवान्पर निर्भर करके उनका चिन्तन करनेसे मेरा योगक्षेम उत्तम-से-उत्तम होगा' वह वास्तवमें न तो अनन्य है और न अनन्यचित्तसे चिन्तन ही करता है। बात तो यथार्थमें यह है कि ऐसे निर्भर और अनन्य भक्तके मनमें भगवान्के सिवा और कुछ होता ही नहीं; वह भगवान्पर निर्भर रहकर भगवान्का चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्पर निर्भर करके भगवान्का चिन्तन करता है। उसके मनमें लौकिककी तो बात ही क्या, पारमार्थिक 'योगक्षेम' की चिन्ताके लिये भी गुंजाइश नहीं होती। वह इस बातको भी नहीं जानता कि 'मुझे किस साधनपथसे चलना चाहिये, और मैं कब अपने लक्ष्यको प्राप्त करूँगा।' उसके लिये कौन-सा साधन उत्तम है, किस बातमें उसका कल्याण है—इस बातको भगवान् ही सोचते हैं। उसके कल्याणका स्वयं अपने (भगवान्के) मनसे निश्चित किया हुआ साधन भगवान्

ही उससे करवाते हैं, भगवान् ही उसके द्वारा प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं और भगवान् ही उसके साधनके लक्ष्यको स्वयं वहन करके उसके समीप पहुँचा देते हैं। साधन और सिद्धि दोनोंका भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसीसे ऐसा कहा जाता है कि भगवान्पर निर्भर करनेवाला भक्त जिस प्रकार अनायास अतिशीघ्र भगवान्को प्राप्त करता है, उस प्रकार दूसरा कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें एक विशेषता और है—वह यह कि ऐसा निर्भर भक्त सच्चिदानन्दघन, निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निरंजन, निर्गुण, सनातन, अव्यक्त और सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वैश्वर्यशाली भगवान्को अपने परम प्रेमास्पद नित्य जीवन-सहचर और परम आत्मीय सुहृद्के रूपमें प्राप्त करता है। परंतु इस प्रकार निर्भर करनेसे भगवत्-प्राप्ति शीघ्र होगी, ऐसी शुभ भावना उसके मनमें नहीं होती। वह तो इससे भी ऊँचा उठकर केवल भगवान्पर ही निर्भर रहता है; क्योंकि यह निर्भरतापूर्ण भगवच्चिन्तन ही ऐसे भक्तके अस्तित्वका आधार होता है। फिर उसे किसी अन्य वस्तुके योगक्षेमकी चिन्ता कैसे हो सकती है। यह निर्भरा भक्तिकी ऊँची अवस्था है; परंतु इसमें भी भगवत्-प्राप्तिकी शुभ वासना छिपी है, जो सर्वथा कल्याणकारिणी और परम वांछनीय होनेपर भी निर्भर भक्तकी निर्भरतामें कुछ कमीका अनुभव करती है।

इसके बादकी वह अवस्था है, जिसमें भक्त भगवच्चिन्तनरूपी क्रिया भी अपने अहंकारसे प्रेरित होकर नहीं करता। वस्तुतः वह स्वयं कुछ करता ही नहीं, भगवान् ही उसके द्वारा सब कुछ करते-कराते हैं। वह तो केवल उनके हाथकी कठपुतलीमात्र होता है। जैसे जड कठपुतलीको नट अपने इच्छानुसार इशारेपर नचाता है, वह कहीं कुछ भी नहीं बोलती, उसी प्रकार निर्भर भक्त यन्त्री भगवान्को

सब कुछ समर्पण करके यन्त्रवत् उनके इशारेपर नाचता रहता है। वह अपने लिये किसी वस्तुकी या कार्यकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता, वस्तुतः अपना भी उसे कोई पता नहीं रहता; क्योंकि वह तो अपनेको उनके हाथका यन्त्र बनाकर अपनेपनको पहले ही खो चुकता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'तुम सब कर्मोंका अध्यात्मचित्तसे मुझमें संन्यास (भलीभाँति निक्षेप) करके आशा-ममताको छोड़कर और संतापसे मुक्त होकर युद्ध करो।' 'न्यास' का अर्थ है निक्षेप यानी डाल देना। कोई वस्तु—कोई काम, किसी दूसरी वस्तुपर या किसी दूसरे पुरुषपर छोड़ देनेका नाम न्यास है। न्यास निक्षेपका ही पर्याय है। '**निक्षेपापरपर्यायो न्यासः।**' न्यासके साथ 'सम्' उपसर्ग लगानेसे उसका अर्थ होता है—'भलीभाँति छोड़ देना।' भगवान् कहते हैं कि 'तुम न युद्धमें विजयी होनेकी आशा करो, न राज्यमें, न युद्धस्थलमें उपस्थित बन्धु-बान्धवोंमें और न अपने शरीरमें ही ममता रखो और न बन्धुवध और पराजयरूप प्रतिकूल फल आदिके कारण मनस्तापको प्राप्त होओ। आसक्ति होगी तो विजयकी आशा रहेगी, अहंभाव होगा तो उसके फलस्वरूप ममता होगी और द्वेष होगा तो मनस्ताप होगा। तुम अहंकार और राग-द्वेषसे सर्वथा मुक्त होकर—यह समझकर कि मैं कुछ भी नहीं करता, मैं तो भगवान्‌के शरण हूँ, वे यन्त्री भगवान् ही मुझसे यन्त्रवत् जो कुछ कराना चाहते हैं, वही किया जाता है, इस प्रकार मुझमें सब कर्मोंका भलीभाँति त्याग करके युद्ध करो। तुम्हारे अंदर न अज्ञान रहे और न अज्ञानके कार्यरूप

अहंकार, राग, द्वेष, ममता, आशा और संताप आदि ही रहें। तुम बस, मेरे हाथकी कठपुतली बनकर मेरे इशारेपर मैं जो कराऊँ, सो करते रहो! यह 'न्यासयोग' ही आगे चलकर निर्भरा-भक्ति हो जाती है। इसमें भक्तका समस्त भार उसके भगवान्‌पर रहता है; परंतु भक्त भी इतना परतन्त्र हो जाता है कि वह कर्म या कर्मफलकी तो बात ही क्या, अपने अस्तित्वतकके लिये भी भगवान्‌पर ही निर्भर करता है। जैसे दिनका अस्तित्व सूर्यपर या जीवनका अस्तित्व प्राणोंपर निर्भर है, उसी प्रकार ऐसे भक्तका जीवन अपने परमाधार भगवान्‌पर निर्भर करता है। उसका आत्मा, प्राण, मन, धन, जीवन, परिवार, सम्पत्ति, लोक, परलोक, भोग और मोक्ष—सब कुछ एकमात्र भगवान् ही होते हैं। भगवान् भी ऐसे भक्तके परतन्त्र होते हैं। वे भी उसके नचाये नाचते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३, ६६)

'हे द्विज! मैं भक्तके पराधीन हूँ, स्वतन्त्रकी तरह कुछ नहीं कर सकता। भक्तोंके प्रेमने मेरे हृदयको सर्वथा अपने अधीन कर लिया है, वे भक्त मुझे बहुत ही प्यारे हैं। मुझमें अपने हृदयको सदाके लिये बाँध देनेवाले (मेरे ही इशारेपर सब कर्म करनेवाले) समदृष्टि साधु पुरुष मुझको अपनी भक्तिसे वैसे ही वशमें कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है।' धन्य है! परंतु भक्त कभी यह कल्पना भी नहीं करता कि भगवान् मेरे अधीन हैं। वह तो अपनेको

सम्पूर्णरूपेण समर्पण करके अन्य किसी कल्पनाके लिये अपने अंदर गुंजाइश ही नहीं रहने देता।

ऐसा निर्भर भक्त कुछ भी कर्म नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। वह अपने लिये कुछ भी नहीं करता और न अपने लिये किसी कर्मका त्याग ही करता है। भगवान् जब जो कुछ कराते हैं, वह उसीको करता है; चाहे वह कर्मका ग्रहण हो या त्याग, क्रूर कर्म हो या सौम्य कर्म, सृजन हो या संहार। जब भगवान् खूब कर्म कराते हैं, तब वह खूब करता है, जब थोड़ा कराते हैं, तब थोड़ा करता है और जब बिलकुल नहीं कराते, तब बिलकुल नहीं करता। उसे न तो करनेसे मतलब है और न नहीं करनेसे ही। वह दोनों ही अवस्थामें अपनी स्थितिमें अविचल स्थित रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसे भक्तका सांसारिक योगक्षेम कैसे चलता है। इसका सीधा उत्तर यही है कि भगवान् चलाते हैं, वैसे ही चलता है। इसमें कोई खास नियम नहीं है कि ऐसा भक्त लौकिक दृष्टिसे वर्णाश्रमानुसार धन, जन, मान, यश आदिसे सम्पन्न हो, या इनसे सर्वथा हीन हो। दोनों ही तरहके उदाहरण मिलते हैं। इतनी बात अवश्य है कि उसका सारा भार भगवान्पर चला जानेसे न तो उससे कोई निषिद्ध कर्म हो सकता है और न उसे कोई अकल्याणकारी भोग्य-पदार्थ ही वस्तुतः मिल सकता है। जिसका 'योगक्षेम' भगवान् स्वयं देखते हों, उसके लिये ऐसी कोई स्थिति तो हो ही नहीं सकती कि जिसमें उसके लिये परिणाममें किसी अमंगलकी जरा भी सम्भावना हो। हाँ, रहस्यको न समझनेवाले लोग मूर्खतावश मंगलमें अमंगलकी कल्पना कर सकते हैं। बच्चा साँप पकड़ने दौड़ता है, जलती आगमें हाथ डालना चाहता है, माँ लपककर उसे रोक देती है, नहीं मानता तो स्नेहवश उसे डाँट भी देती है; बच्चेको

मनचाही वस्तु न मिलनेसे दुःख होता है, वह समझ सकता है कि मेरा बड़ा अमंगल हो गया, मुझे मनचाही चीज नहीं मिली। इसी प्रकार हम अल्पज्ञ अपनी तुच्छ बुद्धिसे जिसमें अपना मंगल समझते हैं, सम्भव है सर्वज्ञ भगवान्‌की बुद्धिमें उसके परिणाममें हमारा घोर अमंगल हो। हम जिसके संयोगमें सुख और वियोगमें महान् दुःखकी प्राप्ति समझते हैं, सम्भव है भगवान् अपनी यथार्थ दृष्टिसे उस संयोगसुखको भीषण दुःखकी और वियोग-वेदनाको महान् सुखकी भूमिका समझते हों और हमें हमारा मनमाना फल न देकर हमारे मंगलके लिये अपना मनमाना फल देते हों और ऐसा होनेमें हम मूर्खतावश अपना अमंगल मानते हों। जो भगवान्‌पर निर्भर करनेवाले भक्त हैं, वे तो ऐसा नहीं मान सकते। परंतु उनकी रहस्यमयी स्थितिको अपनी विषयविभ्रमरत, मोहावृत बुद्धिके तराजूपर तौलनेवाले लोग उनमें अमंगल मान सकते हैं। अवश्य ही उनके माननेसे भक्तोंकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं आता। वे भक्त कितने धन्य और सुखी हैं, जिनके कल्याणकी और कल्याणकारी साधनोंके संग्रहकी व्यवस्था सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और परम सुहृद् भगवान् स्वयं करते हैं!

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान्‌की निर्भरा भक्ति बहुत ही उपयोगी और शीघ्र कल्याणप्रदा है। भगवान्‌पर विश्वास करके पहले निर्भरताकी भावना करनी चाहिये और भगवान्‌की कृपाप्राप्तिके लिये भगवान्‌का नित्य अनन्य और निष्काम चिन्तन करते हुए भगवान्‌पर पूर्ण निर्भर होनेका यत्न करते रहना चाहिये। इस साधनमें प्रधान चार बातें हैं—१-दृढ़ विश्वास, २-संसारी चिन्ताओंका सर्वथा त्याग, ३-अनुकूल आचरण और ४-अनन्य-चिन्तन—भक्त वृत्रासुरके इन शब्दोंके अनुसार भगवान्‌से सदा प्रार्थना कीजिये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

'हे भगवन्! तुम्हारे चरण ही जिनका मुख्य आश्रय हैं, मैं पुनः तुम्हारे उन दासोंका भी दास बनना चाहता हूँ। मेरा मन सदा तुम प्राणाधारके गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी तुम्हारा नाम-गुण-कीर्तन करे और शरीर सदा तुम्हारी सेवारूपी कर्ममें लगा रहे। तुम प्रियतमको छोड़कर मुझको स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, पातालका राज्य, योगकी दुर्लभ सिद्धियाँ और कैवल्य-मोक्ष भी नहीं चाहिये। हे कमलनयन! जिनके पाँख नहीं उगे हैं, ऐसे पक्षियोंके बच्चे जैसी अदम्य उत्सुकतासे माँकी बाट देखा करते हैं; भूखे बछड़े जैसे वनमें गयी हुई गायका स्तनपान करनेके लिये छटपटाते हैं और परदेश गये हुए स्वामीकी प्रियतमा पत्नी जैसे पतिको आँखोंसे देखनेके लिये व्याकुल रहती है, वैसे ही मैं भी तुमको देखनेके लिये व्याकुल हो रहा हूँ!'

श्रीमद्भगवद्गीतानुसार भगवत्प्राप्तिके उपाय

याद रखो—भगवान्‌की गुणमयी माया बड़ी ही दुस्तर है, उससे तर जाना बड़ा ही कठिन है; परंतु भगवान्‌के ही शरण होकर उनका भजन करनेपर मायासे सहज ही तरा जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'

(गीता ७। १४)

याद रखो—भगवान्‌की प्राप्ति बड़ी कठिन है, पर भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाकर जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करता है, अन्तकालमें उसको भगवान्‌की ही स्मृति होती है और वह निस्सन्देह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। भगवान्‌ने कहा है—

'मामेवैष्यस्यसंशयम्॥' (गीता ८। ७)

याद रखो—भगवान्‌का प्राप्त होना बहुत ही दुर्लभ है, पर जो मनको अनन्य करके नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त भक्तको भगवान् सुलभतासे मिल जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

'तस्याहं सुलभः पार्थ॥' (गीता ८। १४)

याद रखो—साधनकी रक्षा (आवश्यक प्राप्त वस्तुकी रक्षा) और साध्यकी प्राप्ति (जिसका प्राप्त करना हमारे लिये अनिवार्य है)-को 'योगक्षेम' कहते हैं। इस 'योगक्षेम' का भार मनुष्य उठाना चाहता है; पर वह असफल होता है; किंतु वह यदि भगवान्‌का अनन्य-चिन्तन करते हुए भगवान्‌की उपासना करे तो उसके 'योगक्षेम' का सारा भार स्वयं भगवान् वहन करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

(गीता ९। २२)

याद रखो—पापी मनुष्यका पापसे मुक्त होकर साधु, धर्मात्मा, शाश्वत शान्तिका अधिकारी होना प्राय: असम्भव-सा है; परंतु अनन्य-भाक् होकर भगवान्‌का भजन करनेपर महान् पापी भी साधु, धर्मात्मा, शाश्वत शान्तिका अधिकारी और भक्त बन जाता है और ऐसे भक्तके कभी पतन न होनेकी प्रतिश्रुति देते हुए भगवान् कहते हैं—

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

(गीता ९। ३१)

याद रखो—भगवान् सबके हैं और उनको अपना मानकर तथा उनके अपने बनकर उनका भजन करके परम गतिको प्राप्त करनेके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री तथा पापयोनितक सभी अधिकारी हैं। इसलिये इस अनित्य और सुखरहित जगत्‌में पैदा होकर नित्य जीवन तथा अखण्ड-अनन्त-आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'

(गीता ९। ३३)

याद रखो—जो भगवान्‌में चित्त और प्राण अर्पण करके परस्पर भगवच्चर्चा करते, भगवान्‌के भजनका रहस्य समझते, भगवान्‌का ही नाम-गुण-गान करते, इसीमें संतुष्ट रहते तथा इसीमें प्रीति करते हैं—ऐसे निरन्तर प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेवाले पुरुषोंको स्वयं भगवान् 'बुद्धियोग' देकर अपनी प्राप्ति करवा देते हैं। भगवान् कहते हैं—

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'

(गीता १०। १०)

याद रखो—मृत्युरूपी संसार-सागर बड़ा दुस्तर है; पर जो लोग भगवान्‌में चित्त लगाकर भगवान्‌का ही आश्रय कर लेते हैं, उन्हें स्वयं भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र सुखपूर्वक पार उतार देते हैं। भगवान् कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

याद रखो—जीवनयापनमें—साधनामें बड़ी-बड़ी बाधाएँ आती हैं। उनसे पार हो जाना सहज नहीं होता, पर भगवान्‌में चित्त लगानेसे—भगवान्‌पर अनन्य निर्भरता होनेसे, भगवान्‌की कृपासे मनुष्य सारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंसे—बाधाओंसे पार उतर जाता है। भगवान् कहते हैं—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

(गीता १८।५८)

याद रखो—अनन्त जन्मोंके अनन्त संचित पाप हैं, जिनसे बार-बार जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ना होता है, कभी छुटकारा नहीं मिलता। नयी-नयी पापवासनाएँ, नये-नये पापकर्म और नये-नये पाप-परिणाम आते रहते हैं। मनुष्यका अपने पुरुषार्थसे—शक्ति-सामर्थ्यसे इनसे छुटकारा पाना असम्भव-सा है। परंतु यदि वह सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र भगवान्‌के शरण हो जाता है तो भगवान् उसे सब पापोंसे (पापसंचय, पापप्रवृत्ति, पापपरिणाम—सभीसे) मुक्त कर देते हैं, उसे शोक नहीं करना पड़ता। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

विषय-चिन्तन ही पतनका कारण है

तुम्हारे पतन और विनाशका कारण है—विषय-चिन्तन और उत्थान तथा अमरपदकी प्राप्तिका कारण है—भगवच्चिन्तन। जबतक मन केवल विषयोंका ही स्मरण करता है, तबतक पाप-तापसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। तुम यदि असलमें पाप-तापसे छूटकर अपने जीवनको पुण्यमय, शान्तिमय, उँची स्थितिके भगवद्भावसे युक्त बनाना चाहते हो तो भगवान्‌का स्मरण करो।

× × × ×

याद रखो—जो मन भगवान्‌के स्मरणसे भरा है—उस मनसे किसी भी कर्मके लिये जो प्रेरणा होती है, वह विशुद्ध होती है और उसके अनुसार होनेवाला कर्म, चाहे देखनेमें बहुत ऊँचा न भी मालूम हो तो भी वह होता है परम पवित्र और भगवान्‌का पूजास्वरूप! युद्ध-जैसा कर्म भी भगवत्प्राप्तिमें हेतु होता है, यदि यह भगवान्‌के स्मरणसे युक्त हो। इसीसे तो भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—'तुम सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो।'

× × × ×

भगवान्‌का स्मरण होते-होते जब भगवान्‌में ऐसा आकर्षण हो जायगा जैसा विषयोंमें विषयी पुरुषका और कामिनियोंमें कामियोंका होता है, तब स्मरण अपने-आप ही होगा और तभी उस स्मरणमें आनन्दका अनुभव होगा। जबतक वैसा नहीं होता, तबतक भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला, नाम आदिको सुन-सुनकर उनमें मन लगाते रहो।

× × × ×

याद रखो—अभी तुम्हारी चित्तवृत्ति व्यभिचारिणी हो रही है, क्योंकि उसने भोगोंको ही आनन्द देनेवाला मान रखा है और रात-दिन वह उन्हींके साथ रमण कर रही है। भगवान्‌को छोड़कर जो

भोगोंके प्रति आकर्षण है, यही तो मनका व्यभिचार है। इसीसे तो वह भगवान्‌के प्रति खिंचता नहीं है। मन भगवान्‌की ओर जाय, इसके लिये लगातार चेष्टा करते रहो? भगवान्‌के गुण सुनो, उनके नामोंका कीर्तन करो, सब कामोंमें भगवान्‌का हाथ देखो, उनकी मंगलमयी मूर्तिका ध्यान करो, उनके भक्तोंका संग करो और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेवाले ग्रन्थोंको बार-बार पढ़ो!

× × × ×

अपने मनको देखते रहो, वह कितनी देर भोगोंका चिन्तन करता है और कितनी देर भगवान्‌का? सावधान! मन बड़ा धोखा देगा। तुम समझोगे, हमने उसे भगवान्‌के चिन्तनमें लगा रखा है और वह छिपकर ऐसा भागेगा और इस प्रकार भोगोंमें रम जायगा कि तुम्हें पता भी नहीं लगेगा। बार-बार देखते रहो। जितना ही अधिक मनकी ओर देखोगे, उतना ही वह जल्दी वशमें होगा। ज्यों-ज्यों वह भागे त्यों-ही-त्यों उसे खींच-खींचकर भगवान्‌में लगाओ। उसके सामने भगवान्‌के सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, आनन्द, शान्ति और कल्याणमय मंगलस्वरूपको बार-बार रखो। बार-बार उसे लुभानेकी चेष्टा करो—भगवान्‌के मनोहर रूपसे। सचमुच विषय तो भयंकर हैं, ऊपरसे ही सुन्दर लगते हैं। अज्ञान शत्रुने उनको विष मिले हुए लड्डूकी तरह सुन्दर और स्वादिष्ट बना रखा है, परंतु भगवान् तो नित्य सुन्दर और नित्य मधुर हैं। मन एक बार उनकी झाँकी कर लेगा, उनकी सौन्दर्य-सुधाका स्वाद चख लेगा, फिर वहाँसे सहजमें हटेगा नहीं। जिस दिन भगवान् माशूक बन जायँगे तुम्हारे मन आशिकके—उस दिन सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। चेष्टा करो और भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके अपनेको बार-बार उनके स्वरूप-समुद्रमें डुबा देनेका प्रयत्न करो। भगवत्कृपासे तुम सफल होओगे।

ब्रह्मज्ञान, पराभक्ति, भगवान्‌की लीला

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें बहुत देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें। व्यतिरेक और अन्वय—दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मज्ञानकी साधना होती है। आजकल अवश्य ही ऐसी प्रथा-सी हो गयी है कि लोग वेदान्तका अर्थ ही व्यतिरेक-साधना करते हैं। वे नेति-नेति कहकर जगत्‌को स्वप्न, गन्धर्वनगर, शशशृंग और रज्जुमें सर्प आदिकी भाँति सर्वथा असत् बतलाकर सबका अस्वीकार तो करते हैं, परंतु सब कुछको एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप मानकर ब्रह्मका स्वीकार नहीं करते। इसीलिये कभी-कभी जगत्‌का बाध करते-करते ब्रह्मका भी बाध हो जाता है और मनुष्यका चित्त एक जडशून्य भूमिकापर जा पहुँचता है। जगत् वस्तुतः न कभी था, न है, न होगा—यह सत्य है, परंतु इसके साथ यह भी सर्वथा सत्य है कि जगत्‌के रूपमें जो कुछ भी भास रहा है, वह, तथा जिसको भासता है, वह भी ब्रह्म ही है। जगत्‌को सर्वथा वस्तुशून्य समझना 'व्यतिरेक' साधना है और चेतना चेतनात्मक समस्त विश्वमें एक चेतन अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्मसत्ताका अनुभव करना 'अन्वय' साधना। दोनों साधनाओंके समन्वयसे जो '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '**नेह नानास्ति किञ्चन**' तत्त्वकी प्रत्यक्षानुभूति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति है।

यह श्रीभगवान्‌का सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप है। इसके जान लेनेपर ही समग्र पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेम-लीला या व्रजलीलाके समझनेका अधिकार प्राप्त होता है। दिव्य हृदय और दिव्य नेत्रोंके बिना व्रजलीलाके दर्शन नहीं हो सकते। विविध साधनाओंके द्वारा हृदय जब समस्त संस्कारोंसे शून्य होकर शुद्ध सत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है और जब सम्पूर्ण विश्वमें एक अखण्ड अनन्त समरस सर्वव्यापक सर्वरूप अव्यक्त

ब्रह्मकी साक्षात् अनुभूति होती है तभी प्रेमकी आँखें खुलती हैं, तभी भगवान्‌के लीलाके यथार्थ और पूर्ण दर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है और तभी प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ पूर्णैक्यमय मिलन होता है। यही ज्ञानकी परानिष्ठा है। '**निष्ठा ज्ञानस्य या परा।**' (गीता १८। ५०) श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्‌क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्‌भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'साधक जब प्रसन्न अन्तःकरण होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है, जब उसे न तो किसी बातका शोक होता है और न किसी बातकी आकांक्षा ही, समस्त प्राणियोंमें उसका समभाव हो जाता है, तब उसे मेरी पराभक्ति—पूर्ण प्रेम प्राप्त होता है। और उस पराभक्तिके द्वारा मुझ भगवान्‌के तत्त्वको—मैं जो कुछ और जितना कुछ हूँ—वह पूरा-पूरा जान लेता है और इस प्रकार तत्त्वसे जानकर वह तुरन्त ही मुझमें मिल जाता है (मेरी लीलामें प्रवेश करता है)।

यह ब्रह्मज्ञान और यह पराभक्ति—केवल ऊँची-ऊँची बातोंसे नहीं मिलती। निरी बातोंसे तो ब्रह्मज्ञानके नामपर मिथ्या अभिमान और भक्तिके नामपर विषय-विमोहकी प्राप्ति होती है। सत्संग, साधु-सेवन, सद्विचार, वैराग्य, भजन, निष्काम कर्म, यम-नियमादिका पालन और तीव्रतम अभिलाषा होनेपर इसकी प्राप्ति सम्भव है। भगवत्कृपाकी तो शरीरमें प्राणोंकी भाँति सभी साधनाओंमें अनिवार्य आवश्यकता है।

शरणागतिका स्वरूप और शाश्वती शान्ति

आपका पहला प्रश्न है—ईश्वरकी शरणमें जाना कैसे बनता है? इसका उत्तर है कि सब प्रकारसे अपने सर्वस्वको—तन, मन, धन, कामना, वासना, बुद्धि, अहंकार सबको—परमात्मामें अर्पण कर देनेसे शरणागति बनती है। इसके प्रारम्भिक साधन हैं—१-भगवान्‌के अनुकूल ही सब कार्य (तन, मन, वचनसे) करनेका दृढ़ निश्चय। २-भगवान्‌के प्रतिकूल समस्त कार्यों और भावोंका (तन, मन, वचनसे) सर्वथा त्याग। ३-भगवान्‌में ही परम विश्वासकी चेष्टा। ४-भगवान्‌को ही अपना एकमात्र रक्षक, प्रभु, प्रेमास्पद, गति, आश्रय, ध्येय और लक्ष्य मानना। ५-भगवान्‌के लिये ही सब कार्य करना। ६-सब कार्योंके होनेमें अपने पुरुषार्थको कुछ भी न मानकर भगवान्‌की ही शक्तिके द्वारा होते हुए समझना और ७-सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेकी चेष्टा करना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते चार भाव हृदयमें प्रकट होते हैं और उन्हींके अनुसार क्रिया होने लगती है। वे चार हैं—१-भगवान्‌का परम प्रेमके साथ निरन्तर चिन्तन और तज्जन्य परमानन्दका पल-पलमें अनुभव। २-भगवान्‌के अनुकूल ही सब कार्य करनेका स्वभाव। ३-भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें (सुख-दु:ख, हानि-लाभ सबमें) परमानन्द और ४-सर्वथा निष्कामभाव यानी कामनाका बिलकुल अभाव। इसी अवस्थामें परम शान्ति—शाश्वती शान्ति मिलती है। यह परमोच्च दशा है, इस अवस्थामें उस आधारमें स्थित होकर भगवान् ही लीला करते हैं।

प्रश्नका दूसरा भाग है—तीव्रतर वैराग्य आदिके द्वारा शाश्वती शान्ति मिल जानेपर भी अवश्य होनेवाले प्रारब्ध-कर्मके मिटानेकी यदि कोई युक्ति होती तो राजा नल, धर्मावतार युधिष्ठिर और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी इत्यादि समर्थ पुरुष राज्यसे भ्रष्ट होकर क्यों वन-वन फिरकर अनन्त दुःख उठाते। अतः शाश्वती शान्तिवाले ज्ञानीका भी प्रारब्ध-कर्म नहीं मिट सकता—ऐसा श्रुति कहती है। तब शाश्वती शान्ति मिलना-न-मिलना एक-सा हो गया। अतएव तत्त्वज्ञानसे यथार्थ शान्ति मिलनेपर भी प्रारब्ध-कर्मद्वारा उस शान्तिमें विघ्न हो जाता है या प्रारब्ध-कर्मसे उसमें कोई विघ्न नहीं होता? यदि नहीं होता तो फिर ऐसा पुरुष प्रारब्ध-कर्म कैसे भोगता है?

इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहले तो यह बात कहती है कि—

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखे न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥

यह श्लोक केवल धर्मकी प्रबलता दिखानेके लिये ही है। वैसे इस श्लोकका सिद्धान्त सर्वथा माननेयोग्य नहीं है; क्योंकि इसमें नल और युधिष्ठिरके साथ ही भगवान् श्रीरामका नाम लिया है। यह सिद्धान्त सर्वथा स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌का अवतार किसी कर्मफलसे नहीं होता। हमलोगोंके देहधारणमें—जन्ममें जैसे प्रारब्ध कारण है, वैसे भगवान्‌के जन्ममें नहीं है, वे अपनी लीलासे ही जन्म धारण करते हैं। वास्तवमें वह जन्म ही नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि वह परम मंगल-विग्रह पहले नहीं था, अब माताके उदरमें रज-वीर्यके संयोगसे बन गया। वह तो नित्य है और समयपर अपनी लीलासे ही प्रकट होता है। यह प्राकट्य ही उनका जन्म है। और फिर

लीलाके अनन्तर अन्तर्धान हो जाना ही उनका देहावसान कहा जाता है। वस्तुतः वे जन्म-मृत्युसे रहित हैं। काल-कर्मसे अतीत हैं। स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं सर्वथा अविनाशीस्वरूप और सर्वथा अजन्मा तथा सब ब्रह्माण्डोंका परम ईश्वर होते हुए ही अपनी प्रकृतिके द्वारा अपनी योगमायासे—अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ।'

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है और जो पुरुष इस जन्म-कर्मके तत्त्वको जान लेता है, वह देहत्यागके अनन्तर दूसरे जन्मको न प्राप्त होकर मुझको ही प्राप्त होता है।'

जिनके जन्म-कर्मके तत्त्वको जान लेनेसे ही अपुनर्भव (मोक्ष) मिल जाता है, उन भगवान्‌को प्रारब्ध-कर्मवश वनमें बाध्य होकर कष्ट सहन करना पड़ा, यह कहना एक प्रकारसे भूल ही प्रकट करना है। भगवान् श्रीरामचन्द्रका युवराजपदपर प्रतिष्ठित न होकर वनमें जाना उनकी दिव्य लीला ही थी। किसी प्रारब्धका भोग नहीं। रहे नल और युधिष्ठिर, सो यदि ये महानुभाव तत्त्वज्ञानी पुरुष थे तब तो वनमें रहनेपर भी इन्हें वास्तवमें कोई अशान्ति नहीं हुई। और यदि तत्त्वज्ञानी नहीं पहुँचे थे तो यथायोग्य अशान्ति होनेमें कोई आश्चर्य नहीं। इन दोनोंमें भी युधिष्ठिरका दर्जा नलसे ऊँचा प्रतीत होता है। कुछ भी हो, इस श्लोकको प्रमाण मानकर शाश्वती शान्तिमें

विघ्न मानना सर्वथा अप्रासंगिक है। इतनी बात अवश्य सत्य है कि प्रारब्ध-कर्मका प्रतीकार नहीं हो सकता। संचितका नाश हो जाता है। क्रियमाण भी अहंभावका अभाव तथा सहज निष्कामभाव होनेके कारण भूजे हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न नहीं कर सकता। परंतु प्रारब्धका नाश भोग हुए बिना नहीं हो सकता। किसी प्रबल नवीन कर्मके तत्काल संचितसे प्रारब्ध बन जानेके कारण फलदानोन्मुख प्रारब्धका प्रवाह रुक सकता है, परंतु मिट नहीं सकता, यह सत्य होनेपर भी तत्त्वज्ञानीकी शाश्वती शान्तिसे इसका क्या सरोकार है। कर्मोंका अस्तित्व ही अज्ञानमें है, अज्ञानका सर्वथा नाश हुए बिना तत्त्वज्ञानकी या शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती और शाश्वती शान्तिमें अज्ञान नहीं रहता। अतएव शाश्वती शान्तिको प्राप्त आनन्दमय पुरुषमें एक सम ब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। ऐसी अवस्थामें शरीरमें होनेवाले भोगोंसे उसकी नित्यैकशान्तिमें कोई बाधा नहीं आती। वह सर्वदा-सर्वथा और सर्वत्र सम होता है। सुख-दुःख, मानापमान, जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण किसी भी द्वन्द्वमें वह विषम नहीं देखता। वह एकमात्र ब्रह्मको ही जानता है, ब्रह्ममें ही रहता है और ब्रह्म ही बन जाता है। ऐसी अवस्थामें न तो जगत्की दृष्टिसे होनेवाला भारी-से-भारी दुःख उसे विचलित कर सकता है और न जगत्की दृष्टिसे प्रतीत होनेवाला परम सुख ही उस सुखके विकारसे क्षुब्ध कर सकता है, वह सदा सम, अचल, कूटस्थ, स्वरूपस्थित रहता है! इसी बातको समझानेके लिये भगवान्ने जहाँ-जहाँपर गीतामें तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ-वहाँ समतापर बड़ा जोर दिया है। इसीको प्रधान लक्षण बतलाया है, देखिये

गीता अध्याय २ श्लोक ५६-५७, अध्याय ५।१८-१९, अध्याय ६।२९—३१; अध्याय १२।१३, १७—१९; अध्याय १४।२२, २४-२५ आदि-आदि। शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुषकी शान्ति वह होती है जो सर्वोच्च है; जो किसी कालमें किसी भी कारणसे घटती नहीं, नष्ट नहीं होती। वह नित्य है, सनातन है, अचल है, आनन्दमयी है, सत् है, सहज है, अकल है और अनिर्वचनीय है। बस, वह परमात्माका स्वरूप ही है। जो शान्ति किसी शारीरिक स्थितिके कारण विचलित होती है, बदलती है या नष्ट होती है, वह यथार्थमें शान्ति ही नहीं है, वह विषयप्राप्तिजनित क्षणिक सुख-स्वप्नसे प्राप्त होनेवाली चित्तकी अचंचलता है, जो दूसरे ही क्षण नवीन कामनाके जाग्रत् होते ही नष्ट हो जाती है। भक्तकी दृष्टिसे कहा जाय तो भी यही बात है। भक्त सुख और दुःख दोनोंमें अपने भगवान्की मूर्ति देखता है, वह अपने भगवान्को कभी बिना पहचाने नहीं रहता। 'वज्रादपि कठोर' और 'कुसुमसे भी कोमल' दोनोंमें ही वह अपने प्रियतमको निरख-निरखकर उसकी विचित्र लीलाओंको देख-देखकर नित्य-निरतिशय आनन्दमें निमग्न रहता है, उसकी उस आनन्दमयी शान्तिको नष्ट करनेकी किसमें सामर्थ्य है? भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

'उस परम लाभके प्राप्त हो जानेपर उससे अधिक अन्य कोई भी लाभ नहीं जँचता और उस अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।' क्योंकि वह सर्वत्र सर्वदा अपने हरिको ही देखता है। भगवान् कहते हैं—

**योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**

(गीता ६।३०)

'जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।' ऐसी अवस्थामें यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि तत्त्व ज्ञानी—शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुषके लिये कोई कर्म रहता ही नहीं। प्रारब्धसे शरीर रहता है परंतु उसमें अहंता और कर्ता-भोक्ता भाववाले किसी धर्मीका अभाव होनेसे क्रियामात्र होती है। वस्तुतः उसको भोगता नहीं। उसके कर्मोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं। कर्मोंका समस्त बोझ उसके सिरसे उतर जाता है। प्रारब्धके शेष हो जानेपर शरीर भी छूट जाता है।

ज्ञान और भक्ति

प्रश्न है—'ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है या भक्तिसे ज्ञान? उनमेंसे किसका स्थान ऊँचा है? इसके उत्तरमें निवेदन है कि ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है और भक्तिसे ज्ञान। दोनोंका ही स्थान ऊँचा है। कोई किसीसे छोटा या बड़ा, ऊँचा या नीचा नहीं है। वास्तवमें भक्ति या ज्ञानके स्वरूपको ठीक-ठीक न जाननेके कारण ही ऐसे प्रश्न होते हैं। ज्ञान क्या है? भगवान्‌के तत्त्वका यथार्थ बोध होना। और भक्ति क्या है? भगवान्‌के स्वरूपमें प्रगाढ़ प्रेम होना। जिसे भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होगा, वह इतर वस्तुओंसे हटकर भगवान्‌की ओर ही आकृष्ट होगा। जितना ही उनके तत्त्वका ज्ञान होगा उतना ही उनके प्रति प्रेम बढ़ता जायगा और उसके परिणाममें संसारसे वैराग्य भी होता जायगा। श्रीमद्भागवतमें कहा है—जो भगवान्‌की शरणमें जाता है, उसमें तीन बातें साथ-ही-साथ प्रकट होने और बढ़ने लगती हैं—भगवान्‌के प्रति प्रेम, भगवत्तत्त्वका ज्ञान तथा अन्य वस्तुओंसे वैराग्य, जैसे भोजन करनेवाले मनुष्यको प्रत्येक ग्रासके साथ ये तीन बातें प्राप्त होती हैं—तृप्ति, पुष्टि और भूखकी निवृत्ति। यथा—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

(११। २। ४२)

यह ज्ञानसे भक्तिका बढ़ना हुआ। गीतामें भी भगवान्‌ने ज्ञानसे भक्ति और भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५४-५५)

'ब्रह्मको प्राप्त (वह पुरुष) प्रसन्नचित्त होकर न तो फिर शोक करता है न आकांक्षा ही। सब भूतोंमें समताको प्राप्त वह मेरी पराभक्तिको पाता है। फिर उस पराभक्तिसे वह मुझे जैसा और जो मैं हूँ, तत्त्वसे जान लेता है। तब मुझको तत्त्वसे जानकर वह इसके अनन्तर मुझमें प्रवेश हो जाता है।'

जो भगवान्‌के प्रति जितना प्रेम बढ़ायेगा, वह उनके यथार्थ स्वरूप और रहस्योंसे उतना ही अधिकाधिक परिचित होता जायगा। यह भक्तिसे ज्ञानकी वृद्धि हुई। लोकमें भी देखा जाता है—जो जिससे प्रेम करता है, वह उसके आन्तरिक रहस्योंसे विशेष परिचित रहता है। जब ज्ञान और भक्ति दोनों ही एक-दूसरेके पोषक हैं, तब किसको किससे बड़ा कहा जाय। फलकी दृष्टिसे तो दोनोंमें कोई भेद है ही नहीं, साधन-कालमें भी ज्ञानके साथ भक्तिका सम्बन्ध देखा जाता है। अतएव ज्ञान या भक्तिमें कोई भेद या तारतम्य नहीं मानना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

इस प्रकार स्वरूप और महत्त्वकी दृष्टिसे दोनोंमें कोई अन्तर न होनेपर भी साधनमें सुखद, सुगम और भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होनेके कारण शास्त्रोंमें भक्तिकी श्रेष्ठताका वर्णन किया

गया है। 'ज्ञानके पथ' को कृपाणकी धार कहा जाता है, उससे गिरते देर नहीं लगती। एक तो वह सर्वसाधारणके लिये अगम्य होता है, दूसरे उसमें अनेक प्रकारके विघ्नोंसे स्खलनका भय रहता है। साधन भी उसका कठिन है—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥

स्वयं भगवान् कहते हैं—'**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥**' देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गति कष्ट साध्य है। देहाभिमानसे छूटना सहज नहीं है। भक्तिमें इससे कोई भय नहीं होता। वहाँ देह और उसका अभिमान दोनों श्रीहरिके चरणोंमें समर्पित हो जाते हैं। भक्तके योग-क्षेमका भार भगवान्पर होता है; वे ***'जिमि बालक राखइ महतारी'*** की भाँति सदा भक्तकी रखवालीमें लगे रहते हैं। ज्ञानका चरम फल है मुक्ति—***'ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥'*** परंतु रामका भजन करनेवाले भक्तके पास वह मुक्ति अपने-आप आती है—

'अनइच्छित आवइ बरिआईं॥'

—इतना ही नहीं ज्ञान और विज्ञान सब कुछ भक्तिके अधीन है—

'तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥'

जैसे जल स्थलके बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार मोक्ष-सुख भक्तिके बिना नहीं रहता—

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

जिस अविद्याका नाश करनेके लिये ज्ञानयोगीको बहुत प्रयत्न करना पड़ता है, वही भक्तके लिये अनायास सिद्ध है—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥

और भक्तिहीन ज्ञान भी भगवान्को प्रिय नहीं है—

'भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ।'

श्रीमद्‌भागवतमें तो यहाँतक कहा गया है कि जो भगवान्‌की कल्याणकारिणी भक्तिकी ओरसे उदासीन होकर केवल ज्ञान-प्राप्तिके लिये क्लेश उठाते हैं, उन्हें केवल परिश्रम ही हाथ लगता है—ठीक उसी तरह जैसे भूसी कूटनेवालेको चावल नहीं मिलता, केवल श्रम ही उठाना पड़ता है।

श्रेयःस्त्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(१०।१४।४)

इस प्रकार विचार करके सबको भगवान्‌की भक्तिमें ही मन लगाना चाहिये।

अहंकार ही दुःखका कारण है

सभीके दुःखके कारण अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति हैं! इनमें सबकी जड़ अहंकार है। जितना ही जिसका अहंकार बढ़ा है, उतनी ही ममता, कामना और आसक्ति बढ़ी है और उतनी ही मात्रामें वह अधिक-से-अधिक संतप्त, अशान्त और बन्धनग्रस्त है। अहंकारी मनुष्यको बात-बातमें अपमानका बोध होता है और वह पद-पदपर अनेकों शत्रु पैदा कर लेता है। किसीसे सीधी बात करनेमें भी उसे पीड़ा-सी होती है। वह अपने हठके सामने किसीकी भली बात भी नहीं सुनना चाहता। वह अपने ही हाथों नित्य बड़े गर्वके साथ अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारता है और उन्मत्त नशेबाजकी भाँति उसीमें गौरव मानकर निर्लज्जताके साथ नाचता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२।७१)

'जो पुरुष सारी कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और निःस्पृह होकर संसारमें आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसके लिये आपको भगवान्‌का भजन करना चाहिये। भगवान्‌की माया बड़ी दुरत्यय है। मायाका आवरण हटे बिना अहंकारादिसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है और मायाके महासागरसे वही पार हो सकता है, जो मायापति भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका भजन करता है—'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' भगवान् कहते हैं—जो मेरा ही भजन करते हैं, वे इस मायासे तरते हैं।

भजन करनेवालोंमें ज्यों-ज्यों भक्तिका विकास होता है, त्यों-ही-त्यों उसमें दैन्य आता है। वह सभी बातोंमें सर्वसमर्थ प्रभुका ही कर्तृत्व देखता है उसकी ममता जगत्में सब जगहसे हटकर एकमात्र प्रभुके पादपद्मोंमें ही केन्द्रित हो जाती है, एकमात्र प्रभुकी प्रीति ही उसकी कामनाका विषय बन जाती है। फलतः प्रपंचसे उसका अहंकार, उसकी ममता और कामना तथा उसकी आसक्ति अपने-आप ही हट जाती है। वह प्रभुका प्यारा बन जाता है और प्रभु उसे अपने हृदयमें बसाकर निहाल कर देते हैं—

सब के ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

बस, भगवान्‌को ही एकमात्र अपना मानकर लोभीके धनकी भाँति उनके हृदयमें बसनेका सौभाग्य प्राप्त कीजिये।

भगवद्भक्ति और दैवी सम्पत्ति

भगवान्के नाम और भगवद्भक्तिकी महिमा अनन्त है। आप और हम तो क्षुद्र हैं—महापुरुष भी इनकी महिमा पूरी-पूरी नहीं गा सकते; परंतु भाई साहब! आप जिस ढंगसे भक्ति और भगवन्नामका माहात्म्य बतलाते हैं, वह मुझे पसंद नहीं है। मैं तो मानता हूँ भगवन्नामसे पापका लेश भी नहीं रहता। फिर यह कैसे स्वीकार करूँ कि भगवन्नामका सहारा लेकर दुष्कर्म करते रहना—जान-बूझकर भी उनसे हटनेका प्रयास और अभिलाषा न करना उचित है? मेरी समझसे भगवद्भक्तिके साथ दैवी सम्पत्तिका अनिवार्य संयोग है। कोई भगवद्भक्त भी बने और बेरोक-टोक व्यभिचार और परधन हरण भी करता रहे। घंटे-आध-घंटे कीर्तन कर ले और दिन-रात बिना किसी ग्लानिके, खुशी-खुशी जूए, शराब, परनिन्दा, परदोषदर्शन और दूसरोंको ठगने और कष्ट पहुँचानेमें बीतें, यह कैसी भक्ति है, कुछ समझमें नहीं आता। यह सत्य है कि इससे अधिक पाप करनेवालोंको भी भगवन्नाम-कीर्तन और भक्ति करनेका अधिकार है। भगवान्का द्वार पापियोंके लिये बंद नहीं है तथा भगवन्नाम और भगवद्भक्तिसे पापी भी शीघ्र पुण्यात्मा-महात्मा भी बन सकते हैं, परंतु जिनके मनमें बुरे कर्मोंसे जरा भी ग्लानि नहीं और जो इसलिये भगवन्नाम लेते हैं कि उनके पाप ढके रहें या पाप करनेमें उन्हें सुविधा मिल जाय, उनके लिये बहुत विचारणीय बात है। यह सत्य है कि भगवन्नामकी पाप-नाश करनेकी शक्ति पापीके पाप करनेकी शक्तिसे कहीं अधिक है, और अन्तमें उसके पापोंका नाश करके भगवन्नाम उसे तार देगा; परंतु जान-बूझकर पाप करनेके लिये ही नाम

लेना भगवद्भक्तिका आदर्श क्योंकर माना जा सकता है? मेरा तो यह विश्वास है कि जो लोग भगवान्‌की सच्ची भक्ति करते हैं, उनमें मनका निग्रह, इन्द्रियोंका वशमें होना, अहिंसा, सत्य, सेवा, क्षमा, परदुःखकातरता, मैत्री, दया आदि गुण क्रियात्मक रूपमें प्रत्यक्ष आ जाते हैं और इनके आनेपर ही भक्ति आदर्श मानी जाती है। अतएव मेरी तो आपसे प्रार्थना है कि आप भक्तिके साथ उसकी चिरसंगिनी—जिसके बिना भक्ति रह नहीं सकती—दैवी सम्पत्तिका भी पूरा आदर करें, तभी भक्तिका यथार्थ विकास होगा और तभी तुरन्त शान्ति मिलेगी। यह याद रखना चाहिये कि भगवद्भक्तिके बिना दैवी सम्पत्ति प्राणहीन है और दैवी सम्पत्तिके बिना भक्ति नहीं होती। इन दोनोंका परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भगवद्भक्तमें कैसे गुण होने चाहिये, इसका विशेष विवरण गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है। बारहवें अध्यायके १३वेंसे २०वें श्लोकतक देखना चाहिये।

त्यागसे शान्ति मिलती ही है

आपने जो कुछ पूछा उसका एकमात्र उत्तर यही है कि वास्तविक त्याग होनेपर तो शान्ति मिलती ही है— **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। यदि शान्ति नहीं है तो त्यागमें ही त्रुटि है। सच्चा त्याग मनसे होता है। पर जबतक त्यागकी स्मृति है और त्यागका अहंकार है, तबतक भी यथार्थ त्याग नहीं समझना चाहिये। इसलिये त्यागका भी त्याग होना चाहिये। त्यागकी वास्तविकतामें त्याग किये हुए पदार्थोंमें आसक्ति या ममता नहीं रह जाती। उसमें एक आनन्दकी अनुभूति होती है, पर वह आनन्द भी अहंकारजनित नहीं होता। सहज तृप्तिजनित सुख होता है। वस्तुतः त्यागके बिना सच्ची सेवा भी नहीं हो पाती। जो सेवा करके बदला चाहता है, उसका कोई पुरस्कार चाहता है, उसमें त्यागका अभाव होनेसे उसकी सेवा मलिन और अशुद्ध हो जाती है। उससे शान्तिरूपी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

हम ऊपरसे वस्तुओंका त्याग करते हैं; परंतु मनमें उनके प्रति आसक्ति, मोह और महत्त्व बना रहता है। इसलिये उनकी बार-बार स्मृति होती है, मन उनके संगसे मुक्त नहीं होता। अतएव कभी तो उनका अभाव खटकता है और कभी यदि कोई वस्तु हमने किसीको दी है तो उसके प्रति यह भावना होती है कि मैंने उसका बड़ा उपकार किया है, उसे मेरा कृतज्ञ होना चाहिये। वह नहीं होता, उपकार नहीं मानता तो मनमें दुःख होता है। दोनों ही स्थितियोंमें यथार्थ त्यागका अभाव है। नहीं तो, त्यागमें न तो कोई अभाव दीखता और न दुःख ही होता। त्याग करनेवाला मनुष्य न तो त्याग की हुई वस्तुका

स्मरण करके अभावका अनुभव करता है और न दूसरेके लिये उत्सर्ग की हुई वस्तुके लिये अहंकार करके उसपर अहसान ही करता है।

त्यागकी कसौटी ही है शान्ति। जिस त्यागके अनन्तर शान्ति मिलती है और शान्तिजनित शुद्ध आनन्दकी अनुभूति होती है, वही यथार्थ त्याग है। आपको जो दोनों ही प्रकारसे शान्ति नहीं मिली, न तो वस्तुओंके छोड़नेपर और न उन्हें सुयोग्य पात्रोंको प्रदान करनेपर ही; इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुओंका परित्याग और दान दोनों ही किसी-न-किसी अंशमें त्रुटियुक्त हैं—त्यागकी सच्ची भावनासे रहित हैं। आप अपने मनको गहराईसे देखिये, आपको त्रुटियोंका पता लग ही जायगा।

परंतु इससे आपको हताश नहीं होना चाहिये और न त्याग एवं दानको बुरा ही मानना चाहिये। जितने अंशमें त्याग और दान सम्पन्न हुआ है, उतने अंशमें वह उत्तम ही है। उससे शान्ति नहीं मिली, यह ठीक है; परंतु उसका परिणाम शान्तिकी प्राप्तिमें सहायक अवश्य होगा। सत्कर्मका फल किसी-न-किसी अंशमें कल्याणकारक ही होगा, उससे हानि तो होगी ही नहीं—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥'

(गीता ६। ४०)

'शुभ कर्म करनेवाला कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' अतएव आपको ऐसे शुभ संकल्पों और कार्योंसे कभी विरत नहीं होना चाहिये, वरं त्यागकी मानसिक भावनाको यथासाध्य विशुद्ध बनाना चाहिये। उसमें जितनी ही विशुद्धि आयेगी, उतना ही वह त्याग सच्ची शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला होगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

इसके लिये एक बहुत अच्छा भाव यह है कि हम जो कुछ भी शुभ कार्य करें, उसे भगवान्‌के लिये करें और यह समझें कि भगवान्‌की ही प्रेरणासे भगवत्प्रीत्यर्थ यह कार्य किया जा रहा है। त्यागका कार्य हो तो यह समझें कि भगवान्‌की ही वस्तु है और भगवत्प्रेरणासे भगवान्‌के लिये ही उसका त्याग हो रहा है। दानमें यह भावना करें कि भगवान्‌की ही वस्तु, भगवान्‌की ही प्रेरणासे, भगवान्‌के प्रति अर्पण की जा रही है! भगवान् जो इस काममें मुझको निमित्त बना रहे हैं और स्वयं ही गृहीताके रूपमें आकर उसे ग्रहण कर रहे हैं, यह उनकी परम कृपा है। इन भावोंके रहनेपर मनमें अहंकार, आसक्ति या ममता नहीं रहेगी और परिणाममें शान्ति अवश्य मिलेगी। विशेष भगवत्कृपा।

भगवच्चिन्तनमें ही सुख है

यथार्थ बात तो यह है कि जबतक आपका यह विश्वास है कि जागतिक पदार्थोंमें—भोगोंमें सुख है और जबतक उनके संग्रहको ही आप सुखका साधन मानते रहेंगे; तबतक आपको सच्चे सुखके दर्शन कदापि नहीं होंगे। अमुक-अमुक विषयोंकी प्राप्तिसे, अमुक प्रकारकी परिस्थितिसे मुझको सुख हो जायगा, यह बहुत बड़ा भ्रम है, इसी भ्रमके कारण मनुष्य दिन-रात विषय-चिन्तनमें लगा रहता है। आपको यह सत्य सदा याद रखना चाहिये कि समस्त पापोंका मूल विषय-चिन्तन है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनने भगवान्से पूछा था कि 'इच्छा न रहनेपर भी ऐसा कौन है, जिसकी प्रेरणासे मनुष्य मानो बलपूर्वक लगाया हुआ-सा पाप करता है?' (३।३६) श्रीभगवान्ने इसके उत्तरमें स्पष्ट बतलाया कि 'काम (कामना) ही वह वैरी है, जो महाशन है—जिसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं और जो महान् पापी है; यह काम ही क्रोध बनता है और इस कामकी उत्पत्ति होती है रजोगुणसे।' रजोगुण रागात्मक है। अर्थात् आसक्ति ही रजोगुणका स्वरूप है। इस आसक्तिसे ही कामकी उत्पत्ति होती है और आसक्ति होती है विषयोंके चिन्तनसे, विषय-चिन्तनमें मनुष्यका मन जहाँ रम जाता है, वहाँ एकके बाद दूसरा क्रमशः सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तमें उसका सर्वनाश होकर रहता है। भगवान्ने कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(गीता २।६२-६३)

'मनुष्य मनसे विषयोंका चिन्तन करता है, विषय-चिन्तनसे उसकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे उनको प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध [कामनाके सफल होनेपर लोभ] उत्पन्न होता है, क्रोध [या लोभ]-से मूढ़ता आती है, मूढ़भावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रंश होनेपर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धिके नाश हो जानेसे मनुष्यका पतन या सर्वनाश हो जाता है।'

इससे सिद्ध है कि समस्त पापोंका और सर्वनाशका मूल विषय-चिन्तन है। यह विषय-चिन्तन तबतक नहीं छूटता, जबतक विषयोंमें सुखकी प्राप्तिका भ्रम है। भगवान् तो कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न जितने भी भोग हैं, वे सब निश्चय ही दुःखयोनि हैं—दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि अन्तवाले—अनित्य हैं, अतएव हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता—सुख नहीं मानता।' सच्चे अक्षय सुखका उपभोग तो उस भगवत्-रूप योगमें युक्त पुरुषको प्राप्त होता है, जिसका अन्तःकरण बाह्य जागतिक विषय-भोगोंमें आसक्त नहीं है और जो अन्तःकरणके ध्यानजनित सुखको प्राप्त है (गीता ५। २१)।

अतएव हमें यदि सुखकी—सच्चे सुखकी चाह है तो चित्तके द्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन—ध्यान करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा। भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११।१४।२७)

'जो मनुष्य निरन्तर विषय-चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयोंमें आसक्त हो जाता है और जो मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें (श्रीभगवान्‌में) तल्लीन हो जाता है।'

एवं भगवान्‌के चित्तमें आते ही भगवत्-कृपासे चित्तगत समस्त अशुभों, दोषों और पापोंका नाश हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥
यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥

(१२।३।४५,४७)

'कलियुगके कारण मनुष्यके वस्तु, स्थान, अन्तःकरण सभीमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं; परंतु जब पुरुषोत्तम श्रीहरि चित्तमें आ जाते हैं, तब वे सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। जैसे स्वर्णके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसकी धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर डालती है, वैसे ही हृदयमें आये हुए भगवान् विष्णु उसके समस्त अशुभ संस्कारोंको नष्ट कर देते हैं।'

परंतु भगवान्‌का चिन्तन तभी होगा, जब 'विषयोंमें सुख है'— यह भ्रम हमारे मनसे सर्वथा निकल जायगा और जब यह निश्चय हो जायगा कि सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही है। किसी वस्तुका यथार्थ त्याग मनुष्य तभी करता है, जब

वह समझ लेता है कि यह वस्तु सुख नहीं वरं नित्य नये-नये दुःख ही देनेवाली है। और यह दोष वैसे ही प्रत्यक्ष निश्चयके रूपमें आ जाना चाहिये, जैसे हमारा यह निश्चय है कि संखिया या अफीम खानेसे हमारी मृत्यु हो जायगी। बहुत बड़े धनका लालच देनेपर भी मनुष्य अफीम या संखिया नहीं खाता; क्योंकि वह समझता है, इसके खाते ही मैं मर जाऊँगा। ऐसी ही विषबुद्धि विषयोंमें होनी चाहिये। अष्टावक्रजीने कहा है—'विषयोंका विषके समान त्याग कर दो'—'**विषयान् विषवत् त्यज।**'

जबतक विषयोंमें निश्चित दुःखबुद्धि नहीं होती और भगवान्में निश्चित सुखबुद्धि नहीं होती, तबतक न तो विषयोंसे मन हटेगा और न भगवान्में लगेगा। और इसीलिये तबतक न तो दुःखका नाश होगा और न सुखकी प्राप्ति होगी; क्योंकि भगवान्से अलग विषयोंमें सुख है ही नहीं। इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार करें, विषयोंके स्वरूपको समझें और उनमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्तको हटायें तथा परम सुखरूप भगवान्में लगायें। फिर देखें, आपको उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सुख मिलता है या नहीं।

गीतामें भगवत्स्मरण

आपकी शंकाओंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) जिसने जीवनभर भगवान्‌का स्मरण किया होगा, उसे अन्त समयमें अनायास ही भगवान्‌का स्मरण होगा। जीवनमें जहाँ मन अधिक रमता रहा है, अन्तकालमें प्रायः उसीकी स्मृति होती है। अतः अन्तकालमें भगवान्‌का ही स्मरण हो, इसके लिये सम्पूर्ण जीवनमें भगवान्‌के चिन्तनको अनिवार्य बना लेना चाहिये। अन्तकालमें किसी कारणवश वाक्-शक्ति कुण्ठित हो जाय तो भी स्मरण बना रहता है। प्राण जानेकी घड़ीमें तो सबसे बड़े सहारेकी ही याद आती है, अतः उस समय भगवद्भक्तको भगवान्‌का सहज ही स्मरण हो सकता है। मान लीजिये, प्राण दो दिन बाद निकलें, परंतु बेहोशी पहले ही हो जाय, उस दशामें भी होशके अन्तिम क्षणमें जो संस्मरण रहेगा, उसीके अनुसार भावी गति होगी। अतः दो दिन पूर्व होशके अन्तिम क्षणमें किया हुआ स्मरण ही अन्तकालका स्मरण समझा जायगा।

(२) जो लोग छोटी अवस्थासे चिन्तन न करके बुढ़ापेमें चिन्तन प्रारम्भ करते हैं, उनमेंसे बहुत थोड़े लोग स्मरणके संस्कारको अधिक जाग्रत् कर पाते हैं। अधिकांश लोग जीवनमें जहाँ अधिक रमे हैं, उन आसक्तियोंको नहीं छोड़ पाते। अतः उनके द्वारा अन्तसमयमें भगवत्स्मृति नहीं बन पाती। यदि किसीके द्वारा पूर्वजीवनमें अभ्यास न होनेपर भी अन्तकालमें भगवत्स्मरण बन गया तो ऐसा मानना चाहिये कि उसका कोई पूर्व-पुण्य सहायक हो गया है; अथवा भगवान्‌की अकारण कृपा बरस गयी है।

(३) गीता (८। २४-२५)-में शुक्लमार्ग और कृष्णमार्गका वर्णन है। इन मार्गोंसे वे ही जाते हैं, जो उक्त पथोंके योग्य होते हैं। शुक्लमार्गसे गये हुए उपासक ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और कृष्णमार्गसे गये हुए सकाम पुण्यकर्म करनेवाले जीव चन्द्रलोक (स्वर्ग)-तक जाकर वहाँके भोग भोगनेके बाद यहाँ लौट आते हैं। मान लीजिये, कोई शुक्लमार्गसे यात्रा करनेकी योग्यतावाला उपासक दक्षिणायनमें मर गया तो वह पहले अग्निके अधिकारमें जायगा, अग्नि उसे दिनके अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देगा और वह उसको शुक्लपक्षके अभिमानी देवताके अधिकारमें दे देगा। इसके बाद वह वहीं रुकेगा। जब दक्षिणायन बीत जायगा, तब उत्तरायण आरम्भ होते ही उसका अभिमानी देवता उस जीवको अपने अधिकारमें लेकर आगे बढ़ा देगा। इसी क्रमसे वह सद्‌गतिको प्राप्त होगा।

गीता अध्याय ९-१० और ११ में भगवान्‌ने अपनी बहुत प्रशंसा नहीं की है, यथार्थ बातका दिग्दर्शन कराया है। हमारे और आप-जैसे दोषदर्शीके सामने यह बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि हमलोगोंको इस उपदेशमें आत्मप्रशंसाकी गन्ध आती है, परंतु अर्जुन ऐसे नहीं थे। वे 'अनसूयु' थे; इसीलिये उन्हें नवें अध्यायका गुह्यतम ज्ञान विज्ञानसहित बताया गया—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं..............................॥

जो किसीके गुणोंमें दोष नहीं देखता, वही अनसूयु है। अर्जुनने इस उपदेशको सुनकर अपने ऊपर भगवान्‌की कृपा मानी, आत्मप्रशंसा नहीं समझी। वे भगवान्‌के प्रेमी थे, इसीलिये उनके सामने भगवान्‌ने अपने परम रहस्यका (जिसका दसवें अध्यायमें वर्णन है) उपदेश किया—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

'भगवान्‌के उपदेशको सुनकर अर्जुनने क्या समझा?' यह वे अपने मुखसे बता रहे हैं—

'**सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।**'

'भगवन्! आप मुझसे जो कुछ कहते हैं, वह सब मैं यथार्थ मानता हूँ।'

अर्जुन भगवान्‌के अनन्य भक्त थे; इसीलिये उन्हें ग्यारहवें अध्यायका उपदेश सुलभ हुआ। अनन्यभक्तिके प्रभावसे ही वे विश्वरूप-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कर सके। जैसा कि भगवान्‌ने स्वयं बताया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

अतः गीताको समझनेके लिये अनसूयु, भगवत्प्रेमी एवं अनन्यभक्त बननेकी आवश्यकता है। फिर किसी प्रकारकी शंकाका उदय न होगा।

'अपि चेत्सुदुराचारो'

पापी दो प्रकारके होते हैं—एक वह, जिसकी पापमें पापबुद्धि है। उसके द्वारा पापकर्म बनता है, पर वह उसके हृदयमें सदा काँटा-सा चुभता है। आदत, व्यसन, परिस्थिति और कुसंग आदिके कारण समयपर वह अनियन्त्रित-सा हो जाता है और न करनेयोग्य कार्य कर बैठता है; परंतु पीछे उसे अपने उस दुष्कर्मके लिये बड़ी आत्मग्लानि होती है, बड़ा पश्चात्ताप होता है। ऐसी स्थितिमें वह पुनः वैसा दुष्कर्म न करनेका मन-ही-मन निश्चय करता है; परंतु अवसर आनेपर पुनः विचलित हो जाता है। अन्तमें रो-रोकर सर्वशक्तिमान् सदा-सर्वत्र वर्तमान दीनैकशरण्य भगवान्‌को ही अपना एकमात्र त्राणकर्ता मानकर उनसे प्रार्थना करता है। ऐसे ही पापीके सम्बन्धमें श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें स्वयं भगवान्‌ने घोषणा की है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९।३०-३१)

'महान् दुष्ट आचरण करनेवाला पुरुष भी यदि मुझको अनन्यभाक् होकर (अर्थात् भगवान्‌के सिवा किसी भी साधन, कर्म, योग, ज्ञान, देवता या इष्टको शरण्य और त्राणकर्ता न मानकर—केवल भगवान्‌को ही अपना एकमात्र रक्षक और आश्रयदाता जानकर) भजता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय सर्वथा यथार्थ है। वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा (सारे पापोंसे सर्वथा छूटकर धर्ममय) बन जाता है और शाश्वत

शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम निश्चय सत्य मानो कि मेरे भक्तका (इस प्रकार एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय माननेवाले पुरुषका) पतन नहीं होता।'

दूसरे प्रकारका पापी वह है, जिसकी पापमें उपेक्षाबुद्धि है, अथवा पापासक्ति अधिक होनेके कारण जो पाप करके गौरव और गर्वका अनुभव करता है ऐसे पापीका त्राण नहीं होता। उसका पतन अवश्यम्भावी है। इस प्रकारके पापीके लिये भगवान्‌ने कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७। १५)

'जिनकी बुद्धि सर्वथा सम्मोहित हो गयी है, जिनका ज्ञान मायाके द्वारा सर्वथा हरा जा चुका है, जो आसुर भावका आश्रय किये हुए हैं, वे नराधम पापी मनुष्य मेरा भजन नहीं करते।'

आपके मनमें यदि पापसे घृणा है, पापके लिये घोर पश्चात्ताप है तो आप पहले प्रकारमें ही आते हैं और पहले प्रकारके पापीके लिये निराशाकी कोई बात नहीं है। आप करुणावरुणालय अशरणशरण पतितपावन दीनबन्धु भगवान्‌की सहज करुणाका भरोसा करके उनका समाश्रयण कीजिये। उनकी कृपाशक्तिका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि जो कोई विश्वास करके एक बार उसकी ओर कातर-दृष्टिसे ताक लेता है, वह तुरंत ही उसकी सब प्रकारकी सारी पाप-कालिमाओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेका संकल्प कर लेती है और जहाँ कृपाशक्ति किसी आर्त प्राणीके आर्तिनाशका निश्चय करती है, वहाँ भगवान्‌की अन्यान्य समस्त शक्तियाँ उसका सहयोग देने लगती हैं। भगवान्‌की कृपाशक्ति ऐसी अमित महिमामयी है

कि समस्त शक्तियाँ सहज ही उसका अनुसरण करनेमें अपनेको धन्य मानती हैं और जब भगवान्‌की ये उदार शक्तियाँ किसीके उद्धारका मनोरथ और प्रयत्न करती हैं, तब उसके उद्धारमें कौन देर लगती है?—

जापर दीनानाथ ढरै, सोइ सुकृती उदार सो अनुपम सोइ सुकर्म करै॥
राम कृपा करि चितवहिं जब ही। सकल दोष दुख नासहिं तब ही॥
जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करैं सब कोई॥

भगवान् तो यह घोषणा ही कर चुके हैं कि वह पापात्मासे बदलकर **'क्षिप्रम्'** (तुरंत—चुटकी मारते-मारते) धर्मात्मा हो जाता है। उसका पतन तो हो ही नहीं सकता।

ऐसी अवस्थामें आपको न तो पापोंके लिये चिन्तित होना चाहिये और न पापकी प्रबल शक्तिसे डरना ही चाहिये। पापमें शक्ति ही कितनी है जो समस्त भगवच्छक्ति-चूडामणि महान् उदार कृपाशक्तिके सामने क्षणभर भी ठहर सके। जैसे सूर्योदयकी अरुणिमाका उदय होते ही अमावस्याका घोर अन्धकार नाश होने लगता है और सूर्योदय होनेपर सूर्यके सामने तो उसका कहीं पता ही नहीं लगता—क्षणमात्रमें ही उसका क्षय हो जाता है। इसी प्रकार भगवान्‌की कृपाशक्तिका प्रकाश होते ही पापान्धकारका समूल नाश हो जाता है। बस, शर्त यही है कि मनुष्य अनन्य विश्वासके साथ कृपापारावार भगवान्‌की कृपाशक्तिका आश्रय ग्रहण कर ले।

अतएव आप श्रीभगवान्‌की कृपाका भरोसा करके उनकी शरण हो जाइये और मनमें यह निश्चय कीजिये कि उनकी कृपाशक्तिके सामने मनमें पापकी स्फुरणाका भी उदय नहीं हो सकता। फिर पाप तो होंगे ही कहाँसे।

गीताके अनुसार भगवद्भजन

आपको दिनभर काममें लगे रहना पड़ता है, अवकाश बहुत कम मिलता है, इसलिये तीव्र इच्छा होनेपर भी आप अलग बैठकर भजन-ध्यानके लिये समय नहीं निकाल सकते। काम करते हुए ही भजनका कोई तरीका जानना चाहते हैं—सो बहुत अच्छी बात है। मेरी समझसे ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिये कि आपको समय मिलता ही न हो। शौच, स्नान, भोजन, शयन आदिके लिये समय किसी तरह आप निकालते ही होंगे। वैसे ही आप चाहें तो भजनके लिये भी कुछ समय निकाल सकते हैं। जो कार्य अत्यन्त आवश्यक होता है, जिस कार्यके प्रति मनमें आकर्षण होता है तथा जिसके लिये तीव्र इच्छा होती है, उसके लिये समय मिल ही जाता है। आप प्रयत्न करके देखें। आपकी लगन, रुचि तथा मनमें आवश्यकताकी भावना होगी तो आसानीसे समय मिल जायगा। फिर श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने एक ऐसा तरीका बतलाया है कि जिससे यदि मनुष्य चाहे तो प्रतिक्षण भगवान्‌का भजन-पूजन बड़ी सुगमताके साथ कर सकता है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिन परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिनके द्वारा यह सर्व जगत् व्याप्त है, उन परमात्माको अपने सहज कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको (मानव-जीवनकी परम और चरम सफलताको) प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्‌के इस आदेशके अनुसार मनुष्य चाहे जहाँ, चाहे जब अपने ही द्वारा किये जानेवाले उसी समयके कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का भजन-पूजन कर सकता है।

इसमें किसी स्थान-विशेष, समय-विशेष, स्थिति-विशेष और उपचार-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। किसी भी वर्णाश्रमका मनुष्य, किसी भी स्थानमें, किसी भी स्थितिमें सर्वत्र स्थित भगवान्‌का पूजन कर सकता है। इस पूजनमें गन्ध-पुष्प, धूप-दीप आदिकी भी आवश्यकता नहीं है। जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रीय कर्म विहित है, उसीके द्वारा वह भगवान्‌की पूजा कर सकता है। बस, मनका भाव यह होना चाहिये कि 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, सर्वव्यापी और सर्वाधार भगवान्‌की पूजा ही कर रहा हूँ।' फिर सोना-जागना, खाना-पीना, जाना-आना, व्यापार-व्यवसाय करना, यहाँतक कि शरीरशुद्धितकके सभी कर्म भगवान्‌की पूजाके उपकरण बन जायँगे। आप इस प्रकारसे हर समय भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। जिसको भी देखें, जिससे भी बात करें, मन-ही-मन यह निश्चय कर लें कि इस रूपमें भगवान् ही आपके सामने स्थित हैं। तदनन्तर उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करके उस समयके लिये उसके साथ जिस प्रकारका व्यवहार-बर्ताव करना शास्त्रदृष्टिसे विहित हो, उसी प्रकारके व्यवहार-बर्तावद्वारा उनकी पूजा करें। फिर, आप अलग समय निकालकर भजन-पूजन न भी कर सकेंगे तो भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकारसे भगवान्‌का भजन-पूजन करने लगनेपर आपके समस्त कर्म स्वाभाविक ही भगवदर्पण हो जायँगे और आपके चित्तमें सदा सहज ही भगवान्‌की स्मृति भी बनी रहेगी। भगवदर्पण कर्मोंका और भगवान्‌की नित्य स्मृतिका फल तो भगवत्-प्राप्ति है ही। भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २७-२८)

'अर्जुन! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो—खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तप करते हो, सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार जिसमें समस्त (लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक आदि) कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर तुम निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

इस प्रकार मनुष्य भगवत्-स्मरण तथा भगवदर्पण बुद्धिसे किये जानेवाले विहित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करता हुआ अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। और इस प्रकार सभी लोग कर सकते हैं। पर इसके साथ ही, कुछ समय प्रतिदिन अलग भी भगवान्‌का भजन-पूजन किया जाय तो उससे जल्दी लाभ होता है और वह सहज भी है। यह सत्य है कि पूरा भजन तो वही है, जो आठों पहर बिना विरामके और प्रत्येक कर्मके द्वारा ही

होता रहता है। पर ऐसे भजनमें प्रवृत्ति हो इसके लिये भी नित्य नियमपूर्वक कुछ समयतक अलग बैठकर भजन करनेकी आवश्यकता है। मेरी समझसे आप यदि थोड़ी भी चेष्टा करेंगे तो आपको समय मिल ही जायगा।

यह याद रखना चाहिये कि मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है और एकमात्र कर्तव्य भगवद्भजन है। चाहे जैसे भी हो अपनी-अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह अवश्य करना ही चाहिये।

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम-तत्त्व हैं

गीताके पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा, सो वस्तुतः इस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान तो भगवान् व्यासको ही है, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है। मैं तो अपने विचारकी बात लिख सकता हूँ और अपनी समझ तथा दृष्टिकोणसे मुझे इस मान्यतामें पूर्ण विश्वास है। मेरी समझसे गीताके श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। यही समग्र ब्रह्म हैं। ये क्षरसे अतीत हैं, अक्षरसे उत्तम हैं और सर्वगुह्यतम परम तत्त्व हैं। ये ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं। इनमें एक ही साथ परस्परविरोधी धर्मोंका प्रकाश है। ये निर्गुण हैं और अचिन्त्यानन्त कल्याण-गुणगणस्वरूप हैं, ये सर्वेन्द्रियविवर्जित हैं और सर्वेन्द्रियगुणाभास हैं। ये कर्तृत्वहीन हैं और सर्वकर्ता हैं; ये अजन्मा हैं और जन्म धारण करते हैं; ये सबसे परे हैं और सदा सबमें व्याप्त हैं, ये सर्वथा असंग हैं और नित्यप्रेम-परवश हैं। यही अर्जुनके सखा हैं, सारथि हैं, गुरु हैं और भगवान् हैं। ये निर्गुण, निरंजन, निष्क्रिय, निष्कल, निरवद्य, अनिर्देश्य, अचल, कूटस्थ, अव्यक्त तत्त्व हैं और ये ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सार-समुद्र, नित्य नटवर श्यामसुन्दर हैं, एवं ये ही गति, भर्ता, भोक्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृद्, माता, पिता, धाता, पितामह, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, परमात्मा और महेश्वर हैं। गीतामें जहाँ-जहाँ **'अहम्', 'मम', 'मे', 'माम्', 'मत्तः', 'मयाम्'** पद आये हैं, सब इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके लिये ही आये हैं। यह श्रीकृष्ण-तत्त्व ही गीताका प्रतिपाद्य है और इसीकी शरणागतिका चरम उपदेश गीतामें दिया गया है। यही गीताकी सर्वगुह्यतम शिक्षा है।

'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'

प्राण प्रियतम! वैराग्यका उपदेश देनेवाले लोग कहते हैं—मृत्युको याद रखो, मृत्युका भय करो। मुझे उनका यह कथन नहीं जँचता। मृत्युको मृत्यु समझकर स्मरण रखनेकी आवश्यकता ही क्या है? और उससे भय भी क्यों करना चाहिये? जब सभी रूपोंमें तुम भरे हो तब किसी खास समयमें आनेवाले रूपसे ही तुम्हें स्मरण क्यों किया जाय? अभी जिस रूपमें सामने हो उसीको स्मरण रखनेमें क्या हानि है? भयकी तो कोई बात ही नहीं। तुम-जैसे जीवनसंगी प्रियतम सखासे भय करनेकी कल्पना ही कैसी? फिर मृत्युके लिये तो तुम स्वयं पुकारकर कहते हो—

'**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**' 'सर्वहर मृत्यु मैं हूँ।' जब तुम्हीं हो तब तुमसे भय कैसा? जो भय करते हैं उन्हें या तो तुम्हारे ये शब्द ही नहीं सुन पड़े हैं और सुने हैं तो इन शब्दोंपर विश्वास नहीं है। जब हम तुम्हारे शब्दोंपर ही विश्वास न करें तब हमारा कैसा वैराग्य और कैसी भक्ति? अतएव नाथ! मुझे ऐसा वैराग्य तो मत दो, जिससे तुम्हारे किसी भी रूपको भयजनक मानकर उसका स्मरण करना पड़े। प्रेमके अगाध उदधिमें भयकी बात सुनकर भी भय लगता है। मुझे तो नाथ! दया करके इसी भयसे बचाओ। और ऐसा बना दो जिससे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र केवल तुम्हारे 'प्रेममय' स्वरूपके ही दर्शनकर अथाह आनन्दकी रसमय लहरियाँ ही बना रहूँ।

भगवान् परम सुहृद्

याद रखो—भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं और तुम्हारे परम सुहृद् हैं। उनमें विश्वास करो, उनकी कृपा तुम्हें निश्चय ही समस्त बन्धनों, समस्त विपत्तियों और समस्त कठिनाइयोंसे उबार लेगी। उनके इन गीताके वचनोंपर विश्वास करो—'कोई कैसा भी पापी हो मेरे शरण आनेपर मैं तुरंत उसके पापोंको धोकर उसे साधु और भक्त बना लेता हूँ, फिर उसे सनातनशान्ति मिल जाती है, मेरे उस भक्तका कभी पतन नहीं होता। मुझमें मन लगा दो, फिर मेरी कृपा तुम्हें सारे संकटोंसे अनायास ही तार देगी।'

याद रखो—संकट या विपत्तिका निवारण करनेके लिये बाहरी निर्दोष उपाय करना न तो बुरा है, न पाप है। पर यह निश्चय नहीं है कि उससे तुम्हारी विपत्तिका नाश हो ही जायगा; क्योंकि उसमें अत्यन्त सीमित तथा क्षुद्र शक्ति है। भगवान् महान् शक्तिके अनन्त भण्डार हैं, उनके शरण होकर यदि तुम केवल उन्हींपर पूर्णरूपसे निर्भर करोगे तो भगवान्‌की वह महान् शक्ति तुम्हारी सहायता करने लगेगी। जब तुम सहज ही अपरिसीम महान् शक्तिकी सहायता प्राप्त कर सकते हो, तब असीम क्षुद्र शक्तिके पीछे पड़कर क्यों अपना समय नष्ट करते हो?

याद रखो—तुम्हारी विपत्तियाँ चाहे जितनी बड़ी हों, अन्धकार चाहे जितना गहरा हो, दुःख चाहे जितने भयानक हों, बन्धन चाहे जितना कठिन हो, भगवान्‌की कृपाशक्तिका आश्रय—पूर्ण आश्रय लेनेपर तुम अपनेको इन सबसे मुक्त आनन्द-निकेतनमें विश्राम करते पाओगे।

याद रखो—जब कभी परिस्थिति प्रतिकूल हो, अनुकूलताके सारे साधन नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हों, चारों ओर केवल निराशा और घोर अन्धकार दिखायी देता हो, अशान्तिकी बड़ी भयानक आँधी आ रही हो—तुम उस समय तुरंत दयामय प्रभुके दरबारमें पहुँच जाओ, क्षणभरके लिये भी वहाँसे न हटो, न उतरो। केवल भगवान्पर ही दृष्टि लगाये उनका अनन्य चिन्तन करते रहो। ऐसा दृढ़ विश्वास करो कि 'भगवान् असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। मेरी प्रतिकूल स्थितिको बदलना उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं है। मैं उनकी कृपापर निर्भर हूँ। वे मेरा परम कल्याण निश्चय ही करेंगे।' तुम थोड़े ही समयमें देखोगे—आकाश स्वच्छ हो गया है। सारी आँधी चली गयी है और अनुकूलताके सारे साधन सुन्दरतासे जुट रहे हैं।

याद रखो—तुम्हारी प्रतिकूलता, विपत्ति और कठिनाईका विनाश करनेमें भगवान्को बड़ा सुख मिलता है। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि तुम अपना हृदय खोलकर उनके सामने रख दो। डरो मत, कभी निराशाके विचार मनमें मत लाओ। कभी यह मत सोचो कि 'हमको सदा अन्धकार, प्रतिकूलता और विपत्तिके जंगलोंमें ही भटकना है।' मंगलमय भगवान्के राज्यमें ऐसा सोचना एक प्रकारका अपराध है।

याद रखो—तुम्हारी जो भी अवस्था हो, तुम जहाँ भी हो, तुम जैसी भी प्रतिकूल परिस्थितिमें पड़े हो, भगवान्के लम्बे हाथ तुम्हारी रक्षाके लिये सदा पर्याप्त हैं। भगवान् एक क्षणमें तुमको ही नहीं, अनन्त विश्व ब्रह्माण्डको समस्त दुःख, विपत्ति, बन्धन और अन्धकारसे मुक्त करके

अपने दिव्य ज्ञानकी ज्योतिसे प्रफुल्लित और प्रकाशित कर सकते हैं।

याद रखो—भगवान्‌की अतुल बलवती कृपाशक्तिके सामने तुम्हारे पाप-तापोंमें, तुम्हारी आपद्-विपद्‌के आँधी-तूफानमें शक्ति ही कितनी है, जो उसके सामने ठहर सके। इसपर विश्वास करो।

याद रखो—तुम्हारी विश्वासहीनता ही तुम्हारे लिये परम विपत्ति है। भगवान्‌पर, उनकी कृपापर, उनकी सुहृदतापर और उनकी आत्मीयतापर विश्वास करो। उनकी ओर बढ़ो, उनपर निर्भर हो जाओ। उनकी महान् कृपाशक्तिसे तुम सहज ही समस्त संकट, बन्धन और अज्ञानान्धकारसे मुक्त हो जाओगे!

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार भक्त कौन है?

(अध्याय १२ श्लोक १३ से २०)

१-जो किसी भी जीवसे द्वेष नहीं करता।
२-जो सबके साथ मित्रताका व्यवहार करता है।
३-जो बिना भेद-भावसे दु:खी जीवोंपर सदा दया करता है।
४-जो परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुमें 'मेरापन' नहीं रखता।
५-जो 'मैंपन' को त्याग देता है।
६-जो सुख-दु:ख दोनोंमें परमात्माको ही समान भावसे देखता है।
७-जो अपना बुरा करनेवालेके लिये भी परमात्मासे भला चाहता है।
८-जो लाभ-हानि, जय-पराजय, सफलता-असफलतामें सदा सन्तुष्ट रहता है।
९-जो अपने मनको परमात्मामें लगाये रहता है।
१०-जो अपने मन और इन्द्रियको जीते हुए है।
११-जो परमात्मामें दृढ़ निश्चय रखता है।
१२-जो अपने मन और बुद्धिको परमात्माके अर्पण कर देता है।
१३-जो किसीके भी उद्वेगका कारण नहीं बनता।
१४-जो किसीसे भी उद्वेगको प्राप्त नहीं होता।
१५-जो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें कोई आनन्द नहीं मानता।

१६-जो दूसरेकी उन्नति देखकर नहीं जलता।
१७-जो निर्भय रहता है।
१८-जो किसी भी अवस्थामें उद्विग्न नहीं होता।
१९-जो किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं करता।
२०-जो बाहर-भीतरसे सदा पवित्र रहता है।
२१-जो परमात्माकी भक्ति करने और दोषोंका त्याग करनेमें चतुर है।
२२-जो पक्षपातरहित रहता है।
२३-जो किसी समय भी व्यथित नहीं होता।
२४-जो सारे कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे ही होते हैं, ऐसा मानता है।
२५-जो भोगोंको पाकर हर्षित नहीं होता।
२६-जो भोगोंको जाते हुए जानकर दुःखी नहीं होता।
२७-जो भोगोंके नाश हो जानेपर शोक नहीं करता।
२८-जो अप्राप्त या नष्ट हुए भोगोंको फिरसे पानेके लिये इच्छा नहीं करता।
२९-जो शुभ या अशुभ कर्मोंका फल नहीं चाहता।
३०-जो शत्रु-मित्रमें समान भाव रखता है।
३१-जो मान-अपमानको एक-सा समझता है।
३२-जो सर्दी-गर्मीमें सम रहता है।
३३-जो सुख-दुःखको समान समझता है।
३४-जो किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं रखता।
३५-जो निन्दा-स्तुतिको समान समझता है।
३६-जो परमात्माकी चर्चाके सिवा दूसरी बात ही नहीं करता।
३७-जो परमात्माके प्रेमसे मस्त हुआ किसी भी परिस्थितिमें सन्तुष्ट रहता है।

३८- जो घर-द्वारसे ममता नहीं रखता।

३९- जो परमात्मामें अपनी बुद्धि स्थिर कर देता है।

४०- जो इस भागवत-धर्मरूपी अमृतका सदा सेवन करता है।

४१- जो परमात्मामें पूर्ण श्रद्धा-सम्पन्न है।

४२- जो केवल परमात्माके ही परायण रहता है।

गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद

जिस कर्मयोगको भगवान्ने, '**कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५।२) कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बतलाया, जिसके आचरण करनेवालोंके लिये '**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥**' (गीता २।५१) जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय (अमृतमय) परमपदकी प्राप्ति बतलायी, वह गीतोक्त कर्मयोग क्या आधुनिक कर्मवाद ही है? आजकल जगत्के विशिष्ट शिक्षित पुरुष जिस कर्मवादके पीछे पागल हैं, जीवनभरमें कभी जिन्हें इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं मिलती, या जो विचार करना आवश्यक ही नहीं समझते कि 'ईश्वर क्या है, प्रकृति क्या है, जगत्का क्या स्वरूप है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं?' ऐसी बातोंकी कल्पना करना जिनके मन समयका दुरुपयोग करना है और जो रात-दिन केवल भौतिक उन्नतिका आदर्श सामने रखकर ही अपनी-अपनी जातिकी, अपने देशकी और संसारकी भौतिक उन्नतिके लिये, पार्थिव भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये कर्ममें लग रहे हैं। एक मिनिटके लिये भी जिनको कर्मसे अवकाश नहीं है उनका वह कर्म क्या गीतोक्त कर्मयोग है? आजकल कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं, या सिद्ध करना चाहते हैं कि गीतामें इसी कर्मयोगकी शिक्षा दी गयी है। इसीलिये वे अपनी या परायी ऐहिक उन्नतिके लिये कामासक्तिपूर्वक अनवरत कर्मप्रवाहमें बहते हुए मनुष्योंको 'कर्मयोगी' की

पदवी देते हैं और गीताके श्लोकोंसे इसका समर्थन करना चाहते हैं। अतएव इस विषयपर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है।

आधुनिक कर्मवादका स्वरूप

इस कर्मवादके स्वरूपके सम्बन्धमें नाना मतभेद हैं और इसमें अनेकों प्रकारके परिवर्तन भी हो रहे हैं। इसका उत्तम स्वरूप यह है—

कर्म मनुष्यकी उन्नतिका मूल है कर्मसे ही मनुष्य अपना, देशका और दीनोंका दुःख दूर कर सबको सुखी बना सकता है। अतएव किसी भी दूसरेपर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्यको निरन्तर कर्ममें ही लगे रहना चाहिये। जगत्का सारा दुःख केवल कर्मसे ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले, सबको समान रूपसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति हो, ऐश्वर्य, बल, विद्या, कला, विज्ञान आदिकी वृद्धि हो, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसके लिये सबको सब प्रकारसे आलस्य छोड़कर दुःख-कष्टकी परवा न कर सदा उत्साह और उल्लासपूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। यही मनुष्यका कर्तव्य या धर्म है।

इस कर्तव्यके पालनमें विविध कर्मोंके नानाविध स्वरूप बन गये हैं। कोई कहता है केवल विज्ञानसे ही सबकी उन्नति हो सकती है। रेल, जहाज, तार, टेलीफोन बेतारका तार, वायुयान आदि अनेक प्रकारके परम अद्भुत यन्त्र और अन्य आवश्यक चीजें, जिनसे संसारमें सभी क्षेत्रोंमें बहुत कुछ सुभीता हो गया है, विज्ञानका ही फल है; इसके अतिरिक्त रक्षक, संहारक अनेक प्रकारकी चीजें विज्ञानने आविष्कार की हैं, जिनसे हम अपनी रक्षा एवं विपक्षका संहार सहज ही कर सकते हैं और नाना

प्रकारसे सुखोपभोग करते हुए जीवन बिता सकते हैं, अतएव विज्ञानकी उन्नतिके कर्ममें लगे रहना चाहिये।

कोई कहता है, विज्ञानने मनुष्यको आलसी, विलासी, हिंसक और पक्षपाती बना दिया है। विज्ञानके फलसे ही यन्त्र बने और यन्त्रोंके कारण ही पूँजीवाद और मजदूरवादकी सृष्टि हुई। कुछ लोगोंके पास धन आ गया और शेष जनताका बहुत बड़ा भाग भूखों मरने लगा। अतएव विज्ञानकी ओरसे मन हटाकर यन्त्रसभ्यताका नाशकर ग्राम्य-जीवनको सुधरे हुए आदर्शपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

कोई कहता है कि देशकी रक्षाके लिये कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाकी बड़ी आवश्यकता है, इसलिये इनकी वृद्धिमें लगना चाहिये और कोई इनसे संसारका अमंगल समझकर अधिकाधिक कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाका विरोध करते हैं। कोई साम्राज्यवादी हैं तो कोई प्रजाराज्यवादी। कोई विषमतासे भलाई मानते हैं तो कोई व्यवहारमें पूर्ण समता चाहते हैं।

इस प्रकार नाना रूपोंमें कर्मका आश्रय लेकर आधुनिक जगत् कर्म और कर्मोंकी पूजामें लगा है। इन सबके कर्मका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु ईश्वर और धर्मकी आवश्यकता इनमेंसे किसीको नहीं है। कहीं अत्यन्त क्षीण रूपमें ईश्वर और धर्मकी बात सुनायी पड़ती है तो वह भी इस ऐहिक उन्नतिके लिये ही; वरं पाश्चात्यशिक्षा प्राप्त लोगोंमें तो अधिकांश प्रायः यही मानते हैं कि ईश्वर या धर्मकी बात करना या सुनना केवल व्यर्थ ही नहीं है, पतनका कारण है। इन पुराने विश्वासोंको—वहमोंको सर्वथा नष्टकर नवीन युगकी नवीन कल्पनाओंपर ही विश्वास करना चाहिये। इसीलिये आज चारों ओर क्रान्ति और अशान्ति है, एवं इसी क्रान्ति एवं अशान्तिके कार्योंको 'कर्मयोग' और

दिन-रात इनमें लगे हुए लोगोंको 'कर्मयोगी' कहा जाता है। यह संक्षेपमें वर्तमान कर्मवादका स्वरूप है।

गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना

अब गीताके कर्मयोगपर कुछ विचार कीजिये—

अवश्य ही, गीतामें किसी व्यक्ति, जाति, देश या विश्वके हितके लिये कर्म करनेका कहीं भी निषेध नहीं किया है, वरं स्वधर्मपालन और सर्वभूतहितमें रत रहनेकी ही आज्ञा दी गयी है; परंतु गीताकी दृष्टिमें कर्मके बाह्य स्वरूपका उतना महत्त्व नहीं है, जितना कर्ताकी बुद्धिका है। कर्म बाहरसे मृदु हो या कठोर, लोक-दृष्टिमें अनुकूल हो या प्रतिकूल, प्रेम हो या युद्ध, भोग हो या त्याग, यदि उसमें ज्ञान, भक्ति और समत्व है तो वही कर्मयोग है। श्रीभगवान्‌ने (गीता १८। ४६ में) कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड व्याप्त है अर्थात् जो स्वयं विश्वरूपमें प्रकाशित है, उस (परमेश्वर)-की अपने कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इसमें ज्ञान और भक्तिसे युक्त कर्मकी व्याख्या है। वह जान लेना होगा कि श्रीभगवान् ही जगत्‌भरमें व्याप्त हैं और मनुष्यको उन्हींकी पूजा करनी है, समस्त कर्म उन्हींकी पूजाके लिये हैं। कर्म कौनसे? केवल जप, तप, पूजा, पाठ ही नहीं, जिसका जो स्वकर्म हो, जिसके लिये जो कर्तव्य है, उन्हींसे भगवान्‌की पूजा होगी। अर्जुन! क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध ही कर्तव्य हो, वहाँ रणांगणमें आततायी प्रतिपक्षियोंका वध करके उनके रक्तसे ही

'काल' रूपसे प्रसिद्ध भगवान्‌की पूजा करनी होगी। तुलाधार वैश्य क्रय-विक्रयरूप व्यापारसे भगवान्‌की पूजा करता है। धर्मव्याध सेवाद्वारा भगवान्‌को पूजता है। याज्ञवल्क्य और शंकराचार्य संन्यास और ज्ञानद्वारा उनकी पूजा करते हैं। जनकने राज्य-पालन करके उन्हें पूजा। ब्रह्मचारी गुरुसेवा और विद्याध्ययनद्वारा भगवान्‌की पूजा करें। यह आवश्यक नहीं कि पूजाकी सामग्री एक-सी हो, आवश्यकता है पुजारीके हृदयके भावकी। यदि वह भगवान्‌के स्वरूपको समझकर भगवान्‌की पूजाके लिये—किसी फलके लिये नहीं—किसी कर्ममें आसक्त होकर नहीं, केवल यज्ञार्थ—भगवदर्थ—किसी भी कर्तव्यकर्मको करता है तो वही कर्मयोग है। यह याद रखना चाहिये कि ऐसे कर्म करनेवाले कर्मयोगीसे वास्तविक लोकहितसे विपरीत कर्म या पाप कर्म कदापि नहीं बन सकते। अमृतसे कोई मरे तो गीतोक्त कर्मयोगीसे किसीका अहित हो।

इसी कर्मयोगकी व्याख्या भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके निम्न-लिखित श्लोकोंमें की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, कर्मफलके हेतुसे कर्म न कर, (परंतु) कर्म न करनेमें भी मन न लगा। आसक्तिको त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित होकर (भगवान्‌के साथ चित्तको जोड़े हुए ही) कर्म कर। (फल श्रीभगवान्‌के हाथमें है, उनकी इच्छासे जो कुछ भी फल होगा, बस वही होना चाहिये, मुझे तो उनके चिन्तनमें चित्त

लगाये हुए उनके इच्छानुसार कर्म करने चाहिये) यह समत्व ही योग कहा जाता है।'

असलमें कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, कर्मफलमें अधिकार नहीं है। कोई भी मनुष्य यह दावा नहीं कर सकता कि मैं केवल कर्म करके ही अमुक फल प्राप्त कर लूँगा। किसान खेत जोतकर उसमें बीज डाल सकता है। परंतु उसमें अनाज उत्पन्न होना उसके हाथमें नहीं है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, टिड्डी, चूहे, पाला आदिसे पकी-पकायी फसल भी नष्ट हो सकती है। तथापि खेत जोतकर बीज तो डालना ही चाहिये, क्योंकि यह उसके हाथकी बात है और यही उसका कर्तव्य है। इसपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब फल अपने हाथमें नहीं है, तब कर्म ही क्यों किया जाय? चुपचाप बैठे रहनेसे भी जो होना होगा सो हो ही जायगा।' इसीलिये भगवान्ने पहलेसे सावधान कर दिया कि 'कर्म त्यागकी ओर तेरा मन नहीं लगना चाहिये,' क्योंकि कर्ममें तेरा अधिकार है। यद्यपि जगत्में सब कुछ भगवान्की इच्छासे ही होता है, उन लीलामयकी ही सारी लीला है, परंतु वे मनुष्यको निमित्त बनाते हैं—इसीलिये उसे कर्मका अधिकार दिया गया है। कौरवोंको भगवान्ने पहलेसे ही मार रखा था, विराट्स्वरूपमें अपनी विकराल दाढ़ोंमें सबको चूर्ण अवस्थामें दिखला भी दिया; अर्जुन निमित्त न बनते, तब भी उनका संहार होता ही, परंतु अर्जुनको निमित्त बनाकर ही भगवान्ने उनका संहार करवाया अतएव मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिये, परंतु फलकी आशासे नहीं। अवश्य ही कर्म बिना उद्देश्यके नहीं होता, इसलिये मनुष्यके कर्ममें भी कोई उद्देश्य या लक्ष्य रहेगा। व्यापारमें धन मिले, युद्धमें जय हो,

दवासे रोग नष्ट हो, यह उद्देश्य व्यापार, युद्ध और औषध-सेवनमें है, कर्मकी सफलताकी ओर दृष्टि है, परंतु वास्तवमें फल कुछ भी हो, धन मिले या न मिले; जय हो या पराजय हो, रोग दूर हो जाय या बढ़ जाय, उसका उसमें समान भाव है; क्योंकि वह आसक्ति और कामनाके वश होकर कर्म नहीं करता, उसके कर्ममें इन कामनाओंकी प्रेरणा नहीं है, उसके कर्म-प्रेरक भगवान् हैं, वह भगवान्की पूजाके लिये ही स्वकर्म या स्वधर्मका पालन करता है। उसका राज्य-ग्रहण या संन्यास दोनों भगवान्के लिये ही होते हैं। सब प्रकारकी आसक्ति, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर भगवान्के साथ योगयुक्त होकर कर्म करना ही गीतोक्त कर्मयोग है। इसमें भगवान्का ज्ञान है, भगवान्की भक्ति है और फलमें सर्वथा समत्व है। इसीलिये भगवान्ने आरम्भमें ही कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धमें प्रवृत्त हो; ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।'

ऐसा न करनेसे पापकी सम्भावना है; क्योंकि कामना और आसक्तिके वश होकर केवल फलानुसंधानमें लगे रहकर कर्म करनेसे धर्म और ईश्वरका ध्यान छूट जाता है। जिससे मनुष्य आरम्भमें विश्वहित या देशहित आदि उत्तम उद्देश्य होनेपर भी काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदिके अधीन होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और आसुरी भावके साम्राज्यमें पहुँचकर दुःखोत्पादक अशुभ कार्य करता हुआ नरकका भागी होता है।

भगवान्ने आसुरी भावका वर्णन करते हुए कहा—आसुरी भाववाले लोग कहते हैं कि 'जगत् आश्रयरहित है, इसके मूलमें कोई सत्य नहीं है, ईश्वर भी नहीं है, परस्परके काम-सम्बन्धसे ही सृष्टि हुई है' (प्रकृतिसे ही सब आप ही बन गया है), इस प्रकारकी नास्तिक दृष्टिको आधार बनाकर वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, अत्याचारी मनुष्य जगत्का ध्वंस करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। उनकी कामना किसी प्रकारसे पूरी नहीं होती। वे दम्भ, मान और मदसे पूर्ण हुए मोहवश असत् सिद्धान्तोंको ग्रहण कर हीन, अपवित्र निश्चयों और कार्योंको लेकर ही जगत्में बुरे आदर्शोंका प्रचार करते हुए विचरते हैं। उनकी भोग-चिन्ताओंका कोई पार नहीं, अशेष विषय-चिन्ताओंमें डूबे हुए ही वे मरते हैं। कामोपभोगके सिवा और कुछ नहीं है, यही उनका निश्चित मत है। वे सैकड़ों आशारूपी फाँसियोंमें बँधे हुए, काम-क्रोधपरायण, केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये अन्यायपूर्वक भोगपदार्थोंके संचय करनेमें लगे रहते हैं। आज यह मिला, अब वह मिलेगा; अभी मेरे पास इतना धन है, आगे और भी धन होगा; आज उस शत्रुको मारा है, अब उन शत्रुओंका काम तमाम करूँगा; मैं ऐश्वर्यवान् हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा। इस प्रकारके अज्ञान-विमोहित, अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे सदा भ्रमित चित्तवाले, मोहजालमें फँसे और कामोपभोगमें आसक्त मनुष्य महान् क्लेशमय अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।

आजके कर्मवादके पीछे पागल जगत्के लोगोंमें प्रायः इन्हीं लक्षणोंकी प्रधानता मिलेगी। ईश्वर और धर्मके बहिष्कार या विनाशकी दर्पपूर्ण कर्म-चेष्टा, ईश्वर और धर्मके नामपर

भोगसुख प्राप्त करनेका दम्भपूर्ण प्रयत्न, व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रोंमें परस्पर विनाश करनेकी हिंसामयी नीति, यूरोपके द्वेष-लोभपूर्ण गत दो भीषण महायुद्ध और आगामी विश्वव्यापी महायुद्धका अणु तथा हाइड्रोजन बम आदिके निर्माणरूपमें वर्तमान उद्योगपर्व, अंदरसे द्वेषपरवश हो बल बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहनेपर भी ऊपरसे मैत्री और शस्त्रसंन्यासकी पाखण्ड भरी बातें, दबे हुएको दबाने और उठते हुएको गिरानेकी अभिमानपूर्ण क्रिया, प्राकृतिक अमिट भेदमें अभेद-स्थापनकी और नित्य अचल अभेदमें भेद-स्थापनकी अज्ञानमयी चेष्टा, पुरातनको सर्वथा मिटाकर नवीन शृंखलाविहीन जीवनकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न, अपनेसे भिन्न मत रखनेवालोंको गिराने तथा नष्ट करनेकी कोशिश, परलोक, प्रारब्ध, ईश्वर और सदाचारकी कुछ भी परवा न कर केवल भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मर्यादारहित मनमाना आचरण आदि कार्योंसे इसका पूरा परिचय मिल जाता है। इसमें उनकी नीयतका दोष नहीं है, वस्तुतः ईश्वरको भुलाकर केवल इहलौकिक सुखकी प्राप्तिके हेतुसे, भोग-पदार्थोंके संग्रहके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है। इसीलिये यह समझ लेना चाहिये कि गीताका कर्मयोग ईश्वररहित और आसक्ति तथा कामनायुक्त कर्मवाद नहीं है। गीताका कर्मयोग इससे बिलकुल अलग है। वहाँ तो अर्जुनको भगवान्ने (गीता ३।३० में) स्पष्ट आज्ञा दी है—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'अर्जुन! तू मुझमें संलग्न किये हुए चित्तसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके आशारहित और ममतारहित होकर एवं मनस्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर।'

युद्ध करनेकी आज्ञा है, परंतु न राज्यमें ममत्व रहे, न विजयकी आशा रहे और न अभावजनित संतापसे चित्त जले। चित्त भगवान्‌में लगा है और उन्हींके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रेरणासे निष्कामभावसे युद्ध हो रहा है। इस गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना कैसे की जा सकती है?

यह सत्य है कि गीता जिस प्रकार ज्ञानकी अवहेलना नहीं करती, इसी प्रकार संसारकी और सांसारिक कर्तव्यकर्म, जीविका, कुटुम्ब-पालन, माता-पिताकी सेवा, जाति-सेवा, देश-सेवा, आर्त-सेवा, मानवीय अधिकार और धर्मके लिये युद्ध, दुर्बल-रक्षा, अत्याचारीका दमन, अन्यायका विरोध, परोपकार अथवा वर्णाश्रम-धर्मका यथाविधि पालन आदि किसी भी नैतिक धर्मका किंचित् भी विरोध नहीं करती, प्रत्युत इनके लिये उत्साहित करती है और स्वधर्म-पालनके लिये क्षत्रिय अर्जुनको हँसते-हँसते जीवनकी बलि चढ़ा देनेतकके लिये आज्ञा करती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'तुम आत्माके अमरत्व और सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभावको मनमें रखकर, भगवान्‌को समझकर, भगवान्‌के लिये वीरकी भाँति युद्ध करो, रणक्षेत्रमें वीरगतिको प्राप्त करो या वीरकी तरह विजय-लाभ करो; परंतु मनमें आसक्ति, कामना, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आशा आदि न रखो।' कर्तव्य-कर्मके लिये मर मिटनेका कितना ऊँचा मार्मिक उपदेश है! आधुनिक कर्मवादसे यह क्षत्रिय-धर्म भी कितना ऊँचा है!

जगत् त्रिगुणात्मक है, इसमें निरन्तर तीनों गुणोंके ही कार्य हो रहे हैं। इनमेंसे जब जिस गुणकी प्रधानता होती है, तब उसके कार्यका रूप भी वैसा ही होता है। यह सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वभावत: अधोगामिनी है, निरन्तर ऊपर उठनेकी चेष्टा न की

जाय तो स्वभावसे पतन ही होता है। सत्त्वगुणसे भी यदि ऊपर चढ़नेकी, गुणातीत होनेकी चेष्टा न होगी तो सत्त्व रजोमुखी होकर रजोगुणप्रधान और क्रमशः तमोमुखी होकर तमोगुणकी प्रधानताके रूपमें परिणत हो जायगा। सत्त्व और रज दबकर तम विकसित हो उठेगा। अतएव यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कर्ममें भगवान्‌की ओर दृष्टि और भगवान्‌का आश्रय नहीं है, जो केवल इहलौकिक विषय-लाभकी दृष्टिसे किया जाता है, वह सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्रमशः रजोगुणकी ओर बढ़कर रजःप्रधान हो जाता है। रजोगुणकी वृद्धि होनेपर किन-किन लक्षणोंका उदय होता है? श्रीभगवान् कहते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

(गीता १४। १२)

'अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, कर्मोंका (अनेकमुखी) आरम्भ, चित्तकी चंचलता, विषय-भोगोंके प्राप्त करनेकी स्पृहा—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त रजोगुणी कर्मोंके कर्ताका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥

(गीता १८। २७)

'वह कर्म और फलमें आसक्तिवाला, फल चाहनेवाला लोभी, हिंसक, अपवित्र आचरण करनेवाला और हर्ष-शोकमें डूबा रहनेवाला होता है।'

आधुनिक कर्मवाद और कर्मवादियोंमें ये लक्षण प्रायः पूर्णरूपसे चरितार्थ होते हैं। अवश्य ही मोह, अप्रवृत्ति, आलस्य

और प्रमादमय तामसिक जीवनसे यह जीवन कहीं श्रेष्ठ है, परंतु यह आदर्श नहीं है। रजोगुण सत्त्वमुखी न होगा तो तमोमुखी हो जायगा और अन्तमें तमोगुणकी प्रधानताका रूप धारण कर लेगा। किसी समय भारतवर्षमें भी जन्म, कर्म-फलप्रद भोगैश्वर्य गतिकी प्राप्तिके लिये कर्मकाण्डकी प्रचुरता थी, यद्यपि भारतका वह कर्मकाण्ड आधुनिक नास्तिकतापूर्ण कर्मवादसे बहुत ही ऊँचा था, तथापि उसमें लौकिक कामना और आसक्ति होनेके कारण वह कर्मप्रवृत्ति भी अन्तमें तमोमुखी हो गयी। भारतकी आजकी तामसिकता, उसका मोह और आलस्यमय जीवन इसीका परिणाम है, इसीलिये भगवान्‌ने घोषणा की थी कि 'भोगैश्वर्यमें आसक्तिवाले पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती।' परंतु गीतोक्त कर्मयोगी भोगैश्वर्यमें आसक्त नहीं होते। वे न तो भोग-सुखकी स्पृहा करते हैं और न वैध भोगका अकारण विरोध ही करते हैं।

भगवान्‌ने उनके विषयभोगकी व्याख्या करते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, जिसमें राग और द्वेष नहीं है, वह पुरुष अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है। उस (विमल) प्रसादसे समस्त दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि (एक परमात्मामें) शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।'

मन और इन्द्रियोंका गुलाम होकर विषयोंकी आसक्तिसे नहीं, प्रत्युत मन और इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर यथावश्यक ऊपर उठानेवाले विषयोंका सेवन करनेवाला पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है। इसीलिये गीताके कर्मयोगकी शिक्षामें कामोपभोगकी अनित्यता, सुख-दुःखकी क्षणभंगुरताका बार-बार वर्णन आता है और विषयोंसे मन हटाकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक कामना और फलासक्ति शून्य हृदयसे कर्म करनेकी आज्ञा दी जाती है। भगवान् कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ६०-६१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। ११-१२)

'अर्जुन! प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं। अतएव इन इन्द्रियोंको वशमें करके मनको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाना चाहिये। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले

ये जो सब भोग हैं, वे (मोहवश सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः) निःसन्देह दुःख ही उत्पन्न करते हैं और सदा एक-से नहीं रहकर—कभी उत्पन्न होने और कभी नाश होनेवाले आदि-अन्तरूप हैं, अतएव बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता। इसलिये (ममत्वबुद्धिरहित) निष्काम कर्मयोगी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं, इसीसे वे परमात्मामें चित्त लगाये हुए कर्मयोगी पुरुष कर्मफलको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होते हैं। विषयचिन्तनमें लगा हुआ सकामी पुरुष फलासक्तिके कारण कामनाके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि हुए बिना भगवत्-भाव नहीं होता। भगवत्-भावकी प्राप्ति बिना शुद्ध भगवत्-प्रेरित कर्म नहीं हो सकते! इसलिये कर्मयोगी पहले भगवत्-भावकी प्राप्तिके लिये और भगवत्-भावकी प्राप्ति होनेपर केवल भगवान्‌की प्रेरणावश यन्त्रकी भाँति कर्म करता है। उस समय वह कर्मके बाह्य स्वरूपको न देखकर—अर्जुनकी भाँति गुरु-वध, स्वजन-वध, भीषण हिंसा आदिकी बात न सोचकर—केवल भगवान्‌की प्रेरणाको देखता है। भगवान् ही उसकी गति, नीति, उद्देश्य, जीवन और धर्म होते हैं। भगवान्‌के साथ युक्त होकर भगवदीय कर्म करना ही उसका स्वभाव होता है। यही गीताकी अन्तिम शिक्षा है।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंके वशमें होकर, भोग-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे मनमाना करते हुए मनुष्य उसे ईश्वरकी प्रेरणा समझने या कहने लगे। श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए मनुष्यके अन्तःकरणमें जो शुद्ध स्फुरणा हो,

और जिससे इन्द्रियभोग-लालसा और कामनाका क्रमशः दमन होता हो, जो शास्त्रोक्त कर्म हो—पहले-पहल ऐसे ही शुभकर्मोंकी प्रेरणाको भगवत्-प्रेरणा समझे। साधना करते-करते भगवत्प्रेरणाकी स्पष्ट अनुभूति होने लगेगी। इसीलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः अर्जुन-जैसे योग्य अधिकारीके लिये है। परंतु वह अधिकार भी गीताकी शरण, गीताका अध्ययन और मनन एवं गीताके उपदेशानुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे ही प्राप्त होगा। इसलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः इन्द्रिय-संयमी, तपस्वी भक्त अधिकारीके लिये होते हुए भी साधारणतः सभीके लिये है। अनधिकारके कारण ही गीताका दुरुपयोग होता है और इसीसे आधुनिक कर्मवादकी सिद्धि या उसका समर्थन गीताके द्वारा करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है।

गीताका कर्मयोग शुद्ध भगवदभिमुखी है और आधुनिक कर्मवाद केवल भोगाभिमुखी, यही इनमें सबसे बड़ा अन्तर है। भोगाभिमुखी होनेके कारण ही इसमें राग, द्वेष, घृणा, काम, क्रोध और पाप, ताप आदिका प्राबल्य है और इसीलिये ऐसे कर्मवादियोंकी यह समझ है कि बिना कामनाके कर्म कैसे हो सकता है? बिना राग-द्वेषके कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी? यदि फलकी ही इच्छा नहीं है तो कर्ममें बेगारके भावको छोड़कर उत्साह होगा ही क्यों? भोगाभिमुखी रजोगुणी कर्मप्रवृत्तिमें आसक्ति, कामना, क्रोध, द्वेष, राग, घृणा आदि दोष रहते हैं, इसीसे ऐसी समझ बन गयी है; परंतु जिसमें सत्त्वगुणका प्रकाश हो गया है, जिनकी बुद्धि परमात्माभिमुखी है—वे भगवान्‌के लिये कठोर-से-कठोर कर्म करनेमें भी सात्त्विक उत्साह पाते हैं। मजा यह कि फलकी आसक्ति या राग-द्वेषपूर्वक होनेवाले कर्ममें कर्म करते समय कामना, आशंका, भय, उद्वेग, चंचलता आदिके

कारण मार्गच्युत होनेका जो डर रहता है और फलके अनुकूल न होनेपर जो विषाद होता है, वह गीतोक्त कर्मयोगीको नहीं होता। वह तो अनुकूल-प्रतिकूल फलको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पणकर, यन्त्रीके यन्त्रकी भाँति नित्य नये उत्साह और आनन्दके साथ स्वामी या प्रियतम प्रभुका कार्य करते-करते कभी थकता ही नहीं; क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु उसे अनवरत शक्ति प्रदान करते रहते हैं, वह चलता ही प्रभुकी शक्तिसे है, अपना अहंकार उसे कभी नहीं होता। वह कभी मार्ग नहीं भूलता; क्योंकि उसे निरन्तर प्रभुसे प्रकाश मिलता रहता है। प्रभुके नित्य चिन्तनसे उसके हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति सदा जगमगाया करती है। वह कभी मनमानी वस्तु पाकर या सफलतासे प्रमत्त होकर कर्तव्यच्युत नहीं होता; क्योंकि कोई नयी वस्तु पानेके लिये उसके मनमें अभिलाषा ही नहीं रहती। वह तो प्रभुका सेवक है, व्यापारी नहीं! भगवान्‌की शक्तिसे उसकी शक्ति, भगवान्‌के ज्ञानसे उसका ज्ञान, भगवान्‌के प्रेमसे उसका प्रेम, भगवान्‌की दिव्य बुद्धिसे उसकी बुद्धि सदा शक्ति, ज्ञान, प्रेम और विवेक पाती रहती है। अतएव वह कर्मयोगी अत्यन्त कुशलता, अदम्य उत्साह, अतुल तेज, अमल विवेक, अपार शान्ति, अमित आनन्द और अलौकिक प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ भगवान्‌के लिये सदा उल्लाससहित कर्म किया करता है। वह कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वको समझकर ही कर्म करता है, इससे उसके कर्ममें ज्ञान, भक्ति और समता—तीनोंका संयोग रहता है, जो आसक्ति, कामना, राग-द्वेषादि वैरियोंके वशमें होकर बिना जीते हुए मन-इन्द्रियोंसे कर्म करनेवाले कर्मवादीके लिये कभी सम्भव नहीं है। सात्त्विक कर्ताका लक्षण भगवान् बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(गीता १८। २६)

'आसक्तिसे रहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।' गीताने तो इस सात्त्विकतासे भी ऊपर उठनेका आदेश किया है; क्योंकि सत्त्वगुण भी जीवको बाँधता है। (यद्यपि सत्त्वगुणका बन्धन जाग्रत् और प्रयत्नशील रहनेपर बन्धन काटनेवाला ही होता है।) इसीसे भगवान्ने कहा है—'**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**' 'अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा।' गीताके कर्मयोगीके द्वारा फलाभिसन्धि न होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं। इस बातको भगवान्ने तीसरे अध्यायमें स्वयं अपना उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है और निरन्तर निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है। एवं अन्तमें उस निष्कामकर्मसे ही शाश्वत पदकी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(१८। ५६-५७)

'मेरा आश्रयी होकर निष्कामकर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ ही मेरी कृपासे सनातन अव्यय पदको प्राप्त करता है। अतएव सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो समत्व बुद्धिरूप कर्मयोगका अवलम्बन करके (अर्जुन!) तू निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

जो लोग वास्तवमें कर्मयोगका आश्रय लेकर भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए ही भगवान्‌के आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका—स्वधर्मका आचरण करें। भगवान्‌ने गारंटी देते हुए कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'अर्जुन! इसलिये सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध (स्वधर्म-पालन) कर। इस प्रकार युद्धमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे तू निःसन्देह मुझको प्राप्त होगा।'

ऐसे ही मनसे भजन करते हुए भगवदर्थ कर्म करनेवाले योगियोंको भगवान्‌ने सबमें श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें अन्तरात्माको लगाकर निरन्तर मुझे भजता है, वही योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है।'

गीताके इस निष्कामकर्मयोगसे, आधुनिक राग-द्वेषपूर्ण और कामनामय कर्मवादमें कितना महान् अन्तर है, ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठक इसको समझ गये होंगे।

‘धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन’

भारतवर्ष धर्मप्राण तथा आध्यात्मिक देश है। उसके प्रत्येक विचार तथा कार्यका धर्मसे सम्बन्ध है तथा धर्मका लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार या ‘भगवत्प्राप्ति’। इसलिये उसके जीवन-निर्वाहके सभी कार्य धर्मसंगत होते हैं। इस धर्ममें भौतिकताका बहिष्कार नहीं है। ‘अर्थ’ और ‘काम’ भी आवश्यक पुरुषार्थ हैं, पर वे होने चाहिये—‘धर्म’ नियन्त्रित और उनका लक्ष्य भोग न होकर होना चाहिये—‘मोक्ष’। इसीलिये पुरुषार्थ-चतुष्टयमें ‘अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष’ चारोंको स्थान है। इन चारोंकी जिसमें उपर्युक्त रूपमें—सर्वभूतहित-साधनके रूपमें सिद्धि होती हो वही ‘धर्म’ है।

‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।’

जिससे अभ्युदय (सर्वप्रकारके श्रेष्ठ लौकिक बल-वैभव) तथा निःश्रेयस (मोक्ष)-की सिद्धि होती हो, वह धर्म है। अतएव जहाँ सर्वभूतहितके लिये, समष्टिके लाभके लिये युद्धकी आवश्यकता हो, वहाँ युद्ध भी धर्म है। जो युद्ध दूसरेके स्वत्वका अपहरण करनेके लिये हो, शत्रुभावको लेकर किसीका अहित करनेके लिये हो, द्वेषपूर्ण हिंसावृत्तिसे हो, क्रोध या लोभके आवेशमें अविवेकपूर्ण हो एवं जगत्‌में कामोपभोग-परायणतारूप आसुरी सम्पत्तिकी वृद्धिके लिये हो, वह युद्ध धर्म नहीं है। इसके विपरीत जो सबके हितके लिये हो, धर्म और न्यायके विस्तारके लिये हो, दैवी सम्पदारूप धर्मकी सुरक्षाके लिये हो, वैर तथा द्वेषरहित अहिंसावृत्ति (शरीरके किसी अंगसे विषपूर्ण मवाद निकालकर उसे शुद्ध करनेके लिये ऑपरेशनकी भाँति)-से हो—वह युद्ध धर्म है और उसीका नाम ‘धर्मयुद्ध’ है।

अर्जुन धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना चाहते थे; परंतु दोनों ओर सेनामें अपने कुटुम्बी स्वजनोंको देखकर शोकाकुल हो गये और धनुष-बाण छोड़कर रथमें एक किनारे बैठ गये। उस समय भगवान्ने उनसे कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मां स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

(गीता २। २-३)

विषमस्थलमें उपजा कैसे तुममें अर्जुन! यह व्यामोह।
जो अनार्य-सेवित, अस्वर्गद, है अकीर्तिकारी संदोह॥
नहीं तुम्हारे योग्य नपुंसकता यह, करो न तुम स्वीकार।
तुच्छ हृदयकी दुर्बलता तज, उठो, युद्ध कर अङ्गीकार॥

'अर्जुन! इस विषमस्थलमें तुममें यह मोह कैसे आ गया? यह न तो (आर्य) श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित है, न स्वर्गप्रद है और न कीर्ति करनेवाला ही है। पार्थ! इस नपुंसकताको छोड़ो, यह तुम्हारे योग्य नहीं। तुम शत्रुको तपानेवाले वीर हो, हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका परित्याग करके युद्धके लिये उठकर खड़े हो जाओ।'

फिर सब प्रकारसे आत्माकी अमरता समझाते हुए भगवान् बोले—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(गीता २। १८-१९)

अप्रमेय अविनाशी है यह हे भारत! जीवात्मा नित्य।
युद्ध करो, तुम जान सभी उसके देहोंको अथिर अनित्य॥
मरने और मारनेवाला आत्माको जो लेता मान।
नहीं मारता न मारा जाता यह, वे इससे हैं अनजान॥

'अर्जुन! आत्मा नाशरहित है, अप्रमेय है और नित्य है एवं उसके जितने ये शरीर हैं—सभी नाश होनेवाले हैं (इनके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता)। अतएव तुम युद्ध करो। इस आत्माको जो मारनेवाला मानता है और जो मरा मानता है, वे दोनों ही इसका स्वरूप नहीं जानते। वस्तुतः यह आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है।'

फिर व्यावहारिक धर्ममें भी तुम क्षत्रिय हो, अतएव—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३१—३३)

अपना धर्म देखकर भी मत होओ तुम कम्पित, हे पार्थ!
नहीं श्रेय कुछ भी क्षत्रियके लिये युद्धके सिवा यथार्थ॥
खुला तुम्हारे लिये वीरवर! स्वर्गद्वार यह अपने-आप।
सुख सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते ऐसा युद्ध अपाप॥
अगर करोगे नहीं कदाचित् तुम यह परम धर्म-संग्राम।
खो करके निज धर्म, सुयश, तुम लोगे पाप बटोर तमाम॥

'अपने धर्मकी ओर देखकर भी तुम्हें युद्धसे काँप जाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर अन्य कुछ भी

कल्याणकारक नहीं है। हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए ऐसे खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप (पापरहित) युद्धको सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं। अतएव यदि कदाचित् तुम इस धर्मयुद्धको नहीं करोगे तो तुम स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होओगे।' इतना ही नहीं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

(गीता २। ३४—३६)

तब फिर गायेंगे जगमें सब सदा तुम्हारी अमिट अकीर्ति।
सम्मानितके लिये मरणसे भी बढ़कर होती अपकीर्ति॥
महारथी मानेंगे तुमको भयवश हुए समर उपराम।
जिनमें हो बहुमान्य, उन्हींमें होगा तुच्छ तुम्हारा नाम॥
निन्दा शत्रु करेंगे तव सामर्थ्य शक्तिकी कुवचन बोल।
उससे बढ़कर होगा क्या फिर दुःख तुम्हारे लिये अतोल॥

'सब लोग तुम्हारी कभी नष्ट न होनेवाली अकीर्ति किया करेंगे (अर्जुन कायर था, यह अकीर्ति सदा लोगोंके कहनेकी वस्तु बनी रहेगी) और सम्मान्य पुरुषके लिये ऐसी अकीर्ति मृत्युसे भी बढ़कर (दुःखदायिनी) होती है। आज जिन लोगोंमें तुम बहुत माननीय हो, उन्हींकी दृष्टिमें तुम्हारी तुच्छता होगी और वे महारथी लोग यही मानेंगे कि अर्जुन भयके कारण युद्धसे भाग खड़ा हुआ। तुम्हारा अहित चाहनेवाले लोग तुम्हारी शक्तिसामर्थ्यकी निन्दा करते

हुए न कहनेयोग्य बहुत-सी बातें कहेंगे। इससे बढ़कर तुम्हारे लिये (अतुल) दुःख और क्या होगा?'

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(२।३७)

मर जानेपर स्वर्ग मिलेगा, जीतोगे पाओगे राज।
उठो अतः कौन्तेय! युद्धका मनमें करके निश्चय आज॥

'अतएव कौन्तेय! तुम युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके खड़े हो जाओ। युद्धमें मृत्यु हो जायगी तो स्वर्गको प्राप्त होओगे और जीत जाओगे तो पृथ्वीका भोग करोगे।'

परंतु यदि भौतिक सुख-राज्यलाभ या विजयकी प्राप्तिके लिये ही युद्ध किया जाता है तो आसक्ति, ममता तथा कामना रहनेके कारण मनुष्य आसुरी भावापन्न होकर जीवनके असली लक्ष्यको भूल जाता है और ऐसे पाप-कर्म कर बैठता है जो भविष्यमें उसके बन्धन तथा भयानक दुःखके हेतु होते हैं। अर्जुन इसी पापसे डर रहे थे। अतः युद्ध करके भी वे पापसे बचे रहें, हिंसाकर्म भी अहिंसामय हो जाय, भगवान् इसका उपाय बतलाते हुए कहने लगे—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

विजय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख मानकर एक समान।
फिर रणमें प्रवृत्त होनेपर पाप न होगा रंचक मान॥

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख परिणाममें जो भी प्राप्त हो, उसमें समान बुद्धि रखकर, फिर युद्धमें प्रवृत्त होओ। ऐसा करनेपर (रंचकभर भी) पाप नहीं होगा।'

कोई भी कर्म जब आसक्ति तथा फल-कामनासे रहित होकर

किया जाता है तो वह 'योग' बन जाता है और उस निष्काम कर्मयोगका फल मोक्ष ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारके मोक्ष-साधनरूप कर्मका निर्देश करते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

तज आसक्ति, योगस्थित होकर करो धनंजय कर्म विनीत।
हो समबुद्धि असिद्धि-सिद्धिमें फलसमत्व ही योग पुनीत॥

'धनंजय! कर्म तथा फलकी आसक्तिको त्यागकर एवं सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न होकर तथा योगस्थ होकर—भगवान्के साथ जुड़कर (विनीत भावसे) कर्म करो। यह फलमें 'समत्वभाव' ही (पवित्र) योग है।'

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(३।३०)

मुझमें चित्त जोड़ सब कर्मोंका कर मुझमें ही संन्यास।
युद्ध करो तुम, तजकर ममता, कामज्वर, भोगोंकी आस॥

'तुम मनको मुझमें जोड़े हुए जो कुछ भी कर्म करो, किसी फलके लिये न करके उन सब कर्मोंका मुझमें भलीभाँति त्याग करते रहो। (मेरे लिये ही कर्म करो।) और भोगोंकी सारी आशा, लौकिक प्राणिपदार्थोंकी ममता और कामना आदिसे होनेवाले सारे मानस-तापोंको त्यागकर युद्ध करो।'

इस प्रकार युद्ध भी एक परम उच्चकोटिकी आध्यात्मिक साधना बनकर मनुष्य-जीवनको उसके चरम तथा परम फल 'भगवान्की प्राप्ति' कराकर सार्थक कर देता है। भगवान् फिर अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८।७)

इससे स्मरण करो तुम मेरा सभी समय, फिर करो, सुयुद्ध।
अर्पित कर मन-बुद्धि, मुझे निश्चय ही पाओगे हो शुद्ध॥

'इसलिये तुम सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण करो और (पवित्र) युद्ध करो। यों मन-बुद्धि मुझमें (भगवान्‌में) अर्पण कर देनेपर तुम निस्संदेह मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त होओगे।'

यों भगवान्‌में मन-बुद्धि लगा देनेपर भगवान्‌की कृपासे सहज ही सारे विघ्न हट जाते हैं। भगवान्‌ने यह समझाते हुए गीताके उपदेशका उपसंहार करनेके प्रसंगमें कहा—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥

(१८।५८)

हो मच्चित्त, तार देगी सब दुर्गोंसे मम कृपा अनन्त।
नहीं सुनोगे अहंकारवश, तो होओगे नष्ट तुरन्त॥

'मुझको चित्त सौंपकर मेरे चित्तवाले बन जाओ। फिर मेरी कृपासे तुम (अनायास ही) सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे। परंतु यदि तुम अहंकारवश मेरी बातें नहीं सुनोगे, मेरे कथनानुसार आसक्ति-ममता-कामना तथा वैर-हिंसाका त्याग करके युद्ध नहीं करोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे (श्रेय-मार्गसे गिर जाओगे)।'

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(१८।५९)

'नहीं करूँगा युद्ध'—अगर तुम अहंकारवश लोगे मान।
मिथ्या यह मान्यता, तुम्हें रणमें जोड़ेगी प्रकृति महान॥

'तुम अहंकारवश भले ही यह मानते रहो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' पर तुम्हारा यह निश्चय—यह मान्यता ही मिथ्या है। तुम्हारी प्रकृति (स्वभाव) ही तुम्हें युद्ध करनेके लिये बाध्य करेगी। अर्थात् तुम्हें युद्ध तो करना ही पड़ेगा, परंतु वह कामना-आसक्ति तथा वैर-विरोधयुक्त युद्ध धर्मयुद्ध न होनेसे तुम्हारा पतन करा देगा।'

कर्तव्यरूपसे प्राप्त कोई भी कर्म बुरा नहीं है, बुरी है अपनी आन्तरिक बुरी भावना। संसारके समस्त भूत-चराचर भगवान्‌के ही रूप हैं, यह समझकर उनके हितके लिये यथासमय यथायोग्य कर्म किया जाय तो प्रत्येक कर्म भगवान्‌की पूजा बन जाता है और वह जीवनको सफल कर देता है। इसलिये भगवान् अर्जुनको उपदेश करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

जिससे जीव सकल निकले हैं, जो सबमें रहता है व्याप्त।
मनुज पूज उसको स्वकर्मसे होता परम सिद्धिको प्राप्त॥

'जिससे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे यह सारा जगत् (बर्फमें जलकी भाँति) व्याप्त है, उस भगवान्‌को अपने-अपने कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

यह है भगवान्‌के द्वारा की हुई धर्मयुद्धकी व्याख्या तथा उसमें प्रवृत्त होनेके लिये अर्जुनको आज्ञा। इस कठोर कर्ममें भी हृदयकी विनम्रता है, शारीरिक हिंसामें भी यह मानस

अहिंसा है; क्योंकि यह सर्वभूत-हितकी भावनासे ओतप्रोत त्यागमयी भगवत्पूजा है; स्वार्थवश होनेवाला काम्यकर्म नहीं। आसक्ति-कामना, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध-हिंसा-अज्ञान आदि दुर्गुणों तथा दुर्विचारोंसे तथा कामोपभोग-परायणतासे युक्त आसुरी सम्पदा ही बन्धनका कारण होती है और भगवत्पूजारूप कर्मनिष्ठामयी दैवी सम्पत्ति मोक्षका कारण होती है। भगवान्‌ने कहा है—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

(१६।५)

और अर्जुन 'दैवी सम्पदाको प्राप्त पुरुष' है, यह भगवान्‌के श्रीमुखसे कहा है—

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥'

(१६।५)

दैवीसम्पत् प्राप्त पार्थ! तुम करो न बन्धनका कुछ शोक।

अर्थात् तुम्हारा बन्धन नहीं होगा। तुम चिन्ता मत करो और दैवी सम्पदाके २६ गुण* लक्षणोंमें अक्रोध, अहिंसा, अलोलुपता, निर्वैरता (अद्रोह) आदि गुणोंका समावेश है। अतएव अर्जुनको जिस धर्म युद्धमें भगवान्‌ने प्रवृत्त किया था—वह क्रोध, हिंसा, लोभ, वैर आदिसे रहित भगवत्पूजाके भावसे सम्पन्न था। ऐसा युद्ध भी परमार्थका परम साधन होता है। भारतीय आर्य-संस्कृतिकी यही विशेषता है कि इसमें प्रत्येक कर्म भगवत्पूजारूप बनकर भगवत्प्राप्ति करानेवाला बन जाता है। भारतीय संस्कृतिमें जीवमात्र भगवत्स्वरूप है, अतः जीवमात्रका हित-चिन्तन और हित-साधन उसका सहज स्वभाव होता है। इसीसे भारतका यह स्वाभाविक नारा है—

* देखिये श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १६ श्लोक १से ३।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सभीको कल्याणका साक्षात्कार हो और दुःखका भाग किसीको भी न मिले।'

यद्यपि आज भौतिक विज्ञानकी चकाचौंधमें सारा जगत् तथाकथित भौतिक प्रगतिके प्रवाहमें बह रहा है, सर्वत्र धर्मकी अवहेलना हो रही है। भारतवर्ष भी आत्मविस्मृत-सा होकर इसी प्रवाहमें बह जाना चाहता है। तथापि भारतके सर्वसाधारणमें स्वाभाविक ही परम्परागत यह चिरन्तन मान्यता अभी वर्तमान है कि 'अखिल विश्व एक ही प्रभुका पसारा या एक ही अविच्छिन्न आत्मस्वरूपमय है।' इसीसे आजका हमारा भारतीय शासन अभाग्यवश धर्म-निरपेक्ष होते हुए भी भारत समस्त विश्वमें शान्तिका अभिलाषी है। सबका कल्याण हो, सभीका हित हो, समस्त विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका विस्तार हो यही उसका स्वाभाविक उद्देश्य रहा है। इसीसे भारत न तो किसी परस्पर-विरोधी गुटमें शामिल हुआ और न किसीका विरोधी ही बना है। वह सर्वथा तटस्थ होकर सबका मित्र बना रहा तथा सबको अपना मित्र मानता रहा और चुपचाप अपने विकासके प्रयासमें लगा रहा। भारतके अधिकारियोंने यह सोचा ही नहीं कि हमपर भी कोई आक्रमण हो सकता है। कुछ बुद्धिमान् विज्ञ पुरुषोंने सावधान भी किया, परंतु उनकी बात समझमें नहीं आयी। इसीसे वे इस आवश्यक दिशामें प्रायः सर्वथा असावधान तथा अप्रस्तुत रहे। परंतु यह एक बड़ी भूल थी। किसीसे भी द्वेष न रहे, सबका हित-साधन हो, समस्त

विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका विस्तार हो—ये बहुत ही अच्छे, परम आदर्श, जीवनके स्वभाव बना लेनेयोग्य—पवित्रतम विचार हैं, परंतु इन विचारोंका पूर्ण सेवन, पालन, संरक्षण तथा विस्तार हो—इसकी सफलताके लिये भी, इसमें बाधा देनेवाली प्रबल आसुरी शक्तिके दमनके लिये सदा प्रस्तुत रहना आवश्यक है। आसुरी शक्तिके दमनमें ही उसका भी हित है। उसका दमन नहीं होगा और वह यदि बढ़ती चली जायगी तो उसका उत्तरोत्तर पापपूर्ण विस्तार होता जायगा, जो उसके लिये भी परिणाममें अत्यन्त घातक होगा। फिर जहाँ भौतिक राज्य-संचालनके द्वारा भगवत्पूजा करनी है, वहाँ उसकी सुरक्षाका प्रयत्न भी इस भगवत्पूजाका ही एक आवश्यक अंग है। इस आवश्यकतापर पूरा ध्यान न देने और इसपर अमल न करनेके कारण ही इस 'शान्तिप्रेमी' तथा 'विश्वमित्र' भारतपर बर्बरतापूर्ण आक्रमण करनेका चीनको दुस्साहस हुआ है। चीनके इस बढ़े रोगका नाश करके उसे नीरोग बनाकर उसका हित-साधन करनेके लिये आज भारतका यह परमावश्यक कर्तव्य हो गया है कि भारत अपना बल-विक्रम-शौर्य-वीर्य बढ़ाकर चीनकी भौतिक आसुरी शक्तिका ध्वंस कर दे और उसे भारतकी पवित्र भूमिसे ही नहीं, पवित्र बौद्ध-विहारस्थली तिब्बतसे भी बाहर निकाल दे। इसीमें उसका, भारतका और विश्वका हित है। चीनको ऐसी निर्दोष स्थितिमें पहुँचा देना आवश्यक है कि जिसे देखकर उसके तथा अन्य किसी भी राष्ट्रके मनमें कभी किसीपर भी अन्यायपूर्ण आक्रमण करनेकी कल्पना ही उत्पन्न न होने पाये।

भारत सदा ही शान्ति चाहता है, वह शान्ति ही चाहता

रहेगा। अब भी वह किसीपर आक्रमण करने नहीं गया था। उसे बलात् ही युद्धमें घसीटा गया है, पर जब घसीटा गया है, तब वह पराङ्मुख भी कैसे हो सकता है? और होना भी नहीं चाहिये।

परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल भौतिक बल-विक्रमसे ही काम नहीं चलेगा। सर्वत्र पूर्ण विजय प्राप्त करनेके लिये एक बहुत बड़े अमोघ साधनकी आवश्यकता है—वह है अध्यात्मबल—दैवी बल। श्रीरामचरितमानसमें राम-रावण-युद्धके प्रसंगमें भगवान् रामके द्वारा उस अध्यात्मबलका विजय-रथके रूपकमें बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है। भगवान् श्रीरामको रथरहित देखकर विभीषण अधीर हो जाते हैं। तब भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उपदिष्ट दैवी सम्पदाका ही यह रूपान्तरमात्र है। केवल भौतिक बल कहीं जीवन शक्तिशून्य उच्छ्वासमात्र होकर रह जाता है, कहीं उत्तेजनाकी भावमयी आँधीमें उड़कर वह नाशके पथपर ले जाता है तो कहीं

वह राक्षसी तामसबल बनकर यथार्थ कल्याणपथसे वंचित करके सर्वनाश कर देता है। अतएव बाहरी तैयारीके साथ ही उसके आधाररूपमें इस प्रकारकी एक धर्ममयी बलवती प्रेरणा होनी चाहिये, जिसका हमारी बाहरी रणनीति और रण-सज्जासे सदा सम्पूर्ण संयोग बना रहे और जो हमारे अंदर चिरकालीन पूर्ण विजयप्रदायिनी महान् सात्त्विक अमोघ शक्तिका स्रोत बहाती रहे। इसके लिये धर्म तथा शक्तिके मूल सर्वशक्तिमान् भगवान्का एकान्त आश्रय परम आवश्यक है। भगवदाश्रयका बल ही परम अजेय बल है। जहाँ असीम-शक्ति भगवान्का आश्रय होगा और बल-विक्रमके साथ धर्मयुद्धके लिये हम भलीभाँति प्रस्तुत होंगे, वहाँ निश्चय ही हमारी विजय होगी। और इस प्रकारसे प्राप्त हमारी 'पूर्ण विजय' का अर्थ होगा—दैवी सम्पत्तिकी विजय—भागवती शक्तिकी विजय। एवं इस दैवी सम्पत्ति—भागवती शक्तिकी पूर्ण विजयसे ही जगत्में सच्ची तथा दीर्घकालीन शान्तिकी स्थापना होगी।

दिव्य-दृष्टि प्राप्त संजयने गीताके अन्तमें कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(१८।७८)

'जहाँ कृष्ण योगेश्वर प्रभु हों, जहाँ धनुर्धारी हों पार्थ।
मेरे मतसे, वहाँ सदा श्री, विजय, भूति, ध्रुव नीति यथार्थ॥'

निष्काम कर्म

सारे संसारकी उत्पत्ति भगवान्से हुई है और भगवान् ही सारे जगत्में परिपूर्ण हैं, मनुष्य अपने कर्मोंद्वारा इन भगवान्की पूजा करके परमसिद्धिरूप भगवान्को सहज ही प्राप्त कर सकता है। जो जिस कार्यको करता हो, जिसका जो स्वाभाविक कर्म हो, उसीको करे; न तो सबके कर्म एक-से हो सकते हैं और न एक-सा बनानेकी व्यर्थ चेष्टा ही करनी चाहिये। नाटकमें सभी पात्र एक ही पात्रका पार्ट करना चाहें तो खेल बिगड़ जाय। अपनी-अपनी जगह सभीको जरूरत है और सभीका महत्त्व है। राजा और मजदूर दोनोंकी ही आवश्यकता है और दोनों ही अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। इसलिये कर्म न बदलो, मनके भावको बदल डालो। कर्मका छोटा-बड़ापन बाहरी है, महत्त्व तो हृदयके भावका है। ऊँच-नीचका भाव रखकर राग-द्वेषपूर्वक पराये अहितके लिये लोकदृष्टिमें शुभ कर्म करनेवाला नरकगामी हो सकता है, शास्त्रविधिके अनुसार किसी फलकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म करनेवाला ऐश्वर्य और स्वर्गादि विनाशी फलों और भोगोंको प्राप्त कर सकता है। और स्वार्थको सर्वथा छोड़कर निष्कामभावसे श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये भगवदाज्ञानुसार साधारण स्वकर्म करता हुआ ही मनुष्य परमसिद्धिरूप परमात्माको पा सकता है। मनुष्य इस प्रकार अपने प्रत्येक कर्मको मुक्ति या भगवत्प्राप्तिका साधन बना सकता है।

× × × ×

अतएव मनसे दम्भ, दर्प, अभिमान, मान, बड़ाई, काम, क्रोध, वैर, लोभ, असत्य, हिंसा आदि दोषों और दुर्गुणोंको निकालकर अथवा यथाशक्ति इन दोषोंका दमन करते हुए केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌की आज्ञा समझकर और भगवान्‌की सेवाके भावसे अपने-अपने कार्योंको करो। हर एक कर्मसे सदा सर्वत्र स्थित भगवान्‌की पूजा करो; याद रखो—जिस कर्ममें काम, क्रोध, लोभ आदि नहीं हैं, जिसमें भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी भी फलकी आकांक्षा नहीं है, जो कर्म कर्मकी अथवा फलकी आसक्तिसे नहीं, किंतु भगवान्‌के दिये हुए स्वाँगका खेल अच्छी तरह खेलनेकी इच्छासे निरन्तर भगवत्-स्मरण करते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ सात्त्विक उत्साहपूर्वक किया जाता है, उसी विशुद्ध कर्मसे भगवान्‌की पूजा होती है। यह पूजा अपने किसी भी उपर्युक्त दोषोंसे रहित विहित स्वकर्मके द्वारा प्रत्येक स्त्री-पुरुष सहज ही अपने-अपने स्थानमें रहते हुए ही कर सकता है। केवल मनके भावको बदलकर कर्मका प्रवाह भगवान्‌की ओर मोड़ देनेकी जरूरत है। फिर प्रत्येक कर्म तुम्हारी मुक्तिका साधन बन जायगा और अपने सहज कर्मोंको करते हुए भी तुम भगवान्‌को प्राप्त कर जीवनको सफल कर सकोगे।

× × × ×

यदि तुम व्यापारी या दुकानदार हो तो यह समझो कि मेरा यह व्यापार धन कमानेके लिये नहीं है, श्रीभगवान्‌की पूजा करनेके लिये है। लोभवृत्तिसे नहीं, जिन-जिनके साथ तुम्हारा व्यवहार हो उन्हें लाभ पहुँचाते हुए अपनी आजीविका चलाने-मात्रके लिये व्यापार करो। याद रखो—व्यापारमें पाप लोभसे ही होता है। लोभ छोड़ दोगे तो किसी प्रकारसे दूसरेका हक मारनेकी चेष्टा नहीं होगी। वस्तुओंका तौल-माप या गिनतीमें

ज्यादा लेना और कम देना, बढ़ियाके बदले घटिया देना और घटियाके बदले बढ़िया लेना, आढ़त-दलाली वगैरहमें शर्तसे ज्यादा लेना आदि व्यापारिक चोरियाँ लोभसे ही होती हैं। परंतु केवल लोभ ही नहीं छोड़ना है, दूसरोंके हितकी भी चेष्टा करनी है। जैसे लोभी मनुष्य अपनी दुकानपर किसी ग्राहकके आनेपर उसका बनावटी आदर-सत्कार करके उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं वैसे ही तुम्हें कपट छोड़कर ग्राहकको प्रेमके साथ सरल भाषामें सच्ची बात समझाकर उसका हित देखना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इस ग्राहकके रूपमें साक्षात् परमात्मा ही आ गये हैं, इनकी जो कुछ सेवा मुझसे बन पड़े वही थोड़ी है। यों समझकर व्यापार करोगे तो तुम श्रीभगवान्‌के कृपापात्र बन जाओगे और वह व्यापार ही तुम्हारे लिये भगवत्प्राप्तिका साधन बन जायगा।

× × × ×

यदि तुम दलाल हो तो दो व्यापारियोंको झूठी-सच्ची बातें समझाकर अपनी दलालीके लोभसे किसीको ठगाओ मत, दोनोंके रूपमें ईश्वरके दर्शन कर सत्य और सरल वाणीसे दोनोंकी सेवा करनेकी चेष्टा करो। याद रखो—अभी नहीं तो आगे चलकर तुम्हारी इस वृत्तिका लोगोंपर बहुत प्रभाव पड़ेगा। यदि न भी पड़े कोई हर्ज नहीं, तुम्हारी मुक्तिका साधन तो बन ही जायगा।

× × × ×

यदि तुम राजा या जमींदार हो तो जिस-किसी प्रकारसे कर या लगान आदि वसूल करके उसे मौज-शौकमें या अपनेसे ऊँचे शासकोंको खुश करनेमें खर्च करना छोड़ दो। अपनी प्रजाको—किसानोंको अपने ही परिवारके लोग समझकर उनके

सुख-दुःखका खयाल करो, दुःखमें उन्हें न सताओ, अपने खर्चमें कमी करके भी अनुचित लगान माफ कर दो। याद रखो—तुम्हारे या तुम्हारे किसी कर्मचारीके द्वारा गरीब प्रजाके किसी आदमीपर कोई जुल्म न होने पावे। गरीबोंका, स्त्रियोंका सम्मान और आदर करो तथा उनके बच्चोंपर अपने बच्चों-जैसा ही प्यार करो, उनके आशीर्वादसे तुम फलो-फूलोगे। तुम्हें भगवत्प्राप्ति करनी हो तो जमींदारीके द्वारा ही उसे भी कर सकते हो। उसका तरीका यह है कि प्रजाके स्त्री-पुरुषोंको अपने अन्नदाता श्रीभगवान्का स्वरूप समझो और अपने राजा या जमींदारके स्वाँगके अनुसार—जो भगवान्का ही दिया हुआ है—उनसे न्याय तथा सहजमें ही प्राप्त होनेयोग्य 'कर' उन्हें सुख पहुँचानेकी नीयतसे—उन्हींके पूजार्थ वसूल करो, तदनन्तर मेहनतानेके रूपमें उसमेंसे कुछ अंश अपने खर्चके लिये रखकर शेष सब सुन्दर तरीकेसे उन्हींकी सेवामें लगा दो। तुम्हें राजा या जमींदारका स्वाँग इसलिये दिया गया है कि तुम प्रजाका धन उनसे लेकर व्यवस्थापूर्वक उन्हींके हितके लिये खर्च करो। उनकी सँभाल, रक्षा और सेवाका काम तुम्हारे जिम्मे है। उन्हें सताकर मौज उड़ानेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। इससे तो उनके साथ ही तुम्हारा दुःख भी बढ़ेगा ही। यदि उन्हें भगवान्का स्वरूप समझकर अपनी योग्यताके अनुसार भगवान्की प्रीतिके लिये ही भगवदाज्ञानुसार उनपर शासन करोगे तो उसीके द्वारा तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

× × × ×

तुम हाकिम हो तो अपने स्वाँगके अनुसार दयापूर्ण न्याय करो, तुम्हारे इजलासमें कोई भी मुकदमा आवे तो उसे ध्यानसे सुनो, रिश्वत खाकर या अन्य किसी भी कारणसे पक्षपात और

अन्याय न करो। प्रत्येक न्याय चाहनेवालेको भगवान्‌का स्वरूप समझकर न्यायरूप सामग्रीसे उसकी पूजा करो, उसे न्यायप्राप्तिमें जहाँतक हो सहूलियत कर दो और सेवाके भावसे ही अपनेको मैजिस्ट्रेट या जज समझो, अफसर नहीं। तुम्हारी इसी निष्काम सेवासे भगवान्‌की कृपा होगी और तुम भगवत्प्राप्ति कर सकोगे। तुम वकील हो तो पैसेके लोभसे कभी अन्यायका पैसा मत लो, झूठी गवाहियाँ न बनाओ, किसीको तंग करनेकी नीयत न रखो। प्रत्येक मवक्किलको भगवान्‌का स्वरूप समझकर भगवत्सेवाके भावसे उचित मेहनताना लेकर उसका न्याय-पक्ष ग्रहण करो, तुम चाहो तो भगवान्‌की बड़ी सेवा कर सकते हो और सेवासे तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

× × × ×

तुम डॉक्टर या वैद्य हो तो रोगीको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उसके लिये सेवाके भावसे ही उचित पारिश्रमिक लेकर ओषधिकी व्यवस्था करो; लोभवश रोगीको सताओ नहीं। गरीबोंका सदा ध्यान रखो। तुम अपनी निःस्वार्थ सेवासे भगवान्‌के बड़े प्यारे बन सकते हो और भगवान्‌की प्राप्ति कर सकते हो।

× × × ×

तुम पुलिस-अफसर हो तो अपनेको जनतारूप भगवान्‌का सेवक समझो, किसीको न गाली दो; न सताओ; लोभ, घमंड, अभिमान या द्वेषवश किसीको कभी भूलकर भी व्यर्थ तंग न करो; सेवाके भावसे ही सारे कार्य करो।

तुम अपना सुधार करके इस प्रकार भगवत्सेवामें लग जाओ तो अपने इसी पुलिसके कामसे तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

× × × ×

तुम नेता या उपदेशक हो तो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा न चाहो— सच्चे अनुभवयुक्त मार्गपर लोगोंको लगाओ, दलबन्दी न करो, सम्प्रदाय न बनाओ। सबका हित हो वही कार्य अभिमान, लोभ और मान-बड़ाईकी इच्छा छोड़कर करो—तुम्हारी इसी सेवासे भगवान् प्रसन्न होकर तुम्हें अपना पद दे देंगे।

× × × ×

तुम मालिक हो तो नौकरोंको सताओ मत, अभिमानवश अपनेको बड़ा न समझो, अपने स्वाँगके अनुसार नौकरोंसे काम लो, परंतु मन-ही-मन उन्हें भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनके हितरूपी सेवा करनेकी चेष्टा करते रहो। मनसे किसीका तिरस्कार न करो। लोभवश किसीकी न्याय्य आजीविकाको न काटो। उनके भलेमें लगे रहो। इसीसे तुमपर भगवान् कृपा करेंगे और तुम्हें अपना परमपद प्रदान करेंगे।

× × × ×

इसी प्रकार और भी सब लोगोंको अपने-अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की निष्काम पूजा करनी चाहिये।

निष्कामभाव क्यों नहीं होता?

याद रखो—जबतक किसी वस्तुका मनमें महत्त्व है, जबतक उसकी ओर देखकर मन ललचाता है, जबतक किसीके पास वह वस्तु है, इसलिये उसे सौभाग्यवान् तथा ईश्वरका कृपापात्र समझा जाता है, जबतक उस वस्तुका अपने पास न होना अभाग्यका चिह्न माना जाता है, जबतक उसकी आवश्यकताका अनुभव होता रहता है और उसके प्राप्त होनेपर अभाव तथा कष्टका नाश एवं सुख-सुविधाकी प्राप्ति होगी, ऐसी धारणा रहती है, तबतक मनुष्य उसकी कामनासे कभी मुक्त नहीं हो सकता। उसमें निष्कामभाव नहीं आ सकता।

याद रखो—'निष्काम' शब्दके रटनेसे तुम निष्काम नहीं हो सकते। निष्कामभाव मनमें आता है और वह तभी आयेगा जब तुम जिस वस्तुकी कामना करते हो, उस वस्तुमें तुम्हारी दुःखदोष-बुद्धि, मलिन-बुद्धि, वह तुम्हारे लिये हानिकारक है, तुम्हारे यथार्थ सुख-सुविधामें बाधक है, ऐसी बुद्धि और उसमें असत्-बुद्धि वस्तुतः हो जायगी।

याद रखो—मलको उठाकर कोई शरीरपर लेपना नहीं चाहता, उलटीको कोई मनुष्य चाटना नहीं चाहता, विषको कोई खाना नहीं चाहता, दुःखको कोई सिर चढ़ाकर स्वीकार नहीं करता, रोगसे कोई प्रीति नहीं करना चाहता। इसी प्रकार जब इस लोक और परलोकके तमाम भोग-पदार्थोंमें, स्थितियों और अवस्थाओंमें तुम्हारी मल-बुद्धि, वमन-बुद्धि, विष-बुद्धि, दुःख-बुद्धि और रोग-बुद्धि हो जायगी, वे सब इसी प्रकारके दिखायी देंगे, तब उनसे तुम्हारा मन आप ही हट जायगा। फिर उनमें न आसक्ति रहेगी, न मोह ही रहेगा। फिर उन्हें

अपनाना, अपना बनाना, उनपर अपनी ममताकी मुहर लगाना, उसके न होनेपर छटपटाना, चले जानेपर शोक करना, चले जानेकी आशंकासे ही व्याकुल हो जाना, उनको प्राप्त करनेकी कामना या इच्छा होना—आदि बातें नहीं रहेंगी। कामनाका त्याग मनसे हुआ करता है, वाणीसे नहीं। सत्यकी कल्याणमयी सुन्दर प्रतिष्ठा मनमें ही हुआ करती है। अतएव तुम यदि जीवनमें निष्कामभाव लाना चाहते हो तो काम्य-वस्तुओंमें अनित्यता, मलिनता, दुःखरूपता और विनाशिताको देखो। भगवान्के बिना जितने भी भोग हैं—सब दुःख हैं, भयानक दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं—यह अनुभव करो! फिर उनकी ओर मनका प्रवाह अपने-आप ही रुक जायगा।

याद रखो—तुम्हारे मनका जो यह विश्वास है, तुम्हारी बुद्धिका जो यह निश्चय है कि भोगोंमें सुख है—चाहे यह विश्वास और यह निश्चय वाणीसे फूट न निकलता हो, पर तुम्हें भोगोंमें लगाये बिना नहीं रह सकता। तुम हजार निष्काम शब्दकी रटना करो, निष्कामके महत्त्वका गुणगान करो। तुम सुखके लिये भोगोंका होना अनिवार्य समझोगे। तुम्हारा अन्तर्हृदय भोगोंके लिये छटपटाता रहेगा। तुम ऊपर चाहे जितना भी हँसो—तुम्हारा अन्तर भोगोंके अभावमें रोता-कलपता रहेगा। यही तो भोगकामना है। इसके रहते तुम निष्काम कैसे बनोगे?

याद रखो—भोगपदार्थोंमें सुख-बुद्धि, आवश्यक-बुद्धि, आदर-बुद्धि जबतक रहेगी, तबतक भोगोंके प्रति, जिनके पास भोग-पदार्थ अधिक हैं उनके प्रति तथा जिन साधनोंसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति सुगम समझी जाती है, उन साधनोंके प्रति तुम्हारे मनमें सम्मान और प्रीतिका भाव होगा ही। तुम स्वयं उस सम्मान तथा प्रेमको प्राप्त करना चाहोगे और उसीमें अपना गौरव तथा

सौभाग्य समझोगे। जिनके पास भोग-पदार्थ नहीं हैं या अपेक्षाकृत कम हैं, उन्हें तुम अभागा समझोगे, उनके प्रति सम्मान और प्रेमका भाव तुम्हारे मनमें तथा व्यवहारमें नहीं होगा। तुम उनकी उपेक्षा करोगे। इसलिये तुम स्वयं भी इस अभाग्य, इस सम्मान तथा प्रेमके अभाव और लोगोंकी उपेक्षासे डरोगे। ऐसा होनेमें अपना दुर्भाग्य मानकर ऐसी स्थितिसे सर्वथा दूर रहना चाहोगे, जबतक इस प्रकारकी मनोवृत्ति रहेगी, तबतक कामनाके कठिन चंगुलसे तुम नहीं छूट सकोगे।

याद रखो—भोगसहित और भोगरहित सभी अवस्थाओंमें सर्वत्र भगवान् हैं इसलिये आदर सबका करो; सम्मान सबका करो, पर करो भगवान् समझकर; भोग समझकर नहीं। भोग समझकर करोगे तो भोगरहितमें तुम्हारी आदर या सम्मानबुद्धि नहीं रहेगी। मनसे भोगोंके आदरका बहिष्कार कर दो—निकाल दो और वह तभी निकलेगा, जब भोगोंमें सुख-बुद्धि और आवश्यक-बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जायगा। तब उनके अभावके जीवनमें एक भारमुक्त स्थितिकी, एक बड़े आश्वासनकी, एक अभूतपूर्व सुखकी और विलक्षण शान्तिकी अनुभूति होगी।

याद रखो—सुख-शान्ति वस्तुओंमें नहीं है, वह मनकी निष्काम-स्थितिमें ही है। जब तुम्हारा मन कामना और स्पृहासे रहित हो जायगा, जब तुम्हारी ममताकी बेड़ी कट जायगी एवं जब तुम्हारा अहंकार भगवान्के दिव्य चरणकमल-युगलमें समर्पित होकर धन्य हो जायगा, तभी तुम सच्ची शान्ति पा सकोगे और तभी तुम्हें यथार्थ सुखका शुभ साक्षात्कार होगा।

निष्कामताका स्वरूप

आपने निष्काम कर्मके विषयमें शंका की, सो कामनाकी कोटिमें तो भोग्य वस्तु ही आती है, भोक्ता नहीं आता। पत्नी पतिसे कोई पदार्थ चाहे अथवा उसके द्वारा किसी दूसरे प्रकारका सुख भोगना चाहे, तभी उसे कामना कहेंगे। केवल प्रियतमको चाहना तो कामना नहीं है, उसे तो 'प्रेम' कहा जाता है। इसी प्रकार श्रीभगवान्‌से किसी भी प्रकारके लौकिक या पारलौकिक भोगकी इच्छा रखना ही सकामता कहा जाता है। अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा प्रभुको या प्रभुकी प्रसन्नताको पानेकी इच्छा कामना नहीं कही जाती। उसे तो निष्कामता ही समझना चाहिये। आप लिखते हैं कि 'सच्चा निष्काम तो नास्तिक ही हो सकता है, ईश्वरकी सत्ता माननेवाला तो निष्काम हो ही नहीं सकता, सो मेरे विचारसे यह बिलकुल विपरीत बात है; क्योंकि कोई भी प्रवृत्ति बिना प्रयोजनके नहीं होती। प्रयोजन दो प्रकारका होता है—(१) भोग या (२) मोक्ष। विषयजनित सुखको 'भोग' कहते हैं और विषय-निरपेक्ष आत्मानन्द या भगवदीय आनन्दको 'मोक्ष'। यह आनन्द ईश्वर या आत्माकी सत्ता स्वीकार करनेवालेका ही लक्ष्य हो सकता है और कर्मके लक्ष्यरूपसे इस भगवदीय आनन्दका रहना ही निष्कामता है। नास्तिककी दृष्टिमें तो इस प्रपंचके सिवा किसी अदृष्ट तत्त्वकी सत्ता ही नहीं होती। अतः उसकी कर्मप्रवृत्तिका प्रयोजन तो भोग ही होगा। वह निष्काम कैसे हो सकता है? अतः अपने इस कथनपर आप एक बार फिर विचार करनेका कष्ट करें।'

निष्काम कर्मका स्वरूप

मैंने आपकी जीवनी भलीभाँति पढ़ ली है। आपका श्रीभगवान्‌के चरणोंकी ओर झुकाव हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जिस-किसीकी प्रेरणासे जीव भगवान्‌की ओर बढ़े, यही जीवनका परम पुरुषार्थ है। 'सभी रूपोंमें एक ही भगवान् हैं'—यह धारणा बहुत उत्तम है। इस दृष्टिसे भगवान् शंकर और भगवान् श्रीराममें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। फिर भी आपने भगवान् श्रीराघवेन्द्रको इष्टदेव बनाकर जो साधना आरम्भ की है, वह परम मंगलमयी है। आप पूर्ण उत्साह, श्रद्धा, विश्वास और लगनके साथ अपना भजन चालू रखें, यही तो परम कल्याणका साधन है। अब रही अध्ययन और परीक्षा छोड़नेकी बात, सो मेरी समझसे किसीको भी अपने न्यायोचित कर्तव्यका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर आप तो कर्मयोगी बनना चाहते हैं; आप अध्ययन क्यों छोड़ें? फलकी कामना और आसक्तिको छोड़कर लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा जय-पराजय आदिमें समान भाव रखते हुए भगवत्प्रीतिके लिये अध्ययनादि सत्कर्म करते रहना ही वास्तविक कर्मयोग है। विहित कर्मसे भागना तो इस कर्मयोगमें निषिद्ध है। इस कर्मयोगसे भगवान्‌की पूजा होती है और उसका फल होता है जीवनकी सफलता—भगवान्‌की प्राप्ति। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**'—जीवनके चरम लक्ष्य—भगवान्‌को पा लेना ही परम सिद्धि है। और भगवान्‌की आज्ञा समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये ही शास्त्रोक्त शुभ कर्म करना कर्मके द्वारा भगवान्‌का पूजन करना है। इस प्रकार विचार करके आप अपना अध्ययन पूर्ण करें।

आपमें 'धन आदिकी कामना नहीं है' यदि ऐसा है तो यह और भी उत्तम है और ऊँचे उठानेवाली बात है। ऐसी दशामें आप आयुर्वेदके ज्ञाता होनेपर जनतारूप भगवान्‌की विशेष सेवा कर सकेंगे। जबतक शरीर है, तबतक इसको भोजन-वस्त्र देना ही है, स्त्री और बच्चे तथा परिवारके अन्य लोग भी इसलिये आदरणीय हैं कि उनमें भी आपके इष्टदेव श्रीराम व्यापक हैं, अतः उन सबको अपने पिता-पत्नी मानकर नहीं, पिता-पत्नी आदिके वेषमें भगवान् समझकर उनका आदर करना तथा यथायोग्य भरण-पोषणके द्वारा उनकी सेवा करना है। इसके लिये यदि न्यायतः आप कुछ उपार्जन करें तो यह दोषकी बात नहीं है। भगवद्बुद्धिसे, भगवान्‌की सेवाका भाव रखनेसे यह चिकित्सारूपी कर्म ही आपके लिये भजन बन जायगा। पत्नीको आपने देवताओंकी साक्षितामें ग्रहण किया है; अतः आपका और उसका यह सम्बन्ध आजीवन रहेगा। दाम्पत्य-सम्बन्ध हिंदूधर्ममें बड़ा पवित्र माना गया है। इसका प्रभाव जन्मान्तरमें भी पड़ता है। आप दोनों परस्परकी सम्मतिसे संयमका जीवन बिता सकते हैं। आपकी पत्नी भी भगवान्‌की ओर बढ़े; घर-परिवारके अन्य लोग भी भगवान्‌में लगें, अपने सद्व्यवहारके द्वारा ऐसा प्रयत्न करते हुए आपको घरपर ही रहना चाहिये। यही सच्ची आत्मीयता है—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानतें प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

यही घरवालोंके प्रति आपका कर्तव्य है।

घर छोड़कर जानेमें और भी अनेकों बाधाएँ हैं, जिनकी अभी आपको पूरी कल्पना भी नहीं है। मन ठीक हो तो घरपर भी भजन हो सकता है। मन वशमें न होनेपर जंगलमें भी अमंगल

ही होगा। अतः वही करना चाहिये, जो निरापद हो और भगवद्भजनमें सहायक हो।

मेरी स्पष्ट सम्मति है कि आप घरमें रहकर अपने भजनको चालू रखते हुए सत्संग और स्वाध्याय भी करते रहें। अध्ययनको पूरा करके उसके द्वारा जनतारूप भगवान्‌की सेवा करें और न्याय-वृत्तिसे भगवत्प्रसादरूपमें जो उपार्जन हो उसके द्वारा अपने कुटुम्बीजनोंका यथाशक्ति पालन करें। यद्यपि सबका पालन करनेवाले श्रीभगवान् ही हैं, तथापि मनुष्य भी निमित्त बना करता है। भगवान् ही पिता, माता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, पति आदि रूप धारण करके भक्तसे सेवा लेनेके लिये आते हैं; अतः हमें उन्हींकी ओर दृष्टि रखकर उत्साहपूर्वक उनका आराधन करना चाहिये। दूसरे अपने साथ कैसा बर्ताव करते हैं, इसकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्तव्यका पालन करनेकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि अनन्य भक्त वही है, जो सबको भगवान्‌का रूप समझकर अपनेको सेवक मानता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

आसक्ति और कामना ही बन्धन

याद रखो—आसक्ति और कामना ही बन्धन है! आसक्ति एवं कामना न रखकर प्राप्त कर्तव्यके पालनमें कोई बन्धन नहीं है। कर्म करना चाहिये, पर करना चाहिये केवल भगवान्‌के लिये—भगवान्‌की प्रीतिके लिये।

याद रखो—कर्म किये बिना मनुष्य क्षणभर भी नहीं रह सकता। इसलिये कर्म तो करना ही होगा। पर जो कर्म भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌के लिये होता है, वह बन्धनका नाश करनेवाला होता है।

याद रखो—प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त होना है, वह बिना कामनाके भी प्राप्त हो जायगा। प्रारब्ध न होगा तो हजार कामना तथा हजार प्रयत्नसे भी वह वस्तु नहीं मिलेगी।

याद रखो—जिस कर्ममें आसक्ति और कामनाका कलंक न लगा होगा, उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञानकी प्राप्ति और भगवान्‌की प्राप्ति होगा। पर जो कर्म सकामभावसे किया जायगा, वह यदि पुण्यकर्म होगा तो उसका फल सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति होगा।

याद रखो—निष्काम कर्म मुक्तिमें हेतु है और सकाम कर्म जन्म-मृत्युमें। निष्कामभाव मनुष्यके सारे बन्धनोंको काटता है और सकामभाव उसे नये-नये बन्धनोंमें जकड़ता है—बन्धनोंके स्वरूपमें अन्तर हो सकता है। बेड़ी सोनेकी हो या लोहेकी, है वह बन्धन ही।

याद रखो—सकामभाव होनेसे ही मनुष्य पाप करता है। पापोंकी जननी कामना ही है। निष्कामभावमें पापके लिये स्थान नहीं है।

याद रखो—जब यह स्पष्ट हो गया कि जन्म-मृत्यु तथा शरीर-धारणमें दुःख-ही-दुःख है, तब परलोक या पुनर्जन्मके लिये कर्म

करना तो दुःखकी स्थितिको ही निमन्त्रण देना है। अतएव किसी भी परलोककी कामनासे कर्म करना मूर्खता है।

याद रखो—भोगमात्र ही दुःख देनेवाले हैं। गीतामें भगवान्ने बताया है 'जितने भी भोग हैं, सब दुःखयोनि हैं।' अतएव इस जन्ममें भी भोग-कामनासे कर्म करना बुद्धिमानी नहीं है। जो कर्मका महान् श्रम उठाकर उसके फलस्वरूप दुःखोंको बुला ले, वह तो मूर्ख ही है।

याद रखो—भोग-कामनामात्र ही बन्धनकारक तथा जन्म-मरण देनेवाली है इसलिये वह त्याज्य है। फिर चाहे वह इस लोकके लिये हो या परलोकके लिये। हाँ, भगवत्प्राप्तिकी, भजनकी, कामनाके नाशकी और वैराग्यकी कामना त्याज्य नहीं है; क्योंकि ऐसी कामना अन्तःकरणकी शुद्धिमें हेतु है और अन्तःकरणकी कुछ शुद्धि होनेपर ही होती है।

याद रखो—विराट् भगवान्के स्वरूपभूत इस संसारका प्रवाह तो सदा चलता ही रहता है—सिनेमाके फिल्मकी तरह इसमें नये-नये दृश्य आते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्के इस खेलको खेल समझकर अपने जिम्मेका काम किये जाता है, उसे तो बड़ा मजा आता है; पर जो इसमें कहीं आसक्ति या कामना कर बैठता है, वह बुरी तरह फँस जाता है। अतएव कर्म करते रहो, पर कहीं फँसो मत।

याद रखो—जो कर्म भगवान्के लिये होंगे वे अपने-आप ही शुभ होंगे—वे सत्कर्म ही होंगे। उनमें न तो कहीं परस्वापहरणकी बात होगी, न झूठ, कपट, छल होगा; न किसीका अनिष्ट करनेकी कल्पना होगी और न उनसे कभी किसीका अनिष्ट होगा ही। उनसे स्वाभाविक ही जगत्की सेवा होगी; क्योंकि सर्वान्तर्यामी सर्वरूप भगवान्की सेवा ही जगत्की सेवा है।

प्रसन्नता-प्राप्तिका उपाय

संसारमें रहते हुए ही चित्तकी प्रसन्नताका उपाय पूछा सो इसका उपाय भगवान्‌ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२।६४)

'वशमें किये हुए शरीर, इन्द्रिय और मनसे जो पुरुष राग-द्वेषसे मुक्त होकर विषयोंका सेवन करता है, उसे प्रसाद (प्रसन्नता)-की प्राप्ति होती है।' और इस प्रसाद (प्रसन्नता)-से सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।'

(गीता २।६५)

जबतक मनुष्य राग-द्वेषके वशमें है और जबतक मन-इन्द्रियोंका गुलाम है, तबतक उसके शरीर, इन्द्रिय और मनसे ऐसे कार्य होते ही रहते हैं, जो उसकी सारी प्रसन्नताका नाश करके उसका पतन कर देते हैं।

पाँच प्रश्न

एक सज्जनके ये पाँच प्रश्न हैं—

(१) प्रकृतिका क्या स्वरूप है और परमात्माके साथ उसका क्या सम्बन्ध है?

(२) संसार क्या है और कबसे है?

(३) जीव क्या है और जीवका यह बन्धन कबसे है?

(४) दो पुरुष और एक पुरुषोत्तम—इससे क्या त्रैतवाद सिद्ध होता है?

(५) क्या ज्ञानी, भक्त और योगी मुक्तपुरुष सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्योंमें परमेश्वरके समान ही शक्तिसम्पन्न होते हैं?

प्रश्न बड़े गहन हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर वही पुरुष कुछ दे सकता है, जिसने अनुभवसे इन विषयोंकी यथार्थताका ज्ञान प्राप्त किया हो। केवल अध्ययनके आधारपर कुछ भी कहनेमें भूल न होना बहुत ही कठिन है। फिर मैं तो अध्ययनका भी दावा नहीं कर सकता। मैंने प्रश्नकर्ता महोदयसे दूसरे महानुभावोंसे पूछनेके लिये प्रार्थना की थी, परंतु उन्होंने आग्रहपूर्वक मुझसे ही उत्तर माँगे हैं। इसलिये बाध्य होकर लिख रहा हूँ। प्रश्नकर्ता महोदयने मेरी परीक्षाके लिये ही यदि प्रश्न किये हों तब तो मैं पहले ही अपनेको अनुत्तीर्ण मान लेता हूँ। हाँ, उन्होंने जिज्ञासुकी दृष्टिसे पूछा है तो सम्भव है उन्हें अपनी श्रद्धाके बलसे इस धूलके ढेरमें भी कोई एकाध रत्न मिल जाय।

परमात्माकी स्वकीय नित्यशक्तिका नाम प्रकृति या माया है। जिस प्रकार परमात्मा अनादि हैं, उसी प्रकार उनकी यह शक्ति प्रकृति भी अनादि है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।'

जबतक शक्तिमान् पुरुष हैं तबतक उनकी शक्तिका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा जबतक है तबतक उनकी शक्ति भी है और परमात्मा अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी हैं, उनका कभी जन्म और विनाश नहीं होता, इसलिये उनकी शक्तिका भी विनाश सम्भव नहीं। परंतु जब वह क्रियाहीन रहती है, शक्तिमान्‌में लीन रहती है तबतकके लिये वह अदृश्य या शान्त हो जाता है। इसलिये उसे अनादि और सान्त भी कहते हैं। परमात्मा इस प्रकृतिकी भाँति कभी अदृश्य नहीं होते। प्रकृतिका सारा खेल—कालतक प्रकृतिमें लय हो जाता है और सबकी जननी यह प्रकृति भी जिसमें लय हो जाती है, इन सबके लय होनेके बाद भी अविलय रूपसे नित्य अचल वर्तमान रहनेवाले उस परम तत्त्वका नाम ही परमात्मा है। प्रकृतिके उनमें प्रविष्ट हो जानेपर केवल वे परमात्मा ही रह जाते हैं, इसीलिये वे नित्य अविनाशी, अपरिणामी, परम सनातन अव्यक्त पुरुष कहलाते हैं। संसारकी कारणरूपा मूल अव्यक्त प्रकृति शक्तिरूपसे इन्हींमें समाहित रहती हैं, इन्हींके संकल्पानुसार विकसित होकर व्यक्त होती हैं, पुनः सिमटकर इन्हींमें लीन हो जाती हैं। इसीसे ये सनातन अव्यक्त हैं।

प्रकृतिके भी दो स्वरूप हैं—एक अविकसित यानी अव्यक्त, दूसरा विकसित। जब प्रकृति अक्रिय है तब वह अव्यक्त है, उस समय प्रकृतिके प्रसूत कार्य-करणका (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—पाँच सूक्ष्म भूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय ये दस कार्य हैं। एवं बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये तेरह

करण हैं) विस्तार यह समस्त संसार मूल-प्रकृतिसहित परम सनातन अव्यक्त परमात्मामें समा जाता है। शक्ति शक्तिमान्के अंदर निस्तब्ध होकर स्थित रहती है। उस समय जगत्के समस्त जीव अपने-अपने कर्मसंस्कारोंसहित मूल-प्रकृति रूप महा-कारणमें लीन रहते हैं। माता उन सबको आँचलमें छिपाकर ही पिताके अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाती है। इसी अवस्थाको महाप्रलय कहते हैं।

परमात्माकी सत्ता-स्फूर्ति और संकल्पसे प्रकृतिदेवी जब घूँघट खोलकर अन्तःपुरसे बाहर निकलती हैं—क्रियाशील होती हैं, तब उसे विकसित कहते हैं। इसके व्यक्त होते ही संसार पुनः बन जाता है, सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मानुसार व्यक्तित्वको प्राप्त हो जाते हैं। यह विकसित प्रकृति भी अव्यक्त ही रहती है। सर्गके अन्तमें जीव अपने कर्मसमुदायसहित कारण-शरीरको साथ लिये इसी अव्यक्त प्रकृति या ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें लीन रहते हैं और सर्गके आदिमें पुनः उसीमेंसे प्रकट हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥

(गीता ८। १८)

'सम्पूर्ण व्यक्त जीव ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें—सर्गके आदिमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके आगमनकालमें पुनः उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं।' फिर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(गीता ८। २०)

'परंतु उस अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ दूसरा सनातन अव्यक्त तत्त्व है। वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नहीं नष्ट होता।' बस, वही उपर्युक्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।

मूल अव्यक्त प्रकृतिका नाम ही अव्याकृत माया है, वही परमात्माकी नित्य, अनादिशक्ति है; न किसीके द्वारा इस शक्तिका निर्माण हुआ है और न यह किसीका विकार है। इसलिये यह मूल और अव्याकृत है। परमात्मा जब इस प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करते हैं, तभी गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति प्रकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। वह विकार क्रमशः सात होते हैं—महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि), अहंकार और सूक्ष्म पंचतन्मात्राएँ। मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं, परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको प्रकृति भी कहते हैं। अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रासे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये इन दोनोंके समुदायका नाम 'प्रकृति-विकृति' है। मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व माने गये हैं। इन्हीं चौबीस तत्त्वोंका यह स्थूल संसार है। जीवका स्थूल देह भी इन्हीं चौबीस तत्त्वोंसे निमित्त होता है। ये चौबीस तत्त्व प्रकृति और उसके कार्य हैं।

परंतु यह प्रकृतिका कार्य केवल प्रकृतिसे ही नहीं सम्पन्न होता, परमात्माकी चेतनसत्तासे ही प्रकृति क्रियाशीला होती है। यह चेतन शक्ति भी भगवान्‌की दूसरी प्रकृति ही है। इसीके द्वारा जगत्‌का धारण किया जाता है। इन दोनों ही प्रकृतियोंकी सत्ता परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तमकी सत्तासे ही है। शक्तिमान्‌से अलग

शक्तिकी कोई सत्ता नहीं रह जाती। शक्तिमान् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही शक्ति कार्य करती है, इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

'अर्जुन! मुझ परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही मेरी यह प्रकृति (माया) चराचरसहित जगत्‌को रचती है और इसी हेतुसे यह संसार चक्रवत् घूमता है।'

इससे यह निष्पन्न होता है कि परमात्माकी सत्ता-प्राप्त प्रकृतिका ही परिणाम यह सारा चराचर जगत् है। परमात्माकी चेतनासे ही प्रकृतिका परिणाम यह जगत् चेतन है। इस दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति शक्तिमान्‌से अलग न होनेके कारण शक्तिका परिणाम शक्तिमान् परमात्माका ही परिणाम है, परंतु यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा स्वयं वस्तुतः अपरिणामी हैं। यह बात ऊपर आ चुकी है। परमात्मा स्वभावसे ही सत्ता देकर शक्तिको क्रियाशीला बनाते हैं, परंतु उसके कार्यसे वे स्वयं परिणामी नहीं हो सकते। शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य अविनाशी एक रस परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन शक्तिमें ही होता है; क्योंकि शक्तिका विकसित रूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा एक-सा नहीं रहता। शक्तिकी इस अनेकरूपताके कारण ही संसार परिवर्तनशील है।

साथ ही यह भी स्मरण रहे कि शक्ति शक्तिमान्‌से पृथक् न होनेके कारण संसाररूपसे व्यक्त होनेवाला उस शक्तिका यह खेल वस्तुतः परमात्माका अपना ऐश्वर्य ही है। भगवान्‌के ऐश्वर्यके सिवा जगत्‌में किसी भी भिन्न वस्तुकी सत्ता नहीं है। यह सब

प्रभुकी लीलाका ही विस्तार है। एक प्रभु ही अपनी शक्तिसे आप ही क्रीडा कर रहे हैं, इससे जगत्को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी सत्य ही है।

परमात्माके दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। असलमें एकके ही दो नाम हैं। जब शक्ति बाहर रहती है तब परमात्मा सगुण हैं और जब वह अन्तःपुरमें प्रविष्ट रहती है तब परमात्मा निर्गुण हैं। इसीलिये परमात्मामें परस्पर विरोधी गुणोंका सामंजस्य माना गया है। वे सदा सगुण होते हुए ही नित्य-निर्गुण हैं और नित्य-निर्गुण होते हुए ही सदा सगुण हैं। गुणमयी प्रकृतिमें परमात्माकी इच्छा बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। प्रकृतिका अस्तित्वतक परमात्माकी इच्छासे व्यक्त होता है, नहीं तो वह सदा उनमें विलीन ही रहती है और जिस समय वह जाग्रत् होती है उस समय भी उनके सर्वथा अधीन ही रहती है। इसलिये परमात्मा शक्तियुक्त—सविशेष होते हुए भी निर्गुण-निर्विशेष हैं, क्योंकि गुणोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं है।

इस प्रकार परमात्मापर गुणोंका कोई प्रभाव न रहनेपर भी इन्हींके प्रभावसे शक्ति जाग्रत् होकर विविध खेल रचती है और संसारका नियमित संचालन करती है। इससे ये निर्गुण-निर्विशेष होते हुए भी सदा सगुण-सविशेष हैं। इस प्रकार युगपत् उभय-भावयुक्त सर्वगुणसम्पन्न गुणातीत विज्ञानानन्दघन लीलामय नटनागरका नाम ही परमात्मा है। असलमें परमात्माका रहस्य परमात्मा ही जानते हैं। वे मायावाद, परिणामवाद, सगुण, निर्गुण आदि किसी भी वाद या भावकी सीमामें आबद्ध नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, सबमें हैं और सबसे परे हैं। वे ही वे हैं। वस्तुतः परमात्मा सर्वथा अनिर्वचनीय तत्त्व हैं। वाणीके द्वारा उनका जो कुछ वर्णन होता है सो तो केवल लक्ष्य करानेके लिये होता है और वाणीमें

आनेवाला स्वरूप असली स्वरूपसे बहुत ही स्थूल है, परंतु किसी भी बहाने उनकी चर्चा होनेके लोभसे ही ये पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।

परमात्माकी शक्तिको विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जब उससे परमात्मा अपना कार्य करते हैं तब उसका नाम विद्या है। विद्या परमात्माकी सेविका है, जीव और परमात्माका सम्बन्ध जोड़ देनेवाली निर्मल सूत्रिका है। इस विद्याके द्वारा ही बिछुड़ोंका नित्य मिलन और जीवरूप पत्नीके साथ परमात्मारूप पतिका गँठजोड़ा होता है। जिससे आगे चलकर दोनों घुलमिलकर सम्पूर्णरूपसे एक हो जाते हैं। जीवको मोहित करके उसे परमात्मासे अलग रखनेवालीका नाम अविद्या है। इस अविद्याके मोहसे छूटनेके लिये इसीके दूसरे निर्मल-स्वरूप विद्याकी शरण लेनी पड़ती है।

अब यह प्रश्न रहा कि जीव क्या वस्तु है? जीव असलमें परब्रह्म परमात्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। उन्हींका आत्मरूप सनातन शुद्ध अंश है। समुद्रके तरंगोंकी भाँति उनसे सर्वथा अभिन्न है, परंतु अनादिकालसे प्रवृत्ति और उसके कार्योंके साथ तादात्म्य होनेके कारण जीव-दशाको प्राप्त हो रहा है। यह सम्बन्ध प्रकृतिकी अनादिताकी भाँति ही अनादि है। अनादि न होता, कभी इसका आरम्भ होता तो जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर उन्हें भिन्न-भिन्न योनियों और स्थितियोंमें परमेश्वर क्यों रचते। भेद पूर्ण संसारमें अकारण ही जीवोंको रचकर पटकनेसे परमात्मामें विषमता और निर्दयताका दोष आता, जो कदापि सम्भव नहीं है। प्रकृतिके जीवका सम्बन्ध अनादि है। जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक वह कभी चौबीस तत्त्वोंके

स्थूल शरीरमें; कभी पंचप्राण, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके सूक्ष्मदेहमें और कभी मूलप्रकृतिके अंशरूप कारण देहके साथ संयुक्त रहता है। प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण ही इसकी जीव संज्ञा है और इस प्रकृतिके संगसे ही यह अच्छी-बुरी योनियोंमें जाता-आता और दुःख-सुख भोगता है। (गीता १३।२१)

यह सत्य है कि शुद्ध आत्मामें आने-जाने और जन्म-मृत्युकी कल्पना केवल आरोपित है, परंतु जबतक जीव संज्ञा है तबतक वह वस्तुतः शुद्ध आत्मारूपमें नित्य, अविनाशी, अधिकारी होते हुए ही भले-बुरे कर्मोंका कर्ता, उनके फलरूप सुख-दुःखोंका भोक्ता जनन-मरणशील है। परमात्मा, उनकी शक्ति प्रकृति, जीव और प्रकृतिके परिणाम जगत्‌का परस्परका सम्बन्ध अनादि है। परंतु इतनी बात याद रखनेकी है कि नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन अव्यय परमात्मा अनादि होनेके साथ ही अनन्त भी हैं और जीव भी उनका चेतन सनातन अंश होनेसे अनन्त है। परंतु प्रकृति-शक्ति विकसित और अविकसित दो रूपोंमें रहनेवाली होनेके कारण अविकसित-अवस्थामें सान्त (अन्तवाली) कही जाती है। प्रकृतिका परिणाम जगत् भी प्रवाहरूपसे अनादि और नित्य होनेपर भी विविध रंगमय है और प्रकृतिके पाशसे छूटे हुए मुक्त-पुरुषके लिये तो नष्ट हो जाती है। और भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र चेतन सत्ता न होनेसे परमात्माके लिये तो जगत् सर्वथा असत् या परमात्मरूप ही है।

गीतामें दो पुरुषोंका वर्णन है। एक क्षर, दूसरा अक्षर। क्षर—प्रकृतिका कार्यरूप जगत् और अक्षर—नित्य चेतन आनन्दरूप परमात्माका सनातन अंश होनेपर भी अविद्यारूपी प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण असंख्य और विभिन्न रूपोंसे

भासनेवाला जीव। इन दोनों पुरुषोंके परे उत्तम पुरुष परमात्मा पुरुषोत्तम नामसे वर्णित हैं। इस पुरुषत्रयके वर्णनसे कुछ लोग इसे द्वैतवाद भी कहते हैं। परंतु असलमें जीवका परमात्माके साथ अंशांशी सम्बन्ध होनेके कारण वह उनसे अभिन्न है और क्षर जगत् परमात्माकी स्वकीया शक्ति मायाका विलास है, इसलिये वह भी उनसे अभिन्न ही है। अतएव यह नामका द्वैत वास्तवमें अद्वैत ही है।

इसी प्रकार जीव-ब्रह्मकी मूलतः एकता माननेपर भी शक्तिको उनसे अलग समझ लेनेके कारण ब्रह्म-जीवकी व्यवहारमें भिन्नता माननेवालोंका द्वैतवाद भी इस दृष्टिसे उचित होनेपर भी वस्तुतः अद्वैत है। अवश्य ही, जहाँ खेल है वहाँ द्वैत है और यह द्वैत सदा अभिनन्दनीय है, परंतु खेल है अपने-आपमें ही, इसलिये अद्वैत ही है। सबमें समाये हुए ये एक पुरुषोत्तम भगवान् ही नित्य विज्ञानानन्दघन नित्य-मुक्त अविनाशी गुणातीत ब्रह्म हैं, वे ही सबके आदि महाकारण और शक्तिमान् मायाधीश हैं। और वे ही प्रकृतिके लीलाविस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर हैं। हम सबको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये।

मेरी समझसे ज्ञानी, भक्त या योगी कोई भी मुक्त पुरुष परमेश्वरकी तुलनामें नहीं आ सकता। जीवन्मुक्त महात्मा परमार्थ-दृष्टिसे तत्त्वज्ञानमें ब्रह्मके समान हो सकते हैं, जगत्-प्रपंचको लाँघकर आनन्दमय बन सकते हैं, मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकते हैं परंतु मायाधीश कभी नहीं हो सकते। जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेकी शक्ति केवल एक नित्यसिद्ध परमेश्वरमें ही है। इसीसे जहाँतक कहा जा सकता है कि जीव ब्रह्म हो सकता है, परंतु परमेश्वर या भगवान् नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्रके—

'जगद्व्यापारवर्जम्' (४। ४। १७)

—सूत्रके भाष्यमें पूज्यपाद स्वामी श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकम् ऐश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैव ईश्वरस्य।

'जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, विनाशके सिवा अन्य अणिमादि सिद्धियाँ महापुरुषोंमें होती हैं, परंतु जगद्व्यापारकी सिद्धि तो एकमात्र नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही है।'

अणिमादि सिद्धियाँ भी सभी सिद्ध, ज्ञानी और भक्तोंको नहीं प्राप्त होतीं। योगमार्गसे सिद्धिप्राप्त पुरुषोंको अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, परंतु ये ऐश्वर्य सभी सीमित हैं। मायाके राज्यमें ही हैं। परमेश्वर मायाके स्वामी हैं। उनका मायापर आधिपत्य है, माया उनकी शक्ति है। वे अणिमादि योगके अष्ट ऐश्वर्योंसे परे उनसे अधिक शक्तिसम्पन्न चमत्कारी ऐश्वर्योंकी सृष्टि कर सकते हैं। वस्तुतः अणिमादि ऐश्वर्य भी ईश्वरकी ऐश्वर्य राशिका एक तुच्छ कणमात्र है। योगी ईश्वरके सृजन किये हुए परमाणुओंको सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्म कर सकते हैं, उनका इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं। परंतु नवीन सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं कर सकते। वे सत्यसंकल्प हो सकते हैं। वे अग्नि, जल, अस्त्र, विष आदिका इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं, परंतु ये सभी चीजें मायाके खेलके अन्तर्गत ही होती हैं। यों तो संसारमें प्रत्येक जीव ही अपने-अपने क्षेत्रमें सृष्टि, पालन, विनाश करता है। किसी चीजको बनाना, उसकी रक्षा करना और उसे नष्ट कर देना एक प्रकारसे सृष्टि, स्थिति, संहार ही है, साधारण जीवोंमें यह सामर्थ्य बहुत थोड़ी होती है, योगियोंमें साधन-बलसे इस सामर्थ्यका बहुत अधिक

विकास होता है। यहाँतक कह सकते हैं कि इस विषयमें परमेश्वरके नीचे दूसरी श्रेणीमें पहुँचे हुए योगियोंको माना जा सकता है परंतु परमेश्वरकी तुलनामें तो उनकी शक्ति अत्यन्त ही क्षुद्र रहती है।

ज्ञानी तो इन विषयोंकी परवा ही नहीं करता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। फिर इस प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा ही कौन करे। भक्त अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण कर केवल उन्हींका हो रहता है। भगवान्‌की मंगलमयी इच्छा ही उसके लिये कल्याणरूपा है। अतः वह भी इस शक्तिको पानेका इच्छुक नहीं होता। जिनकी इच्छा ही नहीं, उन्हें वह वस्तु प्राप्त क्यों होने लगी? कदाचित् मान लिया जाय कि सिद्धिप्राप्त योगी, तत्त्वज्ञानी या प्रेमी भक्तको यह शक्ति प्राप्त होती है, तो वह प्राप्त हुई भी अप्राप्तके समान ही है। उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। जगत्‌में आजतक किसी भी युगमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता कि जिसमें किसी महापुरुषने अपनी शक्तिसे ईश्वरके सृष्टिक्रमकी भाँति कुछ कार्य किया हो या कार्यतः किसीने ईश्वरत्वका परिचय दिया हो। किसीमें शक्ति हो भी तो वह भी ईश्वरकी शक्तिके अधीन ही रहती है। ईश्वरके विधानके प्रतिकूल कोई कुछ भी नहीं कर सकता। केनोपनिषद्‌की कथाके अनुसार वायु, अग्नि भी एक सूखे तिनकेको उड़ा या जला नहीं सकते। व्यावहारिक मायानिर्मित जगत्‌की प्रत्येक क्रिया सदा मायापति ईश्वरके नियन्त्रणमें रहती है। अनादिकालसे जगत्‌का सारा व्यापार एक ही शक्तिके नियन्त्रणमें एक ही नियमके अनुसार सुशृंखलरूपसे चला आ रहा है। सृष्टि, स्थिति, संहारका कोई भी विधान कभी नियमसे

विरुद्ध नहीं चलता। विश्वनाथ परमेश्वरकी इच्छामें हस्तक्षेप करनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। ईश्वरेच्छाके अधीन रहकर ही महापुरुष अपनी योगलब्ध सिद्धियोंका उपयोग या सम्भोग करते हैं। वे दिव्यदृष्टिसे ईश्वरको पहचानकर उसीके अनुसार कार्य करते हैं। इसीसे उन्हें कभी विफलताजनित क्लेशका अनुभव नहीं होता।

महापुरुषगण योग, ज्ञान, प्रेम और आनन्दमें ईश्वरके समान होकर भी ईश्वरके आज्ञाकारी ही रहते हैं। ईश्वरेच्छाके विपरीत उनकी शक्तिका प्रयोग सर्वथा असम्भव होता है। कारण, वे इस बातको जानते हैं कि उनके अंदर ईश्वर ही कार्य कर रहे हैं। योगसिद्धिसे प्राप्त ज्ञान, प्रेम, शक्ति, ऐश्वर्य, आनन्द आदि सभी चीजें परमेश्वरकी ही हैं। उनकी इच्छा ईश्वरकी इच्छा होती है, उनके जीवनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वरकी क्रियाएँ होती हैं। वे ईश्वरके गुण, शक्ति आदिको पाकर ईश्वरकी ही एक प्रतिमूर्ति बने हुए जगत्में लोक-कल्याणार्थ विचरण करते हैं। उनका ऐश्वर्य परमात्माके प्रेमरूप माधुर्यमें परिणत हो जाता है। इसलिये थोड़ी देरके लिये उनमें यदि वस्तुतः ईश्वरके समान शक्तिका होना मान भी लिया जाय तब भी वह न होनेके बराबर ही होती है; क्योंकि उनकी शक्ति ईश्वरकी शक्तिके द्वारा ही प्रेरित, परिपूरित और परिचालित होती है, वह अलग कोई कार्य कर ही नहीं सकती।

प्रकृतिकी लीलाके द्रष्टा बनिये

आत्मा—पुरुष सुख-दुःख, जन्म-मरणादि द्वन्द्वोंसे रहित नित्य शुद्ध-बुद्ध है। परंतु 'प्रकृतिस्थ' होनेके कारण प्रकृतिमें होनेवाले परिवर्तन और विकार पुरुषमें दिखायी देते हैं और वह भी ऐसा ही अनुभव करके सुख-दुःख भोगता तथा जन्म-मरण एवं अच्छी-बुरी योनियोंके चक्रमें पड़ा रहता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है।'

प्रकृतिकी चंचलतामयी लीलामें जब पुरुष स्वयं जाकर मिल जाता है, तभी यह सब होता है। इससे छूटनेका उपाय है—वह 'स्व-स्थ' (आत्मस्थ) होकर प्रकृतिकी लीलाका द्रष्टा बन जाय और प्रकृतिके समस्त कार्योंको दृश्य बनाकर देखने लगे। जहाँ कर्ता-भोक्ता न रहकर द्रष्टा बना कि चटुला प्रकृति-नटीका ताण्डव नृत्य अपने-आप बंद हो जायगा। द्रष्टाके आसनपर विराजमान आत्मस्थ अप्रलुब्ध भावसे देखनेवाले पुरुषके सामने प्रकृति दृश्य बनकर लीला नहीं कर सकती; उसकी लीला बंद हो जाती है। फिर प्रकृतिके द्वन्द्वोंका द्रष्टा पुरुषपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह प्रकृतिके गुणोंसे अतीत होकर समताका अनुभव करता है। उसीके लिये कहा है—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २३—२५)

'तटस्थ उदासीन द्रष्टाकी भाँति स्थित वह पुरुष प्रकृतिके गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं—यों समझता हुआ वह परमात्मामें एक रूपसे स्थित है; उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता। वह स्व-स्थ (स्व-आत्मामें स्थित) दुःख-सुखको, मिट्टी-पत्थर-स्वर्णको, प्रिय-अप्रियको और अपनी निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला धीर पुरुष मान-अपमान, मित्र-शत्रुको समभावसे देखता है। ऐसा समस्त आरम्भोंका त्यागी—किसी भी आरम्भमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष 'गुणातीत' कहलाता है।'

तदनन्तर जब प्रकृतिकी लीलाका 'दृश्य' नहीं रहता, तब वह द्रष्टा भी नहीं रहता। वह नित्य अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित रहता है। यही जीवन्मुक्तावस्था है।

जगत्‌का स्वरूप और ब्रह्मज्ञानीके व्यवहार

जगत् वस्तुतः क्या वस्तु है और ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मज्ञानीके लिये जगत् क्या रह जाता है—उन दोनों ही प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेकी शक्ति मुझमें नहीं है; क्योंकि न तो मैंने जगत्‌के वास्तविक स्वरूपका अनुभव किया है और न मुझे ब्रह्मज्ञान ही हुआ है। जगत्‌को कुछ लोग मिथ्या कहते हैं और कुछ लोग भगवत्-रूप! इनमें मुझे भगवद्रूप मानना अधिक अच्छा लगता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जहाँ-तहाँ जगत्‌को भगवत्-रूप ही बताया गया है। 'सब कुछ वासुदेव ही है। मेरे (भगवान्‌के) सिवा और कुछ भी नहीं है।' '**सर्वं वासुदेव इति**' (गीता ७। १९) '**मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति**' (गीता ७। ७)। ब्रह्मज्ञान होनेपर जगत् नहीं रहता, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद भी ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जगत्‌में कर्म होते देखे जाते हैं। चाहे अहंकारके अभावसे उनको अकर्म माना जाय—चाहे वे भूजे बीजकी भाँति फलोत्पादन न कर सकें; परंतु कर्म तो होते ही हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं जगत्‌में विधिवत् कार्य किये हैं। राजर्षि जनकने राज्य-पालन किया। वेदोंका विभाग करनेवाले भगवान् व्यास और शुकदेवके समान ज्ञानी कौन होगा; परंतु उन्होंने भी महाभारत और पुराणादि ग्रन्थ बनाये और पढ़े-सुनाये। भगवान् शंकराचार्य परम ज्ञानी थे, परंतु जीवनभर धर्मप्रचारका कार्य करते रहे। यदि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद जगत्‌का सर्वथा प्रलय हो गया होता तो इन महात्माओंके द्वारा कर्म होना सम्भव नहीं था। हाँ, ब्रह्मज्ञान होनेपर 'जगत् ब्रह्मसे

भिन्न है' यह भ्रम अवश्य मिट जाता है। अज्ञानी व्यक्ति जगत्‌को ब्रह्मसे भिन्न देखते हैं और ज्ञानी महात्मा उसे ब्रह्मस्वरूप! जैसे स्वर्णके एक पिण्डसे ही भाँति-भाँतिके गहने बनते हैं, उन सबको स्वर्णरूपमें देखना ही यथार्थ देखना है। यदि कोई स्वर्णको भूलकर गहनोंको सोनेसे अलग देखता है तो वह भ्रममें है—ऐसे ही संसारी प्राणी जगत्‌को ब्रह्मसे अलग देखते हैं, इसीसे वे अज्ञानी हैं—भ्रान्त हैं। इसी प्रकार जगत्‌को ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही यथार्थ देखना है। ऐसी हालतमें जैसे सोनेके सब गहनोंको सोना समझनेपर भी गहने अपने आकार-प्रकारमें रहते हैं, चाहे वे टूटते-फूटते और बदलते रहते हों। वैसे ही ब्रह्मज्ञान हो जानेपर भी जगत् अपने आकार-प्रकारमें रहता है। मिथ्या नहीं है—जगत्‌को ब्रह्मसे भिन्नताका भ्रम ही मिथ्या है। सोनेके गहनोंको यदि कोई मिथ्या कहे तो उसे भी भ्रान्त कहते हैं, क्योंकि वस्तुतः सोना होनेपर भी गहनोंके आकार-प्रकार और व्यवहारमें भेद है ही, और उनका अस्तित्व भी है ही। इसी प्रकार ब्रह्मके ही जगत्‌रूपमें भासनेपर भी जगत्‌की सारी वस्तुओंका अस्तित्व है ही। इसीसे श्रुतिने कहा है— **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।'** सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्मके सिवा कुछ भी नहीं है, जैसे सब गहने सोना ही हैं, सोनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत्‌को सर्वथा मिथ्या बौद्धोंने कहा है; वेदान्त मिथ्या नहीं बतलाता, परंतु ब्रह्मरूप बतलाता है। अतएव जगत् वस्तुतः ब्रह्मरूप है और ब्रह्मज्ञान होनेपर जगत् ब्रह्मरूप ही रह जाता है।

आपने पूछा कि ब्रह्मज्ञानी व्यवहार कैसे करता है सो इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मज्ञानी वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा शास्त्र-दृष्टिसे उसको करना चाहिये। जैसे सब गहने सोना

होनेपर भी नथ नाकमें पहनी जाती है, कड़े-कंकण हाथोंमें और हार गलेमें, वैसे ही सारा जगत् ब्रह्मरूप होनेपर भी व्यवहार वस्तुओंके अनुरूप ही होता है। ब्रह्मज्ञानी पिताको पिता, माताको माता, पत्नीको पत्नी और पुत्रको पुत्र मानकर ही व्यवहार करेगा। वह जहरको जहर मानेगा अमृतको अमृत ही। अतएव जो व्यक्ति जिस पदसे सम्बन्ध रखता है, उसके साथ उसी पदके अनुकूल व्यवहार होगा। भिखारीके साथ जैसा व्यवहार किया जाता है, वैसा ही व्यवहार यदि सम्राट्के साथ किया जाय तो बड़ा बुरा परिणाम होता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानीके व्यवहार शास्त्र और समाजके अनुकूल ही होते हैं। अवश्य ही, राग-द्वेष, कामना-वासना और अभिमान-अहंकार न होनेसे उसके व्यवहारमें कोई दोष नहीं आता। वह उज्ज्वलसे भी उज्ज्वल और आदर्शरूप होता है। उसके व्यवहारसे किसीका अहित नहीं होता। उतना होनेपर भी उसका व्यवहार होता है अपने स्वभावके अनुरूप ही। कर्मठ स्वभावका ज्ञानी विशेष कर्मशील होगा और विरागी स्वभावका ज्ञानी निवृत्तिपरायण होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें ही यथायोग्य व्यवहार होंगे। बुद्धियुक्त नियमित अप्रमत्त व्यवहारका अभाव तो तभी होता है जब किसी भी कारणसे बाह्य ज्ञान नहीं रहता। चाहे वह नशा खानेसे हो, पागलपनसे हो या ज्ञानकी उच्च भूमिकाओंपर पहुँचनेसे। परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञानीका प्रमत्त व्यवहार होनेपर ही उसे उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ समझा जाय। महर्षि व्यास-नारद आदिसे बढ़कर कौन ज्ञानी होंगे; परंतु उनके व्यवहार बड़ी सावधानीसे होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने तो स्वयं अपना उदाहरण देकर सावधानीके साथ नियत कर्म करनेका ज्ञानीको आदेश दिया है।

जीवन्मुक्तके द्वारा वस्तुतः कर्म नहीं होते

आपने पूछा कि 'जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा कर्म होते हैं या नहीं? यदि होते हैं तो किस प्रकार होते हैं?' और इसके उत्तरमें विस्तारपूर्वक लिखनेका अनुरोध किया, यह आपकी कृपा है। परंतु पत्रमें बहुत विस्तारके लिये पर्याप्त समय चाहिये; अतः प्रश्नका उत्तर ठीक-ठीक समझमें आ जाय, इस दृष्टिको सामने रखते हुए मैं संक्षेपमें ही लिखनेका प्रयत्न करता हूँ।

जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा वास्तवमें कर्म नहीं होते, क्योंकि ज्ञानाग्निके द्वारा उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

(४। ३७)

'अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्मसात् कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मसात् कर देती है।' उपनिषदोंमें भी देखनेमें आता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

'उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जड-चेतनकी एकात्मतारूप हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है—जड देहादिमें होनेवाले आत्माभिमानका नाश हो जाता है, समस्त

संशयोंका उच्छेद हो जाता है और सम्पूर्ण कर्म (बीजसहित) नष्ट हो जाते हैं।'

वस्तुतः 'कर्म' संज्ञा वहीं सिद्ध होती है, जहाँ कोई कर्ता होता है। जीवन्मुक्तमें कर्तापनका अहंकार रहता नहीं, इसलिये उसके द्वारा कर्म नहीं होते।

ऐसी बात होनेपर भी अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य कर्म होते रहते हैं और राग-द्वेष, कामना-वासना तथा ममता-अहंकारसे रहित होनेके कारण वे कर्म सहज ही परम उज्ज्वल, आदर्शरूप तथा सबके लिये हितकारी भी होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषका न तो उन कर्मोंसे कोई सम्बन्ध होता है; क्योंकि उसका अन्तःकरणसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, और न उन कर्मोंके होनेमें कोई बाधा आती है, क्योंकि समष्टि चेतनकी सत्तासे बिना कर्तृत्वाभिमानके पूर्वाभ्यास तथा प्रारब्धानुसार वे होते रहते हैं।

हाँ, जीवन्मुक्त—भगवत्प्राप्त पुरुषके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकार या दोष नहीं रहते; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिसे पूर्व ही अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और उस अहंकाररहित शुद्ध अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकारोंके उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आपने कुछ लोगोंके उदाहरण देकर जो काम-क्रोधादिका होना बतलाया है, इस सम्बन्धमें मुझे पता नहीं, वे लोग जीवन्मुक्त थे या नहीं; मान्यता तो सिद्धान्तकी होनी चाहिये, न कि किसी पुरुषविशेषके आचरणकी।

काम-क्रोधादि स्वभाव नहीं, विकार हैं

याद रखो—काम, क्रोध, लोभ आदि तुम्हारे स्वभाव नहीं हैं, विकार हैं। स्वभाव या प्रकृतिका परिवर्तन बहुत कठिन है, असम्भव-सा है; पर विकारोंका नाश तो प्रयत्नसाध्य है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें 'ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, प्रकृतिका निग्रह कोई क्या करेगा'—कहा है; पर साथ ही काम-क्रोध, लोभको आत्माका पतन करनेवाले और नरकोंके त्रिविध द्वार बतलाकर उन्हें त्याग करनेके लिये कहा है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मण-क्षत्रियादि प्रकृतिका त्याग बहुत ही कठिन है, पर काम-क्रोधादि विकारोंका त्याग कठिन नहीं है।

याद रखो—काम-क्रोधादि विकार तभीतक तुमपर अधिकार जमाये हुए हैं, जबतक इन्हें बलवान् मानकर तुमने निर्बलतापूर्वक इनकी अधीनता स्वीकार कर रखी है। जिस घड़ी तुम अपने स्वरूपको सँभालोगे और अपने नित्य-संगी परम सुहृद् भगवान्‌के अमोघ बलपर इन्हें ललकारोगे, उसी घड़ी ये तुम्हारे गुलाम बन जायँगे और जी छुड़ाकर भागनेका अवसर ढूँढ़ने लगेंगे।

याद रखो—ये विकार तो दूर रहे, ये जिनमें अपना अड्डा जमाकर रहते हैं और जहाँ अपना साम्राज्य-विस्तार किया करते हैं, वे इन्द्रिय-मन भी तुम्हारे अनुचर हैं। तुम्हारी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले हैं, पर तुमने उनको बड़ा प्रबल मानकर अपनेको उनका गुलाम बना रखा है, इसीसे वे तुम्हें इच्छानुसार नचाते और दुर्गतिके गर्तमें गिराते हैं।

याद रखो—जितने भी बुरे कर्म होते हैं, उनमें ये काम-क्रोध आदि विकार ही प्रधान कारण हैं। ये ही तुम्हारे प्रबल शत्रु हैं, जिनको तुमने अपने अंदर बसा ही नहीं रखा है, बल्कि उनके पालन-पोषण और संरक्षणमें भ्रमवश तुम गौरव तथा सुखका अनुभव करते हो।

याद रखो—ये काम, क्रोध, लोभ और इनके साथी-संगी मान, अभिमान, दर्प, दम्भ, मोह, कपट, असत्य और हिंसा आदि दोष जबतक मानव-जीवनको कलुषित करते रहेंगे, तबतक उसका उद्धार होना अत्यन्त कठिन है; पर ये ऐसे प्रबल हैं कि प्रयत्न करनेपर भी सहजमें जाना नहीं चाहते!

याद रखो—ये कितने ही प्रबल क्यों न हों—आत्माके तथा भगवान्‌के बलके सामने इनका बल कोई भी स्थान नहीं रखता। जैसे सूर्याभाससे ही अन्धकारका नाश होने लगता है, वैसे ही भगवान्‌की शक्तिके प्रकाशका अरुणोदय इन्हें तत्काल नाश कर डालता है। उसके सामने ये खड़े भी नहीं रह सकते।

याद रखो—आत्मा तो तुम्हारा स्वरूप ही है और भगवान् उस आत्माके भी आत्मा हैं। आत्माके साथ उनकी सजातीयता तो है ही, एकात्मता भी है। अनुभूति होनेभरकी देर है, फिर तो इन विकारोंकी सत्ता वैसी ही रह जायगी, जैसी जागनेके बाद स्वप्नके पदार्थोंकी रह जाती है।

मन, बुद्धि आदिके स्वरूप

आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) अन्तःकरणमें जो मनन या संकल्प-विकल्प करनेकी वृत्ति है, उसीका नाम मन है। मन संशयात्मक होता है, उस संशय या संकल्प-विकल्पपर विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचानेवाली जो वृत्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि विचारपूर्वक निर्णय देती है। आत्मा इन दोनों वृत्तियोंका साक्षी अथवा द्रष्टा है। वह मन और बुद्धि दोनोंके कार्योंको तटस्थ रहकर देखता है। उसीके सहज प्रकाशसे मन, बुद्धि अपने कार्यमें समर्थ होते हैं। आत्मा मनका भी मन और बुद्धिकी भी बुद्धि है। यदि मन और बुद्धिको आत्माका आश्रय न प्राप्त हो, वे सत्ताशून्यकी भाँति हो जाते हैं, फिर वे कुछ नहीं कर सकते। यही इन तीनोंका अन्तर है।

(२) मन जिस कार्यके लिये आज्ञा देता है, उसमें उसका कुछ राग या द्वेष अवश्य रहता है। वह प्रायः ऐसी प्रेरणाएँ देता है, जिनसे उसकी इच्छा पूर्ण हो। विषयसेवन या भोगसंग्रहकी प्रेरणा मनके द्वारा ही प्राप्त होती है। वह रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—भोगोंके प्रति आसक्त होता है, अतः उनकी ओर वह हमें आकृष्ट करना चाहता है। जीवको वह अपने पीछे चलाना चाहता है। किसी शत्रुसे बदला लेनेकी भावना भी मनमें होती है, अतः वैसे कार्य भी उसीकी प्रेरणासे होते हैं। उनमें द्वेष छिपा रहता है। राग और द्वेष ही क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें परिणत होते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये ही तीनों राग-द्वेष या काम-क्रोधके निवास-स्थान हैं, अतः इनका प्रत्येक कार्य राग या द्वेषसे प्रेरित होता है। आत्मा इन सबसे ऊपर है, वह जबतक मन आदिके मोहजालमें फँसकर अपने स्वरूपको भूला हुआ है,

तभीतक मनके इशारेपर चलता है। 'मैं इन सबका स्वामी, शासक और इनसे सर्वथा विलक्षण हूँ। मैं सर्वत्र व्यापक एवं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हूँ।'—यह ज्ञान होते ही वह इन मन आदिका शासक हो जाता है; फिर तो ये ही आपके आत्माके अनुशासनमें चलते हैं। विशुद्ध आत्मासे प्रेरित होकर जो कार्य होगा, उसमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं होगी। सबके प्रति मैत्री, दया, परोपकार, सेवा, भगवद्‌भजन, सत्संग तथा सत्कर्म आदिके भाव मनमें तभी जगते हैं, जब विशुद्ध आत्माकी प्रेरणा होती है। मन, इन्द्रिय आदि जब आत्माके अधीन होते हैं, तब इनके द्वारा कोई अशुभ कर्म नहीं होता। थोड़ेमें इतना समझ लें कि सद्धर्म एवं सद्‌भावपूर्ण कार्योंके लिये प्रेरणा आत्मासे मिलती है और राग-द्वेषपूर्ण कार्योंकी प्रेरणा मनकी ओरसे प्राप्त होती है।

जो कर्म राग-द्वेषरहित और वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे होते हैं, उनसे प्रसाद—चित्तकी निर्मलता-प्रसन्नता या भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है और उससे समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

(३) विशुद्ध आत्माका नाम ही परमात्मा है, दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इस आत्मा या परमात्माका कभी पतन नहीं होता। जैसे घटाकाश या महाकाशमें कोई अन्तर नहीं वैसे ही शरीरान्तर्यामी आत्मा और परमात्मामें भी कोई अन्तर नहीं। मन, प्राण और सूक्ष्म इन्द्रियोंका समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहलाता है। यह स्थूल शरीरके भीतर रहता है। इसीकी प्रेरणाके अनुसार स्थूल शरीरद्वारा

क्रियाएँ होती हैं। इस सूक्ष्म-शरीरके साथ तादात्म्य हुए आत्माको जीव कहते हैं। इसी सूक्ष्म-शरीरमें राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति होती है, अतः उसीका पतन होता है। वही नरकमें और वही स्वर्गमें भी जाता है। उसीका जन्म और उसीकी मृत्यु होती है। इस प्रकार आत्मा जबतक इस सूक्ष्म-शरीरको अपना स्वरूप मानता है, तभीतक उसके सुख-दुःखसे वह सुखी-दुःखी होता है और विविध योनियोंमें भटकता रहता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक समस्त पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।' उस सूक्ष्म-शरीरके ही पतनका आरोप लोग अज्ञानवश आत्मापर करते हैं। क्या घड़ेमें रखी हुई कीचड़का लेप आकाशमें भी लग सकता है? इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीरके दोष आत्माको छू भी नहीं सकते। अतः सूक्ष्म-शरीर या उसका अभिमानी जीव पतित होता है, आत्मा या परमात्मा नहीं।

(४) आत्मा या परमात्मा अनादि और अनन्त है। जन्म लेता है सूक्ष्म-शरीर और वही मरता भी है। अज्ञानवश लोग आत्मापर उसका आरोप करते हैं। मनुष्य जन्म लेता है, इससे आत्माका जन्म लेना कैसे सिद्ध हुआ? एक विशेष प्रकारके शरीरको मनुष्य कहते हैं। आत्माका शरीरसे क्या सम्बन्ध? सूक्ष्म-शरीरके द्वारा जो शुभाशुभ कर्म सम्पादित होते हैं, उन्हींके फलस्वरूप उसको मनुष्य आदि जीवोंके स्थूल-शरीर प्राप्त होते हैं।

आत्मा नहीं मरता, जीव ही जन्मता-मरता दीखता है

जैसे एक अनन्त आकाश है; वह कभी टूटता नहीं; नया बनता नहीं; स्वरूपतः उसमें कुछ नहीं होता; पर उसी आकाशमें जैसे अनन्त नगर-ग्राम बसे हैं, उन नगरों, ग्रामोंमें असंख्य भवन बने हैं, प्रत्येक भवनमें अलग-अलग नाम तथा आकारवाले कमरे-कोठरी आदि बने हैं। उन कमरे-कोठरीकी दीवारोंसे घिरे हुए जितने आकाशके अंश हैं, वे एक महान् आकाशकी दृष्टिसे नित्य आकाश-स्वरूप ही हैं; पर दीवारके घेरेसे उतने अंशका नामकरण हो गया है, जैसे मन्दिर, रसोईघर, पूजागृह, पाखाना आदि तथा लम्बाई-चौड़ाईका आकार—रूप बन गया है और समय-समयपर वे दीवारें टूटती हैं, नयी बनती हैं; कमरोंके नाम बदल जाते हैं और वास्तवमें इतना सब होनेपर भी महान् आकाश सदा स्वरूपस्थित तथा निर्लेप है; इसी प्रकार स्वरूपतः एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। वह शस्त्रोंसे कटता नहीं, आगसे जलता नहीं, जलसे भीगता नहीं, वायुसे सूखता नहीं। वह सदा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है। वही नित्य है, सर्वगत है, घन है, अचल है, सनातन है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(गीता २। २३-२४)

पर उसी आत्मामें प्रकृतिके संयोगसे नानात्व आ जाता है और जबतक आत्माका जितना, जो अंश प्रकृतिस्थ रहता है तबतक उसकी

'जीव' संज्ञा है और तबतक वह प्रकृतिके गुणोंको भोगता है और मरता तथा अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता हुआ दिखायी पड़ता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३।२१)

यहाँ तत्त्वतः आत्मा नित्य, असंग, निर्लेप, जन्म-मृत्युरहित होते हुए ही प्रकृतिके संयोगसे जन्म-मरणयुक्त देखा जाता है; पर मान लीजिये—किसी कमरेके अंदरका दीवारसे घिरा आकाश यह अनुभव करे कि 'मैं तो महान् आकाश हूँ। ये सारे कमरे-कोठरी मुझमें ही बने हैं; इनकी पुरानी दीवारें टूटती, नयी बनती हैं। मैं अपनेको दीवारसे घिरा अंश होनेके कारण अबतक छोटा-सा कमरा मानता था और कमरेके नाम-रूपमें अहंकार था, इसीसे सुखी-दुःखी होता था। अब मैं प्रकृतिके इस कल्पित संयोगका त्याग करके कल्पित नाम-रूपसे सम्बन्धरहित हो गया। प्रकृतिस्थ—प्रकृतिमें स्थित न रहकर स्व—आत्मामें अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया। अतः मेरे लिये अब सुख-दुःख समान हो गये। सोना, लोहा, पत्थर—समान हो गये; क्योंकि मैं अब 'स्व-स्थ' हो गया।' ऐसा मानते ही क्षुद्र नाम-रूपात्मक व्यष्टि अहंकारसे निकलकर एक समष्टि परमात्मामें स्थित होते ही वह मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति है। मुक्ति तो पहले भी थी, मिथ्या मोह था; अब वह मोह नहीं रहा।

'समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।'

(गीता १४।२४)

इस प्रकार आत्मा एक है, जन्म-मरणरहित है, सुख-दुःख-शून्य है; पर प्रकृति-संयोगसे जीव अनन्त हैं। जीवमें असत् होनेपर भी सुख-दुःख-भोग तथा जन्म-मरणकी प्रतीति प्रत्यक्ष अनुभवरूपसे होती है और जबतक वह जीवरूप रहेगा, तबतक होती ही रहेगी।

श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञानके बीस साधन

(अध्याय १३ श्लोक ७ से ११)

१-अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान न रखना।
२-दम्भका सर्वथा त्याग करना।
३-अहिंसा-व्रतका पालन करना।
४-अपना बुरा करनेवालेका अपराध भी क्षमा कर देना।
५-मन-वाणी-शरीरसे सरल रहना।
६-श्रद्धा-भक्तियुक्त होकर आचार्यकी सेवा करना।
७-बाहर और भीतरसे शुद्ध रहना।
८-मनको स्थिर रखना।
९-बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखना।
१०-इस लोक और परलोकके सभी भोगोंमें वैराग्य हो जाना।
११-अहंकारका न रहना।
१२-जन्म, जरा, रोग और मृत्यु आदि दुःख तथा दोषोंका खयाल रखना।
१३-स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिमें मनका फँसा न रहना।
१४-परमात्माके सिवा किसी वस्तुमें 'मेरापन' न रहना।
१५-प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें चित्तका सदा समान रहना।
१६-एक परमात्माकी अनन्य भक्तिमें लगे रहना।
१७-शुद्ध एकान्त देशमें साधनके लिये निवास करना।
१८-सांसारिक मनुष्य-समुदायमें राग न रहना।
१९-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञानमें नित्य-निरन्तर लगे रहना।
२०-तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सदा सर्वत्र देखना।

(यह तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका साधन ज्ञान है, इसके विपरीत अभिमान-दम्भादि आचरण ही अज्ञान है)

भगवद्गीताके अनुसार गुणातीत या ज्ञानीके चौदह लक्षण

(अध्याय १४ श्लोक २२से २६)

१-जो तीनों गुणोंके कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहसे उदासीन रहता है।

२-जो साक्षीकी भाँति रहकर गुणोंके द्वारा विचलित नहीं होता।

३-जो गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, ऐसा समझकर अपनी आत्म-स्थितिमें अचल रहता है।

४-जो सुख-दुःखको समान समझता है।

५-जो स्व-स्वरूपमें सदा स्थित रहता है।

६-जो मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझता है।

७-जो प्रिय और अप्रियको एक-सा समझता है।

८-जो किसी भी अवस्थामें अधीर नहीं होता।

९-जो अपनी निन्दा-स्तुतिको समान समझता है।

१०-जो मान-अपमानको समान समझता है।

११-जो शत्रु और मित्रमें भेदभाव नहीं रखता।

१२-जो सभी कर्मोंके आरम्भमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है।

१३-जो अनन्यभक्तिसे परमात्माका स्वाभाविक ही सेवन करता है।

१४-जो गुणोंकी सीमाको लाँघकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है।

गीताके अर्थके लिये आग्रह मत करो

अभिमानवश यह मत कहो कि भगवान् ऐसे ही हैं और शास्त्रका तत्त्व यही है। याद रखो—भगवान्का यथार्थ ज्ञान पुस्तकें पढ़नेसे, तर्कयुक्तियोंकी प्रबलतासे या केवल दर्शनोंकी मीमांसासे नहीं हो सकता। इनसे बुद्धिकी प्रखरता तो बढ़ती है; परंतु आगे चलकर वही बुद्धि ऐसे तर्कजालमें फँसा देती है कि फिर बाध्य होकर अभिमान और राग-द्वेषादिका प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है और जीवन ही जंजाल बन जाता है।

भगवान् सारी गीता कह जानेके बाद अठारहवें अध्यायके अन्तिम भागमें अपने यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय बतलाते हैं। गीता तो सुना ही दी थी, फिर आवश्यकता क्या थी उपाय बतलानेकी? उपाय बतलानेका यही तात्पर्य है कि केवल पढ़नेसे काम नहीं होता, पढ़-सुनकर वैसा करना पड़ेगा, तब भगवान्की 'परा भक्ति' मिलेगी और परा भक्ति मिलनेपर भगवत्कृपासे भगवान्का यथार्थ ज्ञान होगा।

वे उपाय ये हैं—

सारी पाप-तापकी, छल-छिद्रकी, दम्भ-दर्पकी और ऐसे ही अन्यान्य दोषोंकी भावनाको मिटाकर बुद्धिको परम शुद्ध करो; एकान्तमें रहकर वृत्तियोंको संयत करो; परिमित और शुद्ध आहार करके शरीरका शोधन करो; मन, वाणी और शरीरपर अपना अधिकार स्थापन करो; दृढ़ वैराग्य धारण करो; नित्य भगवान्का ध्यान करो; विशुद्ध धारणासे अन्तःकरणका नियमन करो; शब्दादि सब विषयोंका त्याग करो; राग-द्वेषकी जड़ काटो; अहंकार, बल, दर्प, काम,

क्रोध और परिग्रहका त्याग करो। सब जगहसे ममताको हटा लो और ऐसा करके चित्तको सर्वथा शान्त कर लो, तब ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य होओगे। इसके बाद ब्रह्मभूत-अवस्था, अखण्ड प्रसन्नता, शोक और आकांक्षासे रहित सम-स्थिति और सब भूतोंमें सम एकात्मभावके प्राप्त होनेपर, तब भगवान्‌की 'परा भक्ति' प्राप्त होगी। उस परा भक्तिसे भगवान्‌के तत्त्वका अर्थात् भगवान् कैसे हैं, क्या हैं—यह ज्ञान होगा और तदनन्तर ऐसा यथार्थ ज्ञान होते ही तुम भगवान्‌में प्रवेश कर जाओगे।

× × × ×

सोचो, जिनको भगवान्‌का ऐसा ज्ञान हो गया, वे तो भगवान्‌में प्रवेश कर गये। जिनको ज्ञान नहीं हुआ, वे भगवान्‌को जानते नहीं। ऐसी अवस्थामें यह कहना कि 'मैं भगवान्‌का तत्त्व जानता हूँ'—अहम्मन्यता ही तो है।

× × × ×

लड़ना छोड़ो—यह मत कहो कि 'भगवान् निर्गुण ही हैं, निराकार ही हैं, सगुण ही हैं, साकार ही हैं।' वे सब कुछ हैं, उनकी वे ही जानें।

तुम पहले यह सोचो कि ऊपर बतलाये हुए उपायोंमेंसे तुमने कौन-कौन-सा उपाय पूरा साध लिया है। जब रास्ते ही नहीं चले, तब लक्ष्य-स्थानका रूप-रंग बतलाना कैसा? राह चलो, साधन करो। चलकर वहाँ पहुँच जाओ, फिर आप ही जान जाओगे, वहाँका रूप-रंग कैसा है।

× × × ×

चलना तो शुरू ही नहीं किया और लड़ने लगे नक्शा देखकर! इससे बताओ तो क्या लाभ होगा? नक्शेमें ही रह

जाओगे, असली स्वरूप तो सामने आवेगा नहीं, इसलिये विचार करो और अकड़ छोड़कर साधन करो; याद रखो—साधनकी पूर्णता होनेपर ही साध्यका स्वरूप सामने आता है।

भगवान्‌को जाननेके जो उपाय ऊपर बतलाये गये हैं, वे न हो सकें तो श्रद्धाके साथ भगवान्‌के शरणागत हो जाओ। कहोगे हम तो भगवान्‌को जानते ही नहीं फिर किस भगवान्‌की शरण हो जायँ। इसीलिये तो भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ।' बस, भगवान्‌की इस बातको मानकर अर्जुनको उपदेश देनेवाले सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त समुद्र परम प्रिय परम गुरु परम ईश्वर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी शरण हो जाओ। उनके इन शब्दोंको स्मरण रखो—मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, मैं शपथ करके कहता हूँ तुम मुझको ही प्राप्त होओगे—याद रखो, तुम मुझे बड़े प्यारे हो!'

× × × ×

और क्या चाहिये? बस, यदुकुलभूषण नन्दनन्दन आनन्द-कन्द भगवान् मुकुन्दकी शरण हो जाओ, उनके कृपा-कटाक्षमात्रसे अपने-आप ही तुम सारे साधनोंसे सम्पन्न हो जाओगे, तुम्हें 'परा भक्ति' प्राप्त हो जायगी और तब तुम उन्हें यथार्थरूपमें जान सकोगे।

× × × ×

गीतामें उन्होंने जो दिव्य वचन कहे हैं, उनके अनुसार अपनेको योग्य बनानेकी चेष्टा करते रहो, दैवीसम्पत्ति और भक्तोंके गुणोंका अर्जन करो। करो उन्हींके कृपाके भरोसे। और मन, वाणी, शरीरसे बारम्बार अपनेको एकमात्र उन्हींके चरणोंमें अर्पण करते रहो। जिस क्षण तुम्हारे समर्पणका

भाव यथार्थ समर्पणके स्वरूपमें परिणत हो जायगा, उसी क्षण वे तुम्हें अपनी शरणमें ले लेंगे—बस, उसी क्षण तुम निहाल हो जाओगे।

इसलिये तर्कजालमें मत पड़ो, सिद्धान्तको लेकर मत लड़ो, साध्यतत्त्वकी मीमांसा करनेमें जीवन न लगाओ। जिनको पाण्डित्यका अभिमान है उन्हें लड़ने दो; तुम बीचमें मत पड़ो। तुम तो बस, श्रीकृष्णको ही साध्यतत्त्व मानकर उनका आश्रय ले लो। गीतामें भगवान्‌ने इसीको सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। गीता पढ़कर तुमने यदि ऐसा कर लिया तो निश्चय समझो—गीताका परम और चरम तत्त्व तुम अवश्य ही जान जाओगे। नहीं तो, झगड़ते रहो और नाक रगड़ते रहो, न तत्त्व ही प्रकाशित होगा और न दुःखोंसे ही छूटोगे।

गीताके विभिन्न अर्थोंकी सार्थकता

एक बार देवता, मनुष्य और असुर पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्य-भावसे शिक्षा प्राप्त करनेको गये और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। ब्रह्मचर्यव्रत पूरा होनेपर सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया 'द'। फिर उनसे पूछा कि 'क्यों, तुमने मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ समझा कि नहीं?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये।' (हम देवताओंके लोकोंमें भोगोंकी भरमार है। भोग ही देवलोकका प्रधान सुख माना गया है। कभी वृद्ध न होकर हम देवगण सदा इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। हमारे विलासमय जीवनपर ध्यान देकर हमें सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये) आपने कहा है—'तुमलोग इन्द्रियोंका दमन करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। तुमसे मैंने यही कहा था।'

फिर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। तदनन्तर पूछा कि 'तुमलोग मेरे उपदेशको समझ गये न?' संग्रह-प्रिय मनुष्योंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग कर्मयोनि होनेके कारण लोभवश नित्य-निरन्तर कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। हमारी स्थितिपर सम्यक् विचार करके हमलोगोंके कल्याणके लिये) आपने हम लोभियोंको यही उपदेश दिया है कि तुम दान करो।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही भाव था, तुमलोग ठीक समझे।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनसे भी कह दिया 'द'। फिर पूछा कि 'मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं?' असुरोंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये।' (हमलोग स्वभावसे ही अत्यन्त क्रूर और हिंसापरायण हैं। क्रोध और मार-काट हमारा नित्यका काम है। हमें इस पापसे छुड़ाकर सन्मार्गपर लानेके लिये) आपने कहा है—'तुम प्राणिमात्रपर दया करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। मैंने तुमलोगोंको यही उपदेश दिया है।'

'द' अक्षर एक ही है, परंतु अधिकारिभेदसे ब्रह्माजीने इसका उपदेश विभिन्न तीन अर्थोंको मनमें रखकर किया। और ऐसा करना ही सर्वथा उपयुक्त था। यही तो भगवद्वाणीकी महिमा है। वह एक ही प्रकारकी होनेपर भी सर्वतोमुखी और विश्वके समस्त विभिन्न अधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार विभिन्न मार्ग दिखलाती है। सबका लक्ष्य एक ही है—परमधाममें पहुँचा देना अथवा भगवत्-प्राप्ति करवा देना।

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखकी वाणी है। इसीलिये वह सर्वशास्त्रमयी है और किसी भी दिशा और दशामें पड़े हुए प्राणीको ठीक उपयुक्त मार्गपर लाकर अच्छी स्थितिमें परिवर्तितकर कल्याणकी ओर लगा देती है। भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकार रखनेवाले मनुष्योंको उनकी रुचि और अधिकारके अनुसार ही कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कर भगवान्‌की ओर गति करा देती है। यही कारण है कि शुद्ध अन्तःकरणवाले महापुरुषने भी गीताको भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा है और उसके अर्थको भी विभिन्न रूपोंमें समझा है यह भगवान्‌की वाणीका महत्त्व और विशेषत्व है कि वह

'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥' के अनुसार विभिन्न अर्थोंमें आत्मप्रकाशकर सबको कल्याणके दर्शन करा देती है। अतएव गीताके अर्थोंमें विभिन्नता देखकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

गीताके अनुभवी प्रातःस्मरणीय आचार्यों और महात्माओंने भी इसी दृष्टिसे लोकोपकारार्थ गीतापर भाष्य और टीकाओंकी रचना की है। उनमें परस्पर विरोध देखकर एक-दूसरेको नीचा समझनेकी या किसीकी निन्दा करनेकी जरा भी रुचि और प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उन महापुरुषोंने जो कुछ भी कहा है, अपने-अपने अनुभवके अनुसार हमलोगोंके कल्याणार्थ सर्वथा सत्य और समीचीन ही कहा है। जिसकी जिसमें रुचि और श्रद्धा हो, उसको आदर और विश्वासके साथ उसीका अनुसरण करना चाहिये। प्राप्तव्य सत्य वस्तु या भगवान् एक ही हैं, मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और उनका भिन्न-भिन्न होना सर्वथा सार्थक और आवश्यक है। पुष्पदन्ताचार्यने ठीक ही कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'जिस प्रकार सभी नदियोंका जल अन्ततः समुद्रमें ही जाता है, उसी प्रकार रुचिकी विभिन्नताके कारण सीधे और टेढ़े—नाना मार्गोंपर चलनेवाले सभी मनुष्योंके ध्येय गन्तव्य स्थान आप ही हैं।'

गीतापर विभिन्न भाषाओंमें सैकड़ों भाष्य, टीका, अनुवाद, निबन्ध और प्रवचन लिखे जा चुके और लिखे जा रहे हैं। इनमें जो दैवी-सम्पत्तियुक्त भगवत्परायण शुद्धान्तःकरण तथा विवेक-वैराग्य-सम्पन्न साधकों और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा

लिखे गये हैं वे चाहे किसी भी भाषामें हों, सभी परस्पर मतभेद रखते हुए भी भगवद्वाणीकी दृष्टिसे सर्वथा यथार्थ और सम्मान्य तथा मनन करनेयोग्य हैं। इन महानुभाव भाष्य और टीका-लेखकोंका ही अनुग्रह है जिससे आज लोग गीताको किसी-न-किसी अंशमें समझनेमें समर्थ हो रहे हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकाएँ संस्कृत भाषामें हैं। भगवान् शंकराचार्यसे पूर्ववर्ती आचार्यों और विद्वानोंके भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं; परंतु मालूम होता है कि गीतापर आचार्य शंकरसे पूर्व भी बहुत कुछ लिखा गया था। इस समय प्राप्त भाष्यों और टीकाओंमें कुछ तो खास आचार्योंके स्वयं लिखे हुए हैं और कुछ उनके अनुयायी विद्वानोंके। यों तो अनेकों सम्मान्य मतवाद हैं; परंतु उनमें जिनके अनुसार गीतापर भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं वे प्रधानतया निम्नलिखित छः ही हैं—

१-श्रीशंकराचार्यका अद्वैतवाद। २-श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद। ३-श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद। ४-श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद। ५-श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद और ६-श्रीचैतन्यमहाप्रभुका अचिन्त्य भेदाभेदवाद।

उपर्युक्त वादोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१-अद्वैतवाद

सिद्धान्त—इसमें सम्पूर्ण प्रपंचको दो प्रधान भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह नित्य और चेतन तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करता है और दूसरा वह जो अनुभवका विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियोंके द्रष्टाका नाम 'आत्मा' है और उसका जो कुछ

विषय है वह सब 'अनात्मा' है। यह आत्मतत्त्व सत्, नित्य, निरंजन, निश्चल, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, असंग, कूटस्थ, एक और सनातन है। बुद्धिसे लेकर स्थूल भूतपर्यन्त जितना भी प्रपंच है उसका वस्तुतः आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें वह असत् है, अविद्याके कारण ही जीव असत् देह और इन्द्रियादिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करके अपनेको देव-मनुष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मूर्ख-विद्वान्, सुखी-दुःखी और कर्ता-भोक्ता आदि मानता है। बुद्धिके साथ जो आत्माका यह तादात्म्य है, इसीका नाम अध्यास है। अविद्याजनित इस अध्यासके कारण ही सम्पूर्ण प्रपंचमें सत्यत्वकी प्रतीति हो रही है। मायाके कारण ही इस दृश्यवर्गकी सत्ता और विभिन्नता है, वस्तुतः तो एक, अखण्ड, शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन, विज्ञानानन्दघन, चिन्मात्र आत्मतत्त्व ही है। इसीको 'अध्यासवाद', 'विवर्तवाद' या 'मायावाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—सम्पूर्ण पृथक्-पृथक् प्रतीतियोंमें एक अखण्ड, नित्य शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन आत्मतत्त्वका अनुभव करना ही ज्ञान है और सबके अधिष्ठान तथा सबको सत्ता देनेवाले इस एक अखण्ड आत्म-तत्त्वपर दृष्टि न रखकर भेदमें सत्यत्व-बुद्धि करना ही अज्ञान है। जैसे भाँति-भाँतिके मिट्टीके बर्तन वस्तुतः केवल मिट्टी ही हैं, सोनेके विविध प्रकारके गहने सब सोना ही हैं, स्वप्नका विचित्र संसार सब स्वप्नद्रष्टा ही है और जलमें दिखायी पड़नेवाले भँवर और तरंगें सब जल ही हैं, वैसे ही विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह जगत् केवल शुद्ध-बुद्ध एकमात्र ब्रह्म ही है और वही अपना आत्मा है। इस प्रकारका यथार्थ बोध ही ज्ञान है। इस बोधके होते ही जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता

है और सम्यक् बोधके कारण अविद्याके अध्यासका सर्वथा अभाव होनेसे जीव जीवभावसे मुक्त होकर दूसरोंकी दृष्टिमें शरीरके बने रहनेपर भी जीवन्मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान है। जबतक जीव इस ज्ञानको प्राप्त नहीं होता तबतक उसकी अविद्याकी गाँठें नहीं खुलतीं और वह आवागमनमय मिथ्या प्रपंचजालसे मुक्त नहीं होता।

साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—इस ज्ञानके साक्षात् साधन हैं। आत्मतत्त्वको जाननेकी दृढ़ जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही वे साधन किये जा सकते हैं। और ऐसी जिज्ञासा अन्त:करणकी सम्यक् शुद्धि हुए बिना उदय नहीं होती। अन्त:करणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमानुकूल कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करना और भगवान्‌की भक्ति करना आवश्यक है। ऐसा करनेपर मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व प्राप्त करता है। तब उसमें जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है। सच्चे जिज्ञासु और बोधसम्पन्न ज्ञानी दोनोंके लिये ही स्वरूपत: 'सर्वकर्मसंन्यास' की आवश्यकता है। चित्तशुद्धिके अनन्तर कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ही आत्म-तत्त्वका सम्यक् बोध और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

२-विशिष्टाद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। अचित् अर्थात् जड प्रकृति, चित् अर्थात् चेतन आत्मा और ईश्वर। स्थूल, सूक्ष्म, चेतनाचेतनाविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर हैं। ये सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, चिदचिच्छरीरत्व और समस्त द्रव्यशरीरत्व

आदि इनके लक्षण हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी हैं और अशेष कल्याणमय गुणोंके धाम हैं। अपार कारुण्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य और ऐश्वर्यके महान् समुद्र हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारके भेदसे वे पाँच प्रकारके हैं। शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री, भू और लीलासमन्वित हैं।

जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर हैं। जगत् जड है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं और वे ही जगत्-रूपमें परिणत हुए हैं। फिर भी वे विकाररहित हैं। जीव चेतन और अणु है। ब्रह्म और जीवमें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है। ईश्वर कारण हैं, जीव कार्य है। ईश्वर और जीव दोनों स्वयंप्रकाश हैं, ज्ञानाश्रय और आत्मस्वरूप हैं। जीव नित्य है और उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव है। जीव स्वभावतः दुःखरहित है। उपाधिवश संसारके भोगोंको प्राप्त होता है। जीवके कई भेद हैं। इसीको 'परिणामवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—भगवान्के दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। परम-धाम वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला महादेवियोंके साथ नारायणकी सेवाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। पांचभौतिक देहसे छूटकर अप्राकृत शरीरसे नारायणका सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवान्के साथ जीवका अभिन्नत्व कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है; और नित्य दास तथा नित्य, अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। मुक्त जीव वैकुण्ठधाममें अशेष-कल्याण-गुणनिधि भगवान्के नित्य दासत्वको प्राप्त होकर दिव्य आनन्दका अनुभव करते हैं।

साधन—मुक्तिका साधन ज्ञान नहीं, किंतु भक्ति है। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा प्रसन्न होकर जब भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं तभी मुक्ति होती है; भक्तिका सर्वोत्तम स्वरूप प्रपत्ति या आत्मसमर्पण है। वैकुण्ठनाथ, विभु, श्रीमन्नारायणके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर देनेपर ही जीवको परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।

३-द्वैतवाद

सिद्धान्त—भगवान् श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। वे सगुण और सविशेष हैं। वे ही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही सच्चिदानन्दात्मक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं और अनन्त दिव्य कल्याणगुणोंके आश्रय हैं। वे देश और कालसे परिछिन्न नहीं हैं; असीम अनन्त हैं और स्वतन्त्र हैं। जीव अणु है, भगवान्‌का दास है और अनादिकालसे मायामोहित, बद्ध तथा सर्वथा अस्वतन्त्र है। वह अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है। जगत् सत्य है और भेद वास्तविक है। इस भेदके भी पाँच अवान्तर भेद हैं। १-जीव-ईश्वरका भेद, २-जीव-जडका भेद, ३-ईश्वर-जडका भेद, ४-जीवोंका परस्पर भेद और ५-जडोंका परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं, इनमें कोई औपचारिक नहीं है। सब जीव ईश्वरके अधीन हैं। जीवोंमें भी तारतम्य है। जगत् सत्, जड और अस्वतन्त्र है, भगवान् जगत्‌के नियामक हैं। इसको 'स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—जीवन्मुक्ति या निर्वाण मुक्ति नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर अर्थात् ईश्वरसे जीव पूर्णरूपसे पृथक् है, इसे यथार्थरूपसे जानकर ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि उनके अनन्त असीम सामर्थ्य, शक्ति और गुणोंका

बोध होनेपर ही भगवान्‌के दिव्य लोक और स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यही मुक्ति है। मुक्त जीव भी ईश्वरका नित्य सेवक ही रहता है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिका प्रधान साधन है। वेदाध्ययन, इन्द्रिय-संयम, विलासिताका त्याग, आशा और भयका अभाव, भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण, सत्य-हित-प्रिय वचन बोलना और स्वाध्याय करना, दान देना, विपत्तिमें पड़े हुए जीवकी रक्षा करना, शरणागतको बचाना, दया, भगवान्‌का दासत्व प्राप्त करनेकी इच्छा और हरि, गुरु तथा शास्त्रमें श्रद्धा—इन सबको भगवान्‌के समर्पण करके करते रहना ही भक्ति है।

४-द्वैताद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं। निर्विकार और निर्गुण हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार ब्रह्मसे ही होता है। ब्रह्म ही इस ब्रह्माण्डके निमित्त और उपादान कारण हैं। ब्रह्मसत्ताकी चार अवस्थाएँ हैं—१-मूल अवस्था अव्यक्त, निर्विकार, देशकालादिसे अनवच्छिन्न और अचिन्त्यानन्त-स्वगत-सौख्यसिन्धुमय है। २-दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी है। इसमें ईश्वरत्वके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान है। ३-तीसरी अवस्था रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शको यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूतिकी है। इसीका नाम जीव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—एक जो इन व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् अनुभव करते हैं और जो अविद्यासे मुक्त हैं। दूसरे जो इन व्यष्टिगत रूपादिका अनुभव करते हैं, परंतु इनके आश्रयस्वरूप विभु आत्माको नहीं जानते इस कारण जो बद्ध हैं। ४-चौथी अवस्था वह है जिसमें ब्रह्म विश्वके रूपमें व्यक्त होता है। ब्रह्मको

छोड़कर इस विश्वकी कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु, विभु, सगुण-निर्गुण सभी कुछ हैं, परंतु उनकी पूर्ण आनन्द-सुधा-सिन्धुमयी, सनातनस्वरूप सत्ता सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकरस है।

जीव ब्रह्मका अंश है, ब्रह्म अंशी है। ब्रह्म ही जगत्-रूपमें परिणत हुए हैं। जगत्-रूपमें परिणत होने तथा जगत् ब्रह्ममें लीन होनेपर भी उनमें कोई विकार नहीं होता। जीव अणु और अल्पज्ञ है। मुक्त जीव भी अणु ही है। मुक्त और बद्धमें यही भेद है कि मुक्त जीव ब्रह्मके साथ अपने और जगत्के अभिन्नत्वका अनुभव करता है और बद्ध जीव ऐसा नहीं करता।

मुक्ति—भगवान् वासुदेव ही वे ब्रह्म हैं और उनकी प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त करके परमानन्दको प्राप्त हो जाना ही मुक्ति है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। भगवान्के नाम-गुणोंका चिन्तन, उनके स्वरूपका ध्यान और भगवान्की युगलमूर्तिकी उपासना करना भक्ति है।

५-शुद्धाद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। वे परम शुद्ध हैं। उनमें माया आदि नहीं है। वे निर्गुण और प्राकृतिक गुणोंसे अतीत हैं। उनकी शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। वे सब कुछ बन सकते हैं। अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्योंका युगपत् समावेश है और गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वे ब्रह्म हैं। वे ही जीवके सेव्य हैं। जीव ब्रह्मका अंश और अणु है, वह भी शुद्ध है। चैतन्य जीवका गुण है। जगत्का आविर्भाव भगवान्की इच्छासे हुआ है और उनकी इच्छासे इसका तिरोधान होता है। वे

लीलासे ही जगत्‌के रूपमें परिणत हुए हैं। वे ही जगत्‌के निमित्त और उपादान कारण हैं। जगत् मायिक नहीं है, परंतु भगवान्‌का अविकृत परिणाम है, भगवान्‌से अभिन्न है। आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर भी जगत् सत्य है। तिरोभावकालमें वह कारणरूपसे और आविर्भाव-कालमें कार्यरूपसे स्थित रहता है।

मुक्ति—भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्ध जीव समस्त जगत्‌को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्णके प्रेममें जैसे पत्नी पतिकी सेवा करके आनन्दको प्राप्त होती है, वैसे ही स्वामीरूपमें श्रीकृष्णकी सेवा करके वह परमानन्दरसमें तन्मय रहता है।

साधन—भगवत्कृपासे प्राप्त भक्ति ही मुक्तिका साधन है। भगवान्‌का अनुग्रह ही पुष्टि है और पुष्टिसे जिस भक्तिका उदय होता है वही पुष्टिभक्ति है। यह पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्तिसे अत्यन्त विलक्षण है। इस भक्तिके साथ भगवान्‌की सर्वात्मभावसे सेवा करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

६-अचिन्त्य भेदाभेदवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म निर्गुण हैं अर्थात् अप्राकृत गुणसम्पन्न हैं। उनकी शक्ति संवित् संधिनी और ह्लादिनी हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और विज्ञानरूप हैं। जीव अणु और चेतन है। ईश्वरकी विमुखता ही उसके बन्धनका कारण है। ईश्वरके सम्मुख होनेपर उसके बन्धन कट जाते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल—ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा जीव, प्रकृति और काल ईश्वरके अधीन हैं। जीव ईश्वरकी शक्ति है। जीव और ब्रह्म, गुण तथा गुणीभावसे अभिन्न और भिन्न दोनों ही हैं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है, वे इसके निमित्त और उपादान कारण हैं। वे ही अपनी अचिन्त्य शक्तिसे जगत्‌के रूपमें परिणत होते हैं। जगत् सत् है, परंतु अनित्य है।

मुक्ति—भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है, भगवद्धामको प्राप्त हुए जीवका पुनरागमन नहीं होता है। न तो भगवान् ही मुक्त जीवको अपने लोकसे गिराना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही कभी भगवान्‌को छोड़ना चाहते हैं। वे नित्य उनकी सेवाका परमानन्द प्राप्त करते रहते हैं।

साधन—भक्ति ही प्रधान साधन है। ज्ञान-वैराग्य उसके सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ह्लादिनी और संवित् शक्तिकी सारभूता है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। सामान्य भक्तिका नाम साधन-भक्ति है। यह जीवके हृदयस्थ प्रेमको उद्‌बुद्ध करती है, इसीसे उसका नाम साधन-भक्ति है। शुद्ध सत्त्वरूप चित्तमें प्रेम-सूर्यका उदय करानेवाली विशेष भक्तिका नाम 'भाव' है। भाव प्रेमकी प्रथमावस्था है। जब भाव घनीभूत होता है तब उसे प्रेम कहते हैं। मधुर भक्तिकी पराकाष्ठा ही इस प्रेमका सार है। यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।

गीताके संस्कृत भाष्य और टीकाओंमें अधिकांश इन्हीं छः मतोंमेंसे किसी मतका आश्रय लेकर उसीके समर्थनमें रचे गये हैं। ये छहों मत ऐसे महान् पुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित हैं कि उनमेंसे किसीको भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। सभी भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महान् पुरुष माने जाते हैं। अतएव इनमें दीखनेवाले मतभेदको भगवद्वाणीका चमत्कार मानकर सभीको शुद्ध हृदयसे उन्हें नमस्कार करना चाहिये और अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथारुचि अपने लाभकी बात सभीमेंसे ले लेनी चाहिये।

गीता और श्रीभगवन्नाम

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नामस्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ताद् भवे-
दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति॥

श्रीहरिनाम! तुम्हारे दो स्वरूप हैं, एक वाच्य और दूसरा वाचक। तुम वाचक हो और श्रीहरि तुम्हारे वाच्य हैं। श्रीहरि और श्रीहरिनाम दोनों ही अभिन्न चिन्मय वस्तु होनेसे एक तत्त्व हैं, परंतु वाच्य श्रीहरिसे उनका वाचक श्रीहरिनाम अधिक दयालु है। जो जीव भगवान्के अनेक अपराध किये हुए होते हैं, वे भी केवल मुखसे श्रीहरिनामकी उपासना (नाम-कीर्तन)-द्वारा निरपराध होकर भगवान्के आनन्दरूपमें निमग्न हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताने भी इस हरिनामकी बड़ी महिमा गायी है। भगवान् कहते हैं कि मूर्खलोग, जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी* प्रकृतिका आश्रय लिये हुए होते हैं—मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझ महेश्वरको साधारण मनुष्य मान लेते हैं, उन अज्ञानियोंकी सारी आशाएँ, उनके सारे कर्म और उनका सारा ज्ञान व्यर्थ होता है। परंतु दैवी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए महात्मागण तो सर्वभूतोंके सनातन कारण और नाशरहित मुझ भगवान्को अनन्यमनसे निरन्तर भजते हैं (गीता ९। ११—१३) ऐसे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

---

* ये तीनों आसुरी सम्पत्तिके भेद हैं। आसुरी सम्पत्तिके प्रधान अवगुण काम, क्रोध, लोभ हैं। (१६। २१) इनमेंसे प्रधानतासे कामपरायण मनुष्य मोहिनीके, क्रोधपरायण राक्षसीके और लोभपरायण आसुरी सम्पत्तिके आश्रित कहे जाते हैं।

इस कीर्तनसे नामगुण-कीर्तनका ही लक्ष्य है। प्रसिद्ध टीकाकार गोस्वामी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी 'सारार्थ-वर्षिणी' टीकामें लिखते हैं—'**सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यपेक्षा कर्तव्येत्यर्थः।**'

भगवान्‌का नाम-कीर्तन सदैव ही किया जा सकता है, इसमें कर्मयोगकी भाँति शुद्ध देश-काल-पात्रकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि—

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धके॥

श्रीहरिनाम-प्रेमीके लिये देश, काल या अन्य किसी प्रकारका निषेध नहीं है। भगवन्नाम सभी अवस्थामें लिया जा सकता है। श्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं—'**सर्वदा स्तोत्र-मन्त्रादिभिः कीर्तयन्तः**' यहाँ मन्त्रसे श्रीभगवन्नाम ही अभिप्रेत है, क्योंकि यही मन्त्रराज है! श्रीबलदेव विद्याभूषण अपने गीताभाष्यमें लिखते हैं—

'**सततं सर्वदा देशकालादिविशुद्धिनैरपेक्ष्येण मां कीर्तयन्तः सुधामधुराणि मम कल्याणगुणकर्मानुबन्धीनि गोविन्दगोवर्द्धनोद्धरणादीनि नामान्युच्चैरुच्चारयन्तो मामुपासते।**'

देश-कालादिके शुद्ध होनेकी कोई अपेक्षा न रख करके सदा-सर्वदा भगवान्‌के गुण-कर्मानुसार गोविन्द, गोवर्धनधारी आदि विविध अमृतमय मधुर कल्याणकारी नामोंका उच्चस्वरसे उच्चारण करके उनकी उपासना करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त और भी स्पष्ट-शब्दोंमें भगवान्‌ने कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो मनुष्य 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ

और उसके अर्थस्वरूप मुझ नामीका मनमें चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

'ॐ' परमात्माका नाम प्रसिद्ध ही है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि। ॐ इति एतत्!'

इस श्रुति और **'तस्य वाचकः प्रणवः'** इस योगसूत्रके अनुसार 'ॐ' परमात्माका नाम है। आगे चलकर भगवान्ने जपयज्ञको तो **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** कहकर अपना स्वरूप ही बतला दिया है। जपसे उसी परमात्माके परम पावन नाममन्त्रका ही जप समझना चाहिये; क्योंकि नाम और नामीमें सदा ही अभेद हुआ करता है। अतएव सबको सभी समय भगवन्नामका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। कलियुगमें तो जीवोंके उद्धारके लिये नामके समान दूसरा कोई साधन ही नहीं है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

'दोषपूर्ण कलियुगमें यह एक महान् गुण है कि केवल श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तनसे ही जीव आसक्तिसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर सकता है।' श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

'श्रीकृष्ण! वह सुअवसर कब प्राप्त होगा जब तुम्हारा नाम लेते ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह निकलेगी और वाणी गद्गद तथा समस्त शरीर रोमांचित हो जायगा।'

गीता और वैराग्य

सम्प्रति कुछ लोग कहने लगे हैं कि 'श्रीमद्भगवद्गीता'-में वैराग्यका उपदेश नहीं है। भगवद्गीता तो केवल कर्म ही करनेका उपदेश देती है। वैराग्यकी हमें आवश्यकता नहीं! इस वैराग्यके भावने देशकी उन्नतिमें बड़ी बाधा डाल रखी है। संसारसे वैराग्य हो जानेके कारण मनुष्य सांसारिक उन्नति-अवनतिकी कोई परवा नहीं करता, वैराग्य संसारसे उपरत बनाकर मनुष्यको निकम्मा और आलसी बना देता है। 'हमें तो जीवनभर कर्म करते रहकर ही परमात्माको प्राप्त करना है। यही गीताकी शिक्षा है।' परंतु वास्तवमें न तो गीताकी शिक्षा ही ऐसी है और न यथार्थ वैराग्य मनुष्यको निकम्मा और आलसी बनाता है। अवश्य ही वैराग्यवान् पुरुष संसारके भोगोंमें अनासक्त होनेके कारण सभी कर्तव्यकर्म, धीर-गम्भीर और शान्तभावसे करता है, जिससे उसकी स्थितिको न समझनेवाले लोगोंकी दृष्टिमें वह उत्साहशून्य-सा प्रतीत होता है, परंतु सच पूछा जाय तो सत्कर्म करनेका सच्चा उत्साह वैराग्यवान् पुरुषके हृदयमें ही होता है। सांसारिक भोग-सुखोंकी आसक्तिमें नहीं फँसे हुए पुरुष ही देशकी या विश्वकी यथार्थ सेवा कर सकते हैं। जिनका मन भोगोंकी लालसामें लगा है, जो पद-पदपर भोग-सुखोंका अनुसंधान करते हैं, वे स्वार्थी मनुष्य कभी यथार्थ भावसे कर्तव्य-पालन नहीं कर सकते। देशकी उन्नति सच्चे त्यागी व्यक्तिगत स्वार्थशून्य पुरुषोंके द्वारा होती है, ऐसे पुरुष वैराग्यकी भावनाके बिना बन ही नहीं सकते। सच्ची बात तो यह है कि वैराग्यवान् पुरुषोंके अभावसे ही देशकी दुर्दशा हो रही है।

गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें वैराग्यका उपदेश है। गीताके प्रधान साधन तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनोंमें ही वैराग्य पहले आवश्यक है। जबतक मनमें इस लोक या परलोकके भोगोंकी कामना बनी रहती है, तबतक कर्मोंमें निष्कामता नहीं आ सकती। जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने या न होनेमें अथवा उसके अनुकूल या प्रतिकूल फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है। इस समत्वभावरूप योगमें स्थित होकर कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है; क्योंकि यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है, इस प्रकारकी समत्वबुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवाले पुरुष जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय परम पदको प्राप्त होते हैं। (गीता २। ४८ से ५१) परंतु बुद्धिकी यह समता वैराग्य बिना नहीं होती, अतएव निष्काम कर्मके लिये सबसे पहले वैराग्यकी परम आवश्यकता है। भगवान् (श्रीमद्भगवद्गीता २। ५२-५३ में) कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

'अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से सर्वथा निकल जायगी, तब तुझे सुने हुए और सुननेके विषयोंमें वैराग्य होगा। एवं वैराग्यके द्वारा जब वह अनेक प्रकारकी बातोंके सुननेसे विचलित हुई बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें निश्चल होकर ठहर जायगी, तब तुझे 'समत्वरूप योग' की प्राप्ति होगी।'

धन-कीर्ति, मान-बड़ाई, पद-गौरवकी सैकड़ों प्रकारकी आशा-आकांक्षाकी फाँसियोंमें बँधे हुए विषयासक्त मनुष्य नश्वर जगत्के प्रापंचिक कार्योंमें संलग्न रहकर गीतासे उसका समर्थन

करते हुए गीताको वैराग्यकी शिक्षासे शून्य बतलाते हैं, यही आश्चर्य है।

इसी प्रकार ज्ञानके साधनमें भी गीता वैराग्यकी आवश्यकता बतलाती है। '**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**' (१३।८) और '**वैराग्यं समुपाश्रितः**' (१८।५२) से यह सिद्ध है। अवश्य ही गीता किसी आश्रम-विशेषपर जोर नहीं देती। सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही वैराग्यकी सिद्धि होती है, गीता ऐसा नहीं कहती। परंतु वैराग्य हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस बातको गीता डंकेकी चोट कहती है। छठे अध्यायमें गीता कहती है कि जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगकी प्राप्ति यानी परमात्माका मिलन अत्यन्त कठिन है और मन वशमें होता है अभ्यास तथा वैराग्यसे। '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**' इस लोक और परलोकके भोगोंमें वैराग्य हुए बिना उनसे हटकर निश्चलरूपसे मन परमात्मामें नहीं लगेगा और परमात्मामें लगे बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

भक्तिके साधनमें तो भोगोंका त्याग सबसे पहले आवश्यक है, वहाँ तो सब ओरसे मन हटाकर सबकी आशा छोड़कर '**मामेकं शरणं व्रज**' के लक्ष्यपर चलना है, अपना सारा मन प्रियतमके प्रति अर्पण कर देना है, समूचा हृदयमन्दिर प्यारेके लिये खाली करके उसमें उसकी प्रतिष्ठा करनी है और वह भी ऐसी कि रोम-रोममें उसे रमा लेना है। गोपियाँ कहती हैं—

नाहिन रह्यो मन महँ ठौर।
नंदनंदन अछत उर बिच आनिये कत और॥

'कहीं जगह नहीं रही, सब ओर मनमोहन समा रहा है।' जब ज्ञान-विज्ञानको ही स्थान नहीं है तब भोगोंकी तो बात ही

कौन-सी है?—प्रेमी भक्त तो प्यारेके लिये सिर हाथमें लिये फिरता है—

'जो सिर काटे हरि मिले, तो तेहि लीजै दौर।'

भोगोंकी तो वहाँ स्मृति ही नहीं है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

इसीसे गीतामें भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(१२। १७)

'जो भोगोंकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, उनके नाशसे द्वेष नहीं करता, नाश हो जानेपर शोक नहीं करता और पुनः प्राप्तिके लिये कामना नहीं करता एवं जो शुभाशुभ किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे बड़ा प्यारा है।' क्यों न हो, यह तो वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप है। ***'सब तज हरि भज'*** का ज्वलन्त उदाहरण है। अतएव गीता वैराग्यकी शिक्षासे पूर्ण है। जो लोग वैराग्यकी आवश्यकता नहीं समझते, बिना ही वैराग्यके गीताका सार अर्थ समझना चाहते हैं और भोगोंमें पूरी आसक्ति बनाये रखनेकी इच्छा रखते हुए भी भगवान्‌में प्रेम होना चाहते हैं, वे न तो गीताका अर्थ ही समझ सकते हैं और न उन्हें भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति ही होती है; क्योंकि भोग और भगवान् दोनोंका प्रेम एक साथ नहीं रह सकता। हाँ, भोग उनकी पूजाकी सामग्रीके रूपमें उन्हें अर्पित होकर रह सकते हैं।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहु कि रहि सकै, रबि रजनी इक ठाम॥

वैराग्य और अभ्यास

जबतक भोगोंमें वैराग्य नहीं होगा, तबतक यथार्थ निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञान इनमेंसे किसीकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी! वैराग्यके आधारपर ही ये साधन टिकते हैं और बढ़ते हैं। इसीलिये अभ्यासके साथ वैराग्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है। बिना वैराग्यका अभ्यास प्रायः आडम्बर उत्पन्न करता है।

× × × ×

जिनके मनमें वैराग्य नहीं है, जो भोगोंमें रचे-पचे हैं तथा भोग-वासनासे ही कर्म, भक्ति, ज्ञानका आचरण करते हैं वे लोग पापाचरण करनेवाले तथा कुछ भी न करनेवालोंसे हजारों दर्जे अच्छे अवश्य हैं, परंतु वास्तविक निष्काम कर्म, भक्ति, ज्ञानका साधन उनसे नहीं हो रहा है। और वे जो कुछ करते हैं उसके छूटनेकी भी आशंका बनी ही है।

× × × ×

स्वार्थत्याग बिना निष्कामता नहीं आती, दूसरे सब पदार्थोंसे प्रीति हटाये बिना भगवान्‌से एकान्त प्रीति नहीं होती और जगत्‌के रागसे छूटे बिना अभेद-ज्ञान नहीं होता। आज निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञानके अधिकांश साधक स्वार्थ, विषय-प्रेम और आसक्तिका त्याग करनेकी चेष्टा बिना किये ही निष्कामकर्मी, भक्त और ज्ञानी बनना चाहते हैं। इसीसे वे सफल नहीं हो सकते।

× × × ×

साधारणतः वैराग्यके क्रमसे होनेवाले सात लक्षण हैं— (१) श्रीभगवान्‌को छोड़कर लोक-परलोकके सभी भोगोंमें फीकापन मालूम होना, (२) विषयोंमें महान् भय और सर्वथा दुःख दिखायी देना, (३) भगवान्‌को छोड़कर विषयोंका

बिलकुल ही न सुहाना, (४) विषयोंके त्यागकी प्रबल इच्छा होना और विषयनाशमें सुखकी प्रतीति होनी, (५) विषयोंका त्याग हो जाना, (६) विषयोंमें भगवद्भाव होना और (७) एक भगवान्‌की ही सत्ता भासना।

× × × ×

सबसे पहले विषयोंमें बार-बार दुःख देख-देखकर इनसे मन हटाने और भगवान्‌में परम और पूर्ण सुख समझकर उनमें मन लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। यही वैराग्य और अभ्यास है। ज्यों-ज्यों विषयोंसे मन हटेगा, त्यों-ही-त्यों श्रीभगवान्‌में आप ही लगता जायगा। जब भगवान्‌के ध्यानका कुछ असली आनन्द मिल जायगा, तब तो मन उस आनन्दको छोड़ना ही नहीं चाहेगा। फिर लोक-परलोकके सभी भोग फीके मालूम होने लगेंगे। क्रमशः वैराग्य बढ़ता जायगा और अन्तमें जगत्‌की भगवान्‌से अलग कोई सत्ता ही नहीं रह जायगी। यही असली वैराग्य है। वैराग्यवान् महानुभाव ही कल्याणको प्राप्त करते हैं।

× × × ×

वैराग्य और अभ्यास एक-दूसरेके आश्रय और सहायक हैं। मनको विषयोंसे हटानेकी चेष्टा की, क्षणभरको मन हटा भी, परंतु भगवान्‌में उसे न लगाया तो वह तुरंत लौटकर विषयोंमें आ जायगा। इसी प्रकार विषयोंसे हटानेकी चेष्टा नहीं करनेसे विषयोंमें लगा हुआ मन उनसे हटकर भगवान्‌में अपने-आप लगेगा ही क्यों? अतएव दोनोंका साथ-साथ रहना ही आवश्यक है, इन दोनोंमें भी वैराग्यकी पहले जरूरत है; क्योंकि उसके बिना तो एक विषयसे मन हटे बिना दूसरी ओर लग ही नहीं सकता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें मानवका त्रिविध स्वरूप और साधन

आर्यशास्त्रवेत्ता—सनातनधर्मीमात्र यह मानते हैं कि 'मानव-जन्म' भोग-वासनाकी चरितार्थता या इन्द्रियोंके द्वारा विषय-सेवनके लिये नहीं मिला है। मानव-जीवनका परम और चरम लक्ष्य है— 'भगवत्प्राप्ति'। इसीको मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, आत्म-साक्षात्कार, स्वरूपप्राप्ति, ब्रह्मज्ञान आदि विभिन्न नामोंसे साधना तथा रुचिभेदके अनुसार कहा गया है। जो मनुष्य इस परम लक्ष्यको सामने रखकर साधनामय जीवन-यापन करता है, वही वस्तुतः 'मानव' कहलानेयोग्य है। भगवान्ने इस साधनाके श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिकारी-भेदसे विभिन्न स्वरूप बतलाये हैं; उनमें तीन प्रधान हैं—ज्ञानप्रधान साधन, भक्तिप्रधान साधन और कर्मप्रधान साधन। तीनोंमें ही लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। इन तीनोंमेंसे किसी एकके अनुसार आचरण करनेवालेको ही गीतामें 'मानव' कहा गया है। 'मानव' शब्द गीतामें तीन स्थानोंमें आता है।

(१)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

भगवान् कहते हैं—'जिसकी आत्मामें ही रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है, उस मानवके लिये कुछ भी कर्तव्य (शेष) नहीं है। 'ज्ञानी मानवका' स्वरूप है। ऐसा मानव संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थमें रति नहीं करता, उसका मन

किसी भी भौतिक वस्तुमें रमण नहीं करता, वह निरन्तर आत्मरमण करता है—आत्मरत ही रहता है। उसके मनमें किसी भी लौकिक-पारलौकिक पदार्थकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; वह पूर्णकाम होता है, इसलिये आत्मामें ही—चिन्मय स्व-स्वरूपमें ही सदा तृप्त रहता है और संसारका न तो कोई बड़े-से-बड़ा प्रलोभन उसे अपनी ओर खींच सकता है, न किसी भी स्थितिसे उसे किसी प्रकारका तनिक भी असंतोष होता है। वह हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित होकर निरन्तर आत्मस्वरूपमें ही संतुष्ट रहता है। ऐसे कृतकृत्य—पूर्णत्वको प्राप्त ज्ञानी मानवके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं रह जाता। उसकी अपनी आत्मस्थितिमें उसे कुछ पाना या पानेके लिये करना शेष नहीं रह जाता। ऐसा ज्ञानी पुरुष मानव-शरीरके चरम तथा परम लक्ष्यको प्राप्त करके कर्तव्यके भारसे मुक्त हो जाता है। फिर प्रारब्धवश जबतक उसका शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा स्वाभाविक ही अहंता, ममता, आसक्ति, कामना तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे सर्वथा रहित परम पवित्र तथा परम आदर्शरूप लोकहितकर कर्म ही होते हैं।

(२)

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३।३१)

'जो भगवान्में किसी प्रकारकी दोष-दृष्टि नहीं करते तथा जो श्रद्धावान् हैं और सदा भगवान्के मतका अनुसरण करते हैं, वे मानव भी सम्पूर्ण कर्मों (के बन्धन)-से छूट जाते है।'

यह 'भक्त-मानव' का स्वरूप है। गीताके अन्तिम उपदेश (अ० १८ श्लोक ६६)-के अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सावधान करते हुए कहा है कि 'जो तपरहित न हो, मेरा भक्त न हो, सुनना न चाहता

हो और मुझमें दोष देखता हो, उससे यह रहस्य कभी मत कहना।' इससे यह सिद्ध है कि जो भगवान्‌में—उनके लीला-गुण आदिमें दोष देखता है तथा श्रद्धा-सम्पन्न नहीं है, वह भगवान्‌के मतानुसार अपना जीवन नहीं बना सकता। परंतु जिनका भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास है, वे ही भगवान्‌की प्रीतिके लिये भगवान्‌के मतका अनुसरण करते हुए नित्य-निरन्तर जीवनके अन्तरतम प्रदेशमें विराजित भगवान्‌का भजन करते हैं और वे इसके फलस्वरूप कर्म-बन्धनसे (जन्म-मृत्युके चक्रसे) मुक्त होकर भगवान्‌के परम-धामको उनके दुर्लभ पार्षदत्वको अथवा अति दुर्लभ प्रेमको प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं। ऐसे मानव ही यथार्थ मानव हैं। भगवान्‌ने इनकी महिमा गाते हुए इन्हें 'सर्वश्रेष्ठ योगी' बतलाया है। छठे अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, उसे मैं परम श्रेष्ठ मानता हूँ।'

ऐसा भक्त कैवल्य-मुक्ति न चाहकर निरन्तर भजनमें—सेवा-परायणतामें संलग्न रहना चाहता है। मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है।

(३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और यह सारा प्राणिजगत् जिससे व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजा करके मानव परम सिद्धिको प्राप्त करता है।'

यह कर्मनिष्ठ (स्वकर्मके द्वारा चराचररूप भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि—मानवजीवनकी परम और चरम सिद्धि, सफलताको प्राप्त करनेवाले) मानवका स्वरूप है।

ऐसा मानव यह समझ लेता है कि समस्त प्राणी भगवान्‌से ही निकले हैं और भगवान् ही सब प्राणियोंमें व्याप्त हैं अर्थात् प्राणिमात्रके रूपमें भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं; अत: मनुष्य अपने सहज कर्मके द्वारा प्राणिमात्रकी यथोचित सेवा करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। जिससे सब निकले हैं और जो सबमें व्याप्त है, वह सर्वत्र तथा सदा है। उसकी पूजाके लिये बाहरी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक कर्मके द्वारा प्रत्येक समय प्रत्येक स्थितिमें मानव उन भगवान्‌की पूजा करके जीवनको सफल बना सकता है। कर्मके द्वारा भगवत्पूजा (Work is Worship)-का यह सिद्धान्त मानवके कर्मको पवित्रतम और आदर्श बना देता है और उसीके द्वारा प्राणिमात्रकी सफल सेवा होती है। ऐसे मानवमें राग-द्वेषका—सीमित ममता-आसक्तिका अभाव हो जाता है और वह परम श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌के आज्ञानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये समस्त विश्वके प्राणियोंकी अपने कर्मोंके द्वारा सेवा करके—समस्त प्राणियोंका हित तथा सुखसाधन करके जगत्‌में महान् आदर्श उपस्थित करता है और अपने दुर्लभ मानव-जीवनको सहज ही सफल बना लेता है।

गीतामें इन तीन प्रकारके मानवोंका कथन करके भगवान्‌ने थोड़े-से शब्दोंमें मानव-जीवनका उद्देश्य, मानव-जीवनकी सार्थकता तथा जीवन-सिद्धिके त्रिविध साधनोंका उल्लेख करके मानवको उसके स्वरूप तथा कर्तव्यका ज्ञान कराया है और यथायोग्य आचरण करके मानव-जीवनकी सफलताके लिये दिव्य उपदेश किया है।

गीतामें भगवान्‌के स्वरूप, परलोक-पुनर्जन्म तथा भगवत्प्राप्तिका वर्णन

श्रीमद्भगवद्गीता अखिल ब्रह्माण्डनाथ, सर्वलोकमहेश्वर, सूर्य-चन्द्र-इन्द्र-वायु-अग्नि-वरुण-यम आदि सुर, लोकनायक-नायक, सर्वनियन्ता, सर्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वातीत, सर्वगुणमय, सर्वगुणातीत, अनन्त-चेतनाचेतन-नियन्ता तथा भिन्नाभिन्न-सम्बन्धी परात्पर परब्रह्म, ब्रह्मप्रतिष्ठा, अनन्ताचिन्त्य निरवधि-निरंकुश-ऐश्वर्यस्वरूप, युगपत्-विरोधि-गुणधर्माश्रय, शरणागतवत्सल, भक्त-वांछाकल्पतरु, प्रेमस्वरूप भक्तिवश्य, अचिन्त्यानन्त परोक्ष-अपरोक्ष-लीलास्वरूप 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णकी वाणी है। इसमें जो कुछ कहा गया है वह परम सत्य है, विविध भाव-विचार-अधिकार-रुचियुक्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ज्ञान, भक्ति, निष्काम-कर्म योगप्रभृति विभिन्न साधनरूपमें परम कल्याणकर है।

वेद भगवान्‌के सिद्धान्तप्रतिपादक 'भगवत्-निःश्वास' हैं, गीता भगवान्‌के सिद्धान्तदर्शक साक्षात् 'भगवद्वचन' है। उपनिषद् भगवत्-तत्त्व-बोधक हैं। गीता उन्हीं उपनिषद्रूप गौओंका दुग्धामृत है। महाभारत अखिल ज्ञान-भण्डाररूप दुग्धसिन्धु है और गीता उसको मथकर निकाला हुआ सार-सर्वस्व नवनीत है। गीता भगवान्‌का हृदय है, गीता साक्षात् भगवत्स्वरूप है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण किसी मत-विशेषका प्रतिपादन या किसी सिद्धान्तका स्थापन नहीं करते हैं। वे त्रिकालाबाधित नित्य सत्यका अपनी दिव्य भाषामें अपने प्रिय भक्त अर्जुनके

हितार्थ प्रकाश करते हैं। भगवान् सबके हैं, भगवान्‌की वाणी सबके लिये सहज ही कल्याणकारिणी है और त्रिकालाबाधित सत्य-तत्त्व सबके लिये ग्राह्य है। अतएव गीता सहज ही अखिल विश्वके हितमें संलग्न है। अंधकारमें पड़े हुए प्रत्येक प्राणीको बिना किसी भेदके गीताने प्रकाश दिया है—दे रही है और देती रहेगी।

सत्यका प्रतिपादन या स्थापन नहीं होता, वह तो नित्य अनादि अनन्त है ही। वह किसीकी न तो स्वीकृतिकी अपेक्षा रखता है, न समर्थन या संरक्षणकी। सत्यकी निर्बाध सत्ता है, उसे न माननेवाले उससे वंचित भले ही रह जायँ। सत्य किसीके मानने-न-माननेकी परवा नहीं करता। वह तो अपने सनातन जीवनमें ही नित्य सुप्रतिष्ठित रहता है, उसी सत्यका प्रकाश गीतामें है। भगवान्‌ने गीतामें यह बताया है कि 'जो कुछ है, सब एकमात्र वे पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं।' इसी तत्त्वको उन्होंने विविध प्रकारसे समझाया है—

'**लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।**' (१५।१८)

लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७।७)

'धनंजय! मेरे अतिरिक्त कुछ भी अन्य नहीं है। यह सब जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**' (९।४)

'यह समस्त जगत् मुझ अव्यक्त मूर्तिसे (जलसे बरफके समान) परिपूर्ण है।'

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(१०।८)

'मैं ही सबकी उत्पत्तिका मूल हूँ, सब मुझसे प्रवर्तित हैं। इस प्रकार मानकर भावसमन्वित बुद्धिमान् भक्त मुझे भजते हैं।'

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(१०।२)

'मेरे प्रभावको, उत्पत्तिको न तो देवतागण जानते हैं, न महर्षिगण ही; क्योंकि मैं ही देवताओं और महर्षियोंका भी आदि मूल हूँ।'

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(१०।३)

'जो मुझको अजन्मा (प्राकृतिक जन्मरहित), अनादि (उत्पत्ति-रहित सर्वकारणकारण) तथा लोकोंका महान् ईश्वर जानता है, वह ज्ञानवान् पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२९)

'(जो मुझको) सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंका महान् ईश्वर तथा प्राणिमात्रका सुहृद् जानता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

'जो सर्वत्र (चराचर जगत्‌में) मुझको देखता है और जो सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता और मेरे लिये वह कभी अदृश्य नहीं होता।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(१०।३९)

'अर्जुन! जो समस्त भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है—मूलकारण है, वह मैं ही हूँ, क्योंकि चराचरमें कोई भी ऐसा भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो। (सब मेरे ही स्वरूप हैं—सब मैं ही हूँ)।'

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(९।२३)

'कौन्तेय! जो श्रद्धायुक्त भक्त दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं। (पर वे उनको मुझसे अलग मानते हैं) इसलिये उनकी यह पूजा अविधिपूर्वक होती है।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४।२७)

'ब्रह्मकी, अमृतकी, अविनाशी और सनातनधर्मकी तथा ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ (इन सबका परम आश्रय मैं ही हूँ)।'

इस प्रकार सम्पूर्ण अनन्त विश्वब्रह्माण्ड एकमात्र भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है, भगवान्‌से ही प्रकट है, भगवान्‌में ही स्थित है तथा भगवान्‌में ही पर्यवसित होता है। भगवान्‌में ही भगवान्‌से ही विश्वप्राणियोंका प्रकृतिके द्वारा बार-बार उदय-विलय होता रहता है। यही प्रलय-सृजन है। भगवान् कहते हैं—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(गीता ९। ६-७)

'जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जानो। अर्जुन! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें लय हो जाते हैं और कल्पके आदिमें मैं उनका फिर सृजन कर देता हूँ।'

यही भगवान् सर्वत्र व्याप्त एक आत्मा हैं। आत्मा स्वरूपतः जन्म-मरण-हीन नित्य सत्य है। भगवान्ने कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

(गीता २। २०, २३—२५)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है, न मरता है और न यह आत्मा हो करके फिर होनेवाला है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीरके नाश होनेपर यह नाश नहीं होता। इस आत्माको न शस्त्रादि काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न जल गीला कर सकता है और न वायु सुखा ही

सकता है। यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है और निश्चय ही यह नित्य, सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन है। यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियोंका अविषय), अचिन्त्य (मनका अविषय) और विकाररहित (कभी न बदलनेवाला) कहा जाता है।'

सारे जीवोंके हृदयमें भगवान् ही आत्मारूपसे वर्तमान् हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

'अर्जुन! सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा मैं हूँ। मैं ही समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ।'

प्राणिमात्रके शरीरमें स्थित रहनेपर भी आत्मा (भगवान्) निर्लेप रहता है। इस विषयमें भगवान् कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(गीता १३। ३१-३२)

'अर्जुन! अनादि तथा निर्गुण होनेसे यह अविनाशी आत्मा शरीरमें स्थित होकर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है, न लिप्त होता है। जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिपायमान नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित होकर भी आत्मा देहके कार्यों—गुणों आदिसे लिपायमान नहीं होता।'

तथापि जबतक पुरुष (आत्मा) 'प्रकृतिस्थ' है तबतक उसमें सारे व्यापार होते रहते हैं। भगवान्‌का सनातन अंश यह 'प्रकृतिस्थ आत्मा' ही 'जीव' है।

भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे प्रभावित रहता है—उनको भोगता है और इन गुणोंका संग ही उसके सत्-असत् (देव, पितर, प्रेत, मनुष्य, पशु आदि) योनियोंमें जन्म लेनेका कारण होता है।'

गीतामें गति, योनि, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि लोक—सभीका स्पष्ट वर्णन है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

(गीता १४। १४-१५)

'जब जीव सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरता है, तब वह उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित (दिव्य स्वर्गादि) लोकोंको प्राप्त होता है। रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेपर कर्मासक्तिवाले मनुष्योंमें जन्म लेता है और तमोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला पशु-पक्षी आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है।'

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोधसे युक्त अशुद्ध आचरण करनेवाले काम-क्रोधपरायण, कामोपभोगको ही जीवनका परमध्येय माननेवाले, अन्यायसे धनोपार्जन करनेवाले, चिन्ताग्रस्त, हत्या-हिंसापरायण, अन्तर्यामी भगवान्से द्वेष करनेवाले आसुरभावापन्न मनुष्य मरनेपर नरकोंमें; आसुरी योनियोंमें जाकर, वहाँ नाना प्रकारकी यन्त्रणा भोगते हैं। (गीता १६। ४—१५में देखिये) भगवान् आगे कहते हैं—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६।१६—२०)

'जिनका चित्त सदा भोगोंमें भटका करता है, जिनका जीवन मोहजालसे ढका है, जो कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त हैं—वे अपवित्र (गंदे) नरकमें गिरते हैं। जो अपनेको श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी, धन-मान-मदसे चूर, अविधिपूर्वक नाममात्रके यज्ञों—देवताओंद्वारा पाखण्डरूप यजन करते हैं, उन द्वेष करनेवाले क्रूरहृदय नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी (कुत्ते, सूअर, गदहे आदि)-योनियोंमें गिराता हूँ। वे मूढ़लोग (जिनको मानवजन्म मेरी प्राप्तिके लिये दिया गया था) मुझे न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरीयोनिमें जाते हैं और फिर उससे भी नीच गति (घोर नरक आदि)-को प्राप्त करते हैं।'

अर्जुनने कहा—

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(१।४१—४४)

'श्रीकृष्ण! अधर्म अधिक बढ़ जानेसे कुलस्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और वार्ष्णेय! स्त्रियोंके आचरण दूषित होनेपर वर्णसंकर (संतान)-का जन्म होता है। वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले (तर्पण-श्राद्धरहित) इनके पितरगण भी गिर जाते हैं। इन वर्ण-संकर-कारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं और हे जनार्दन! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्योंको अनियत कालतक नरकमें रहना पड़ता है, ऐसा हमने सुना है।'

भगवत्प्राप्ति या मोक्षके साधनमें तत्पर पुरुष यदि योगसाधनसे विचलित होकर बीचमें ही मर जाता है तो उसकी क्या गति होती है? अर्जुनके इस आशयके प्रश्नपर भगवान् कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

(६।४०—४२)

'पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश—पतन होता है, न परलोकमें ही। किसी भी कल्याण—(भगवदर्थ) कर्म करनेवालेकी दुर्गति नहीं होती। वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके (स्वर्गादि दिव्य) लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें लम्बे समयतक निवास करके शुद्ध आचरण करनेवाले श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। अथवा (साधनसम्पन्न या भगवत्प्राप्त श्रीमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है।) इस प्रकारका जन्म इस लोकमें निश्चय ही अति दुर्लभ है।'

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(९।२०-२१)

'जो तीनों वेदोंके विधानके अनुसार सकामकर्म करनेवाले, सोमरस पीनेवाले पापमुक्त पुरुष यज्ञोंके द्वारा पूजा करके स्वर्गमें जाना चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलस्वरूप सुरेन्द्र (स्वर्ग)-लोकको प्राप्त होकर वहाँ देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोक (स्वर्ग-सुखों)-को भोगकर पुण्यक्षय होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कथित सकामकर्मोंका सेवन करनेवाले भोगकामी पुरुष बार-बार स्वर्गलोक और मृत्युलोकमें जाते-आते रहते हैं।'

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(९। २५)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको (उन-उन देवलोकोंको), पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको (पितृलोकको), भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको (प्रेतलोकको) और मेरा (भगवान्‌का) पूजन करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं।' (वे किसी अन्य लोकमें नहीं जाते और न उनका मर्त्यलोकमें पुनर्जन्म ही होता है।)

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

(८। २६)

'जगत्‌में शुक्ल और कृष्ण (देवयान और पितृयान) मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक (देवयान)-के द्वारा गया हुआ वापस न लौटनेवाली परमगतिको प्राप्त होता है। दूसरे (पितृयान)-के द्वारा गया हुआ वापस लौटता है (पुनः जन्म लेता है)।'

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

'वायु गन्धके स्थानसे जैसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२। १३)

'जैसे इस देहमें जीवात्माकी कुमार, युवा और वृद्ध-अवस्था होती है, वैसे ही देहान्तरकी—दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। इससे तत्त्व-धीर पुरुष मोहित नहीं होते।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरको प्राप्त होता है।'

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'अर्जुन! न ऐसा है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू भी नहीं था अथवा ये राजालोग भी नहीं थे और न ऐसा ही है कि हम सब आगे नहीं रहेंगे।'

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

(४। ५)

'अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, पर हे परंतप! तू उन्हें नहीं जानता, मैं जानता हूँ।'

अवश्य ही भगवान्के जन्म न तो कर्मवश होते हैं और न पांचभौतिक देह उन्हें प्राप्त होता है, न वे कभी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके अधीन होते हैं। उनके स्वेच्छामय जन्म, शरीर तथा कर्म सभी दिव्यभगवत्स्वरूप होते हैं। इसीसे वे कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४। ६, ९)

'मैं अजन्मा (प्राकृत जन्मरहित), अविनाशीस्वरूप होनेपर भी तथा समस्त भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको (स्वभावको) अधिष्ठित करके अपनी ही मायासे प्रकट होता हूँ। अर्जुन! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य (अप्राकृत भगवत्स्वरूप) है। इसको जो पुरुष तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त उद्धरणोंसे पुनर्जन्म, परलोक, नरक, स्वर्ग, सद्गति, दुर्गति आदिकी बात तो स्पष्ट हो गयी। परंतु मानव-जीवन तो इसलिये मिला है कि जिसमें जीव साधनमें लगकर, 'प्रकृतिस्थ' अवस्थासे मुक्त होकर 'स्वस्थ' (आत्मस्थ) हो जाय, वह भौतिक पुनर्जन्म न होनेकी उस स्थितिको प्राप्त कर ले, जिसे प्राप्त कर लेनेपर कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। वह आवागमनसे सर्वथा मुक्त हो जाय। इसी स्थितिका भगवान्ने गीतामें ब्रह्मनिर्वाण, शान्ति, परमा शान्ति, शाश्वत शान्ति, दिव्य परम पुरुषकी प्राप्ति, परमा गति, अनामयपद, अव्ययपद, ज्ञान, ब्रह्मप्राप्ति, अमृतप्राप्ति, सिद्धि, अक्षय सुख, आत्यन्तिक सुख, मेरे भावकी प्राप्ति और मेरी प्राप्ति आदि विभिन्न नामोंसे वर्णन किया है तथा उसके साधन बतलाये हैं। नीचे उदाहरणस्वरूप इसके कुछ उद्धरण दिये जाते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२।७१)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(५।२९)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४।३९)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥
(६।१५)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'जो पुरुष समस्त कामनाओंको त्यागकर, ममतारहित और अहंकाररहित होकर, स्पृहारहित हुआ विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।' 'जो मुझको (भगवान्‌को) यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी महान् ईश्वर तथा समस्त भूत-प्राणियोंका सुहृद् जान लेता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।' 'श्रद्धावान्, साधनतत्पर, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है और फिर तुरंत ही परा शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' 'आत्माको निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरी स्थितिरूप निर्वाण परमा शान्तिको प्राप्त होता है।' 'अर्जुन! सब प्रकार उस (अन्तर्यामी) परमेश्वरकी ही अनन्य शरणमें चला जा,

उस परमेश्वरकी कृपासे ही परा शान्ति तथा शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा।'

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९।३०-३१)

'अतिशय दुराचारी (पापी) भी अनन्यभाक् होकर यदि मुझको भजता है तो उसे 'साधु' मान लेना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चय (मेरी अनन्य शरणसे ही पाप-तापसे त्राण पानेका पूर्ण निश्चय करके मुझे भजने लगा)-वाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती (सदा रहनेवाली परम) शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक यह जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता (उसका पाप-तापमें कभी पतन नहीं होता)।'

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२।७२)

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५।२४—२६)

'इस ब्राह्मी स्थिति (कामना, स्पृहा, ममता और

अहंकारसे रहित स्थिति)-को प्राप्त होकर पुरुष मोहित नहीं होता और अन्तकालमें वह इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है।' 'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, अन्तरात्मामें ही आरामवाला है तथा जो आत्मामें ही प्रकाशवाला है, वह परब्रह्म परमात्माके साथ ऐक्यभावको प्राप्त योगी ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है।' 'जिनके कल्मष (पाप) नष्ट हो गये हैं, ज्ञानके द्वारा जिनका संशय निवृत्त हो गया है, जो समस्त भूतप्राणियोंके हितमें ही निरत हैं तथा जो भगवान्‌में ही संयतचित्त हैं—ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं।' 'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले परब्रह्म परमात्माको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओर ब्रह्मनिर्वाण ही प्राप्त है।'

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(८। ८, १०)

'अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तके द्वारा निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक दिव्य परम पुरुष (परमात्मा)-को प्राप्त होता है। वह भक्तियुक्त साधक अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणोंको भलीभाँति स्थापन करके निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ दिव्य परम पुरुष (परमात्मा)-को ही प्राप्त होता है।'

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(६। ४५)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(८। १३)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(१३। २८)

'अनेक जन्मोंसे अन्त:करणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त और अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी समस्त पापोंसे परिशुद्ध होकर परमा गतिको प्राप्त होता है।'

'जो पुरुष 'ॐ' ऐसे एकाक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है—वह परमा गतिको प्राप्त होता है।' 'अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्र आदि तथा पापयोनिवाले भी कोई भी हों, मेरे शरण होकर परमा गतिको प्राप्त होते हैं।' 'जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता है, वह परमा गतिको प्राप्त होता है।'

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(२। ५१)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(१५।५)

'बुद्धियोगयुक्त पुरुष कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय पदको प्राप्त होते हैं।' 'जो मान तथा मोहसे रहित हैं, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषपर विजय प्राप्त कर ली है, जिनकी नित्य अध्यात्म (परमात्मस्वरूप)-में स्थिति है और जिनकी कामना भलीभाँति निवृत्त हो गयी है, ऐसे वे सुख-दुःख आदि नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानी पुरुष अव्यय पदको प्राप्त होते हैं।'

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६।२८)

'बाहरी स्पर्शादि भोगोंमें अनासक्त चित्तवाला साधक अन्तःकरणमें भगवत्-ध्यानजनित आनन्दको प्राप्त करता है और वह ब्रह्मरूप योगमें ऐक्यभावसे स्थित पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है।' 'वह कल्मष—पापरहित योगी निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्शरूप अत्यन्त सुखका अनुभव करता है।'

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(४। ३६)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

(४। ३७)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'यदि तुम सारे पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाले हो तो भी ज्ञानरूप नौकाके द्वारा निश्चय ही सम्पूर्ण पापोंसे (जन्म-मरण-प्रवाहसे भलीभाँति) तर जाओगे।' 'अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्मसात् कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मोंको भस्मसात् कर देती है।' 'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह अन्य कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको (समस्त कर्मनाश तथा मोक्षस्वरूप तत्त्वज्ञानको) समयपर स्वयं ही समत्व बुद्धिरूप योगके द्वारा भलीभाँति शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मामें ही अनुभव करता है।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(१३। ३०)

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

(१४। २०)

'यह पुरुष जिस कालमें समस्त भूत-प्राणियोंके पृथक्-

पृथक् भावको एक परमात्मामें स्थित देखता है और उस परमात्मासे ही समस्त भूत-प्राणियोंका विस्तार देखता है, उस कालमें वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।' 'यह पुरुष स्थूल शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप तीन गुणोंसे जब अतिक्रमण कर जाता है, तब जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था तथा सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतत्वका अनुभव करता है।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(१२।१०)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'अर्जुन! तू यदि अभ्यास करनेमें असमर्थ है तो केवल मेरे लिये ही कर्म करनेके परायण हो जा। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्म करके तू (मेरी प्राप्तिरूप) सिद्धिको प्राप्त होगा।' 'जिस परमात्मासे समस्त भूत-प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस परमात्मासे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमात्माको अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(८।२१)

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(१५।६)

'उस (परमात्मा)-को अव्यक्त, अक्षर ऐसे कहा गया है, उसीको परम गति कहते हैं तथा जिसको प्राप्त करके जीव वापस नहीं लौटते वह मेरा परमधाम है।' 'उस स्वयं प्रकाश परमधामको न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। उसको पाकर जीव वापस नहीं लौटते और वह मेरा परमधाम है।'

यह परमधाम स्वयं भगवान्‌के ही स्वरूप है। इसीसे अर्जुनने भगवान्‌को 'परम' धाम बतलाया है।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

(१०।१२)

भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

'बहुत-से जन्मोंके अन्तके जन्ममें ज्ञानी भक्त—'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजकर प्राप्त होता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

(४।१०)

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८।५)

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

(१३।१८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४। १९)

'आसक्ति, भय और क्रोधसे रहित मुझमें तन्मय, मेरे ही आश्रित बहुत-से पुरुष मेरे ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे भाव (स्वरूप)-को प्राप्त हो चुके हैं।' 'अन्तकालमें जो पुरुष मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह मेरे ही भाव (स्वरूप)-को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।' 'क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेयका स्वरूप संक्षेपसे (अध्याय १३ श्लोक ५ से १७ तक) कहा गया है, इसको तत्त्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव (स्वरूप)-को प्राप्त होता है।' 'जिस कालमें द्रष्टा (द्रष्टाके रूपमें स्थित) पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, उस कालमें वह मेरे भाव (स्वरूप)-को प्राप्त होता है।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(७। २३)

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८। ७)

'(भगवान्‌से पृथक् मानकर देवताओंके भजनेवाले) उन अल्प बुद्धिवालोंको नाशवान् फल ही मिलता है और वे देवपूजक देवताओंको प्राप्त होते हैं, पर मेरे भक्त तो मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

'अतएव तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८।१४—१६)

'जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित होकर नित्य-निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। वे परम सिद्धि (मेरे प्रेम)-को प्राप्त महात्मागण मुझे प्राप्त होकर, दुःखके स्थानरूप पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते। अर्जुन! ब्रह्मलोकतकके सब लोक पुनरावर्ती हैं, वहाँ जानेवालोंको वापस लौटना पड़ता है, परंतु कौन्तेय! मुझे प्राप्त हो जानेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९।३४)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।९-१०)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११।५५)

'मुझमें मनवाले होओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो,

मुझे ही नमस्कार करो—इस प्रकार मेरे परायण होकर अपनेको मुझमें युक्त रखो तो मुझको ही प्राप्त होओगे।'

'जिन्होंने अपना चित्त मुझमें ही लगा दिया है, अपने प्राण (जीवन) मुझको अर्पण कर दिये हैं, वे भक्तजन नित्य परस्पर मेरी चरचा करते, मेरे प्रेम-स्वभाव-गुणोंको परस्पर समझते-समझाते हुए मेरे ही नाम-गुणोंका कथन करते हुए, मुझमें ही संतुष्ट रहते हैं और मुझमें निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे रहकर प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' 'जो मेरा ही कर्म करता है (अपना कुछ कर्म उसका है ही नहीं), मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, किसी भी प्राणिपदार्थमें आसक्ति नहीं रखता और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें जो वैरभावसे रहित है ऐसा अनन्यभक्त मुझको ही प्राप्त होता है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६५-६६)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर—इस प्रकार करनेपर तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सब धर्मोंका परित्याग कर तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोच मत कर।'

'इस परमधामकी, परमात्माकी या भगवान्‌की प्राप्ति अथवा

मुक्ति—मानव-जीवनका परम लक्ष्य है, जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं होती, तबतक जन्म-मृत्यु, ऊँच-नीच लोकोंकी प्राप्ति, अगति-दुर्गति, सद्गति, परम गति आदि स्थितियाँ होती ही रहेंगी; इसी ध्रुव सत्यका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने रणांगणमें अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको किया है और उसे बार-बार मानव-जन्मके परम लक्ष्यकी याद दिलाकर शरणागत होनेकी आज्ञा दी है। जीवात्माको परमात्मस्वरूपमें मिल जाना मुक्ति है—यह भी भगवत्प्राप्ति है; क्योंकि परमात्मा, भगवान् एक ही तत्त्व है और भगवत्सेवाधिकार प्राप्त करके भगवत्स्वरूप दिव्य लीला-लोकोंमें—भगवान्के दिव्य परमधाममें निवास करना भी भगवत्प्राप्ति है।' शान्ति, मोक्ष, ज्ञान आदिके नामसे, जिनमें परमात्मस्वरूपमें मिल जाना है—प्रधानतया उस मुक्तिका और मेरी प्राप्ति आदिमें सेवाधिकार प्राप्त करके भगवान्के दिव्य परमधाममें निवासका संकेत है। दोनोंमें ही पुनर्जन्म नहीं होता, दोनोंमें ही जन्म-मरणका चक्र छूट जाता है। दोनों ही परम सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, पर एकमें अभिन्न ब्रह्मानन्द है, दूसरेमें दिव्य रसलीलानन्द है।

भोगवाद और आत्मवाद

भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य है आत्मसाक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति और आजके जगत्‌का लक्ष्य है भोगप्राप्ति। इसीसे भारतीय सिद्धान्त है आत्मवाद या ईश्वरवाद और आजके जगत्‌का सिद्धान्त है भोगवाद। भगवान्‌ने गीतामें सर्वथा पतन या सर्वनाशका कारण बतलाया है भोगचिन्तन या विषयचिन्तनको। भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'भोगोंके—विषयोंके चिन्तनसे उन विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे (उनको प्राप्त करनेकी) कामना पैदा होती है। कामना (सफल होनेपर लोभ और उस)-की विफलतामें, कामपर चोट लगनेपर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध (या लोभ)-से सम्मोह होता है—पूरी मूढ़ता छा जाती है। मूढ़तासे स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिभ्रंश होनेपर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धिके नाशसे सर्वनाश होता है।'

ये सर्वनाशके आठ स्तर हैं। इनमें सबसे पहला है विषयोंका—भोगोंका चिन्तन। इसीसे अन्तमें बुद्धिनाश होकर सर्वनाश होता है। भोग जिसके जीवनका लक्ष्य होगा, भोगवाद ही जिसका सिद्धान्त होगा—वह व्यक्ति हो, चाहे व्यक्तियोंका समुदाय-समाज हो, समाजोंसे भरा देश हो, देशोंका समूह राष्ट्र हो या राष्ट्रोंका समुदाय विश्व हो—जहाँ भोगवाद है, वहाँ

भोगचिन्तन है और जहाँ भोग-चिन्तन है, वहीं परिणाममें सर्वनाश है। भगवान्ने भोगजनित सुखको पहले मधुर लगनेवाला परंतु परिणाममें विषके सदृश बतलाया है। वे कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर जो पहले अमृतके समान (मधुर) लगता है, परंतु जो परिणाममें विषके तुल्य (कार्य करता) है, वह सुख राजस कहलाता है।'

एक जगह भोग-सुखको भगवान्ने दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान—दुःखस्वरूप फलका खेत बतलाया है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न जो सब भोग हैं, वे निःसंदेह दुःखके उत्पत्ति-स्थान हैं तथा आदि-अन्तवाले अनित्य हैं, भैया अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।'

अवश्य ही भारतीय संस्कृतिमें भोगका बहिष्कार नहीं है—अर्थ और कामका तिरस्कार नहीं है, परंतु वे जीवनके लक्ष्य नहीं हैं। भोग रहें, पर रहें धर्मके नियन्त्रणमें और उनका लक्ष्य हो मोक्ष या भगवत्प्राप्ति। पुरुषार्थचतुष्टयमें इसीलिये अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारोंको स्थान है। धर्मनियन्त्रित अर्थ-काम भगवत्सेवामें नियुक्त होकर मोक्षकी प्राप्तिके साधन बनते हैं और वे ही 'अर्थ-काम' जीवनके लक्ष्य बनकर मनुष्यको घोर अशान्ति तथा चिन्तामय जीवन बितानेको बाध्य करके अन्तमें नरकोंकी यन्त्रणामें पहुँचा देते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'अर्थ' और

'काम' में फँसे लोग कुत्ते और बंदरोंके समान हो जाते हैं। (१। १८। ४५) धन—लक्ष्मी रहे, वह परम मंगलमयी है, पर वह तभी मंगलमयी है, जब सर्वव्यापी—प्राणिमात्रके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् विष्णुकी सेविका होकर रहती है। नहीं तो, उसे अपनी भोग्या बनाकर तो मनुष्य महापाप करता है, जिससे उसका निश्चित पतन होता है।

हमारे इस 'धर्म' से किसी वादका लक्ष्य नहीं है या केवल अध्यात्मविचार ही धर्म नहीं है। धर्म उस निष्ठा, विचार और क्रिया-पद्धतिका नाम है जो सबको धारण करता है। जिससे मनुष्यका सात्त्विक उत्थान हो, जो प्राणिमात्रका हित तथा सुखका साधन हो तथा अन्तमें निःश्रेयस या मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला हो, वही धर्म है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक० १। २)

श्रीवाल्मीकीयरामायणमें भगवान् श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(अयोध्याकाण्ड २१। ५७-५८)

'धर्मके फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म, अर्थ और काम देखे जाते हैं, वे तीनों एक धर्ममें वर्तमान हैं।

धर्मके अनुष्ठानसे ही तीनोंकी सिद्धि होती है, इसमें संदेह नहीं है। वैसे ही जैसे पतिके अधीन रहनेवाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्ममें, मनोऽनुकूल होनेसे काममें और सुपुत्रवती होकर अर्थमें सहायिका होती है। जिस कर्ममें धर्म, अर्थ, काम—तीनों संनिविष्ट न हों, परंतु जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, वही कर्म करना चाहिये। जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है और धर्मविरुद्ध कामभोगमें आसक्त होना भी प्रशंसा नहीं निन्दाकी बात है।'

भोगवादी इस धर्मकी परवा नहीं करता। उसका निश्चित सिद्धान्त ही होता है कामोपभोग—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

(गीता १६। ११)

'विषयभोगमें लगे मनुष्य बस, यही सब कुछ है—ऐसा निश्चितरूपसे मानते हैं।'

यह आसुरी सम्पदावाले असुर मानवका निश्चित सिद्धान्त है। भोगवाद ही आसुरी सम्पदा है या आसुरी सम्पत्ति ही भोगवाद है।

भोगवादी या असुर-मानव धर्मको नहीं मानता, वह भगवान्‌का भजन तो करता ही नहीं। भगवान्‌ने उसके लिये कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

(गीता ७। १५)

'आसुरीभावका समाश्रयण किये हुए मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानवाले, दूषित कर्म करनेवाले नराधम मूढ़ मुझको (भगवान्‌को) भजते ही नहीं।' भगवान्‌को नहीं भजते, भोगोंमें ही लगे रहते हैं, इसीसे वे नराधम तथा मूढ़ हैं।

ऐसे भोगवादी असुर मानवको जीवनमें मिलते हैं—चिन्ता, अशान्ति, कामजनित पाप तथा मृत्युके बाद नरकोंकी प्राप्ति तथा बन्धन। यथा—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।

(गीता १६। ११)

'मृत्युके अन्तिम क्षणतक अपरिमित चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं।'

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।

(गीता १६। १६)

'मोहजालसे समावृत अनेक प्रकारसे भ्रमितचित्त (अशान्त) रहते हैं।'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

श्रीभगवान्‌ने कहा—'रजोगुण (विषयासक्ति)-से उत्पन्न यह काम ही (चोट खाकर) क्रोध बन जाता है। यह काम कभी तृप्त न होनेवाला महापापी है। (मनुष्यके द्वारा होनेवाले पापोंमें) यह काम ही वैरीका काम करता है—इसीसे पाप होते हैं, ऐसा समझो।'

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(गीता १६। १६)

'विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्तलोग अपवित्र नरकोंमें पड़ते हैं।'

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

(गीता १६। ५)

'दैवी सम्पदासे मोक्ष मिलता है और आसुरीसे बन्धन। यही मत है।'

भोगवादी असुर मानवका 'कामक्रोधपरायण' होना अनिवार्य है।

भोगवादका विष हमारी भारतीय संस्कृतिमें नहीं था, यह पाश्चात्य जगत्से यहाँ आया है और अब तो समस्त विश्वमें इतने भयानकरूपमें इसका प्रसार हो रहा है कि दिन-रात सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें भोगचिन्तन ही मनुष्यका स्वभाव-सा बन गया है और यह निश्चित है कि भोग-चिन्तनका परिणाम बुद्धिनाशके द्वारा सर्वनाश होता है। भोगवादका यह विषमय परिणाम है कि आज भारतमें भी पाश्चात्य जगत्की भाँति प्रायः सभी वाद, चाहे वह कांग्रेस हो, कम्यूनिज्म हो, कम्यूनलिज्म हो, कैपिटेलिज्म हो, सोशलिज्म हो या कोई भी 'साम्प्रदायिक' कहा जानेवाला वाद हो, सभी भोगदृष्टिसे ही अपने कर्तव्यका विचार करते हैं। इसीसे सर्वत्र दलबंदी, कलह, द्वन्द्व, एक-दूसरेको गिरानेकी चेष्टा, एक ही धर्ममतमें परस्पर निन्दा तथा पतनकी चेष्टा आदि हो रही है। यह धर्मरहित राजनीतिका अवश्यम्भावी परिणाम है। हमारे यहाँ मनुमहाराजने राजाको शिकार, द्यूत, दिवानिद्रा, परदोष-कथन, स्त्रीसहवास, मद्यपान, नृत्य, गीत, वाद्य और व्यर्थ भ्रमण—इन कामजनित दस दोषोंसे तथा चुगली, अनुचित साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरेके गुणोंमें दोषारोपण, द्रव्यहरण, गाली और कठोरता—इन क्रोधजनित आठ दोषोंसे बचनेके लिये कहा है। पर आज यही सब दोष जीवनके आवश्यक अंग या स्वभाव-से बन गये हैं। अभी चुनावके तामस यज्ञमें इनका विविध प्रकारसे अकाण्ड ताण्डव प्रत्यक्ष देखा गया। हमारे प्रतिदिनके राजनीतिक जीवनमें भी ये दोष अंगस्वरूप ही बन गये हैं। ऐसा होना भोगवादी असुर मानवके लिये अनिवार्य है; क्योंकि वह तो इन्हींको गुण मानता है।

यह चीज केवल धर्महीन राजनीतिक क्षेत्रमें ही नहीं है, भोगवादीके द्वारा केवल भोगप्राप्तिके लिये स्वीकृत कोई भी जीवन-निर्वाहकी या लौकिक उत्थान-अभ्युदय अथवा प्रगतिकी पद्धति भोगचिन्तन तथा अन्तमें बुद्धिनाशके द्वारा सर्वनाश करानेवाली होती है। इसी कारण आज हमारे सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक, नैतिक—सभी क्षेत्रोंमें बड़ी तेजीके साथ दैवी सम्पत्तिका ह्रास तथा आसुरीका विकास हो रहा है। जो अन्तमें महान् विनाश या घोर पतनका कारण होगा।

भोगवादी असुर मानव क्या सोचता, करता है तथा उसका परिणाम क्या होता है, इसपर भगवान् कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १३से १५,१८ से २०)

'मैंने आज यह कमाया है, मेरे इस मनोरथको भी मैं अवश्य प्राप्त करूँगा। मेरे पास यह इतना धन तो है, फिर और मिलेगा। (मेरे काममें बाधा देनेवाला) वह शत्रु तो मेरे द्वारा समाप्त कर दिया गया

है, जो दूसरे और हैं उनको भी मैं मार डालूँगा। मैं शासक ईश्वर हूँ, मैं ऐश्वर्यका भोगी हूँ, मैं सफलजीवन हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् हूँ, मैं अभिजनवान्—जनताका नेता हूँ, मेरे समान दूसरा है कौन? मैं (बड़े-बड़े) यज्ञसेवाके कार्य करूँगा, मैं बड़े-बड़े दान दूँगा और मेरे मोदका पार नहीं रहेगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित वे असुर मानव मनोरथ किया करते तथा डींग हाँका करते हैं।'

'इस प्रकार जो अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधके आश्रित, गुणियोंमें भी दोषारोपण करनेवाले तथा दूसरोंके शरीरोंमें स्थित मुझसे (भगवान्से) बड़ा द्वेष करते हैं, उन द्वेष करनेवाले, अशुभकर्ता, निर्दय, नराधमोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार-बार आसुरीयोनियोंमें ही पटकता हूँ। भैया अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष मुझको (भगवान्को) न पाकर जन्म-जन्ममें (बार-बार) आसुरीयोनिको प्राप्त होते हैं, तदनन्तर और भी अधम गति (नरकादि)-में जाते हैं।'

आजके युगके भोगवादी मानवका यह प्रत्यक्ष चित्र है। सारा विश्व ही आज इन आसुरी भावोंका समाश्रयण किये हुए अपने विनाशका पथ प्रशस्त कर रहा है। सभी भोगचिन्तनपरायण हैं; कोई मान-यशकी कामना करता है तो कोई अधिकार-सत्ताकी, तो कोई धन-वैभवकी—इसीसे सभी ओर छीना-झपटी हो रही है।

भारतीय संस्कृतिका जो 'कर्तव्य' तथा 'त्याग' का उज्ज्वल आदर्श था, उसकी जगह आज 'अधिकार' तथा 'भोग' ने ले ली है। सभी लोग 'अधिकार' और 'अर्थ' या भोगके पीछे उन्मत्त हैं। 'कर्तव्य' तथा 'त्याग' होनेपर उचित अधिकार तथा अर्थ-भोग अपने-आप आते हैं। राम और भरतका इतिहास इसका साक्षी है। कर्तव्य तथा त्यागके कारण दोनोंके अधिकार कायम रहे—दोनों ही उचित अर्थके भागी हुए।

हमारा आदर्श ही था कर्तव्यमय त्याग। अमृतत्वकी प्राप्ति त्यागसे ही होती है। उपनिषद्की वाणी है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः॥

कर्मसे नहीं, प्रजासे नहीं, धनसे नहीं, एक त्यागसे ही कोई अमृतत्वको प्राप्त होते हैं—इसीसे वेदका उपदेश है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

(शुक्लयजुर्वेद ४०। १)

अखिल विश्वमें जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ। किसीके धनकी इच्छा न करो।

आज यह बात उपहासकी-सी वस्तु बन गयी है। आज तो प्रत्येक वस्तुका मूल्यांकन होता है—आर्थिक या भोगदृष्टिसे ही। आत्माका प्रकाश करनेवाली 'शिक्षा' भी आज भोगदृष्टिसे ही होती है। प्रत्येक वस्तुपर इसी दृष्टिसे विचार किया जाता है कि इसमें आर्थिक लाभ है या नहीं? पंचवर्षीय योजनाएँ, शिक्षा-कला-विस्तार, नये-नये कारखाने, दवा-उद्योग, कसाईखाने, हिंसा-उद्योग सब इसी दृष्टिसे खोले तथा चलाये जाते हैं। धर्मकी कहीं कोई आवश्यकता ही नहीं। यह सब भोगवादके विषका ही विषैला प्रभाव है।

भोगवादके विषसे आक्रान्त होनेके कारण ही आज भारतके बड़े-बड़े अध्यात्मवादी विद्वान् भी, पाश्चात्य भोगवादी विद्वान् बुरा न बता दें, इसके लिये अपनी संस्कृतिके परम्परागत सम्मान्य सिद्धान्तोंको तथा इतिहासोंको भी यथार्थरूपमें प्रकाश करनेमें हिचकते हैं और उन्हें विकृत करके उनके मतानुकूल बतानेका प्रयत्न करते हैं। यह मस्तिष्कका दासत्व बड़ा ही शोचनीय तथा घातक है। इसीसे हमारे

प्राचीन इतिहास तथा ऐतिहासिक घटनाओंके काल बदलनेकी और सबको तीन हजार वर्षके अन्दर लानेकी चेष्टा की जा रही है और दुःखका विषय है कि हमारे विद्वान् इन बातोंको स्वीकार करते चले जा रहे हैं। किसी भी व्यक्ति या राष्ट्रको यदि गिराना हो तो उसका प्रधान साधन है—उसके आत्म-गौरव तथा आत्म-विश्वासको मिटा देना—उसके अपनेमें हीनताका बोध करा देना। यह काम पाश्चात्य विद्वानोंने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और इसीसे भारत अपनेमें हीनताका बोध करके सहज ही मस्तिष्कका दासत्व स्वीकार कर परमुखापेक्षी तथा परानुकरणपरायण हो गया। विदेशी भाषा, विदेशी वेशभूषा, विदेशी खान-पान, विदेशी रहन-सहन तथा विदेशी ज्ञानका गौरवके साथ ग्रहण करना—हमारी इस आत्महीनताके बोधका ही सहज परिणाम है। पाश्चात्य विद्वानोंने भ्रमसे या किसी कुटिल अभिसंधिसे इन तीन महाभ्रमोंका प्रतिपादन और प्रचार-प्रसार किया—

(१) आर्यजाति बाहरसे आयी है। भारतवर्ष उसका मूल निवासस्थान नहीं है।

(२) चार हजार वर्ष पहलेका इतिहास नहीं है।

(३) जगत्‌में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है।

मस्तिष्कको गुलामीके कारण भारतीय विद्वानोंने अधिकांशमें इन तीनोंको स्वीकार कर लिया। इसीका फल है कि आज हम भारतीयोंकी अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज तथा अपने गौरवमय महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थ—वेद-स्मृति तथा पुराण आदिपर अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है और इसीसे भोगवादके विष-विस्तारमें बड़ी सुविधा हो गयी है। इसीसे आज हम तमसाच्छन्न होकर सभी कुछ विपरीत देखने, विपरीत सोचने और विपरीत करनेमें गौरव मान रहे हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८। ३२)

'अर्जुन! तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म, (अवनतिको उन्नति, विनाशको विकास, पतनको उत्थान, पापको पुण्य इस प्रकार—) सभी अर्थोंमें विपरीत मानती है, वही तामसी बुद्धि है।'

आजका संसार भोगवादके विषसे जर्जरित होनेके कारण तमसाच्छन्न होकर इसी तामसी बुद्धिके द्वारा अपने कर्तव्यका निश्चय करता और तदनुसार चल रहा है। भारतवर्ष भी आत्मविस्मृत होकर इसी तामसी बुद्धिका आश्रय ले रहा है।

भारतने यदि अपने पूर्वज ऋषि-महर्षि तथा अपनी प्राचीन संस्कृति एवं धर्म-ग्रन्थोंपर विश्वास करके अपनी अत्यन्त प्राचीन सर्वांगसम्पन्न सर्वांगसुन्दर आत्मवादी आदर्श संस्कृतिको न अपनाया तो इसका परिणाम उसके लिये तथा समस्त जगत्के लिये भी बहुत बुरा होगा; क्योंकि यही देश तथा यहींकी संस्कृति अनादिकालसे अध्यात्म-प्रधान आत्मवादी रही है। यह आज भी वर्तमान जगत्की स्थितिसे असंतुष्ट यूरोप तथा अमेरिकाके बहुत-से सज्जन सच्चे शान्ति-सुखकी प्राप्तिके लिये आत्मवादी भारतवर्षकी ओर ताक रहे हैं और बहुत-से तो यहाँ आ-आकर अध्यात्मकी शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। पर जब भारत ही भोगवादी हो जायगा, तब तो जगत्की सारी आशा ही लुप्त हो जायगी। भारत आज इसी भोगवादके मोहजालमें फँसा है। भारतके मनीषियोंको गम्भीरतापूर्वक इसपर विचार करके किसी प्रकाशमय पथका पता लगाकर उसपर आरूढ़ होना चाहिये।

गीतोक्त सांख्ययोग एवं कर्मयोग

गीताके पाँचवें अध्यायके चौथे, पाँचवें श्लोकोंके सम्बन्धमें आपने लिखा कि 'इन श्लोकोंका जो भावार्थ है, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ, किन्तु शब्दोंसे नहीं और गीता-जैसे ग्रन्थमें तो शब्द भी निरापत्ति ही होने चाहिये।' इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि यदि मूलके शब्द ही आपत्तिजनक प्रतीत होते हैं, तब भावार्थका कोई मूल्य नहीं है। परंतु गीतामें एक भी शब्द आपत्तिजनक नहीं है ऐसा विद्वानों और गीताके मर्मज्ञोंका मत है।

गीताका प्रधान लक्ष्य है भगवान्‌की उपलब्धि। उसके मुख्य दो भाग हैं—ज्ञानयोग (सांख्य, संन्यास) और कर्मयोग। ज्ञानयोग सांख्ययोगियोंके लिये और कर्मयोग कर्मयोगियोंके लिये है (गीता ३। ३)। लक्ष्य दोनोंका एक ही है—भगवत्प्राप्ति। चौथे श्लोकमें भगवान् कहते हैं—'सांख्य' और 'योग' को बालक (अज्ञजन) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, पण्डित नहीं। (दोनोंमेंसे) एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त होता है। पाँचवेंमें कहते हैं—'सांख्ययोगियोंद्वारा (सांख्यमार्गसे) जो स्थान (फल) प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा (कर्मयोगसे) भी वही प्राप्त किया जाता है। (अतएव) जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है।' यह शब्दार्थ है। भावार्थ भी इसीके अनुकूल होना चाहिये। ध्यान देकर देखनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् दोनों निष्ठाओंको एक नहीं बतलाते, दोनोंको फलस्वरूपमें एक बतलाते हैं। निष्ठाएँ तो पृथक्-पृथक् हैं ही और फल एक होनेसे समान फल देनेवाली एक बतलाना उचित ही है।

रही सांख्ययोग और कर्मयोगके अर्थकी बात, सो इसमें कुछ

मतभेद हैं। जहाँतक मेरी समझ है, न तो गीताके सांख्ययोगका अर्थ स्वरूपतः सर्वकर्मत्याग हैं और न कर्मयोगका अर्थ केवल लोककल्याणके लिये ही किये जानेवाले कर्म हैं। युद्ध-सरीखा कर्म भी कर्मयोगके अंदर आ सकता है।

सांख्ययोगका अर्थ है मन-वाणी-शरीरसे होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग और शरीर तथा संसारमें अहंता-ममताका त्याग। गुणोंके द्वारा गुणोंमें व्यवहारका ही नाम कर्म है और कर्मयोगका अर्थ है—फल और आसक्तिका त्याग करके भगवदर्पण-बुद्धिसे प्रत्येक कर्तव्य-कर्मका सम्पादन। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, देशसेवा, धर्मसेवा, कुटुम्बपालन, शरीर और परिवारका पोषण आदि सभी कर्मयोग हो सकते हैं—यदि वे फल और आसक्तिका त्याग करके केवल भगवदर्थ किये जायँ। इसी प्रकार ये सभी कर्म अकर्मस्वरूप (सर्वथा त्याग किये हुए) समझे जाते हैं, यदि कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषके द्वारा सम्पन्न हो। सांख्य अभेदका साधन है, कर्मयोग भेदका। दोनोंका लक्ष्य और फल एक ही है—'भगवान्‌की उपलब्धि'। कर्मयोगी तो कर्म करता ही है। सांख्ययोगीके लिये भी कर्मका निषेध नहीं है। (पाँचवें अध्यायका ८ वाँ, ९ वाँ श्लोक देखिये) 'इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानका त्यागी सांख्ययोगी देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना, आना-जाना, ग्रहण-त्याग करना आदि सभी कर्म कर सकता है। ऐसी स्थितिमें यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मयोगीका आदर्श निःस्वार्थ है और सांख्ययोगीका स्वार्थमय। दोनोंका ही ध्येय एक है। भावभेदसे निष्ठाभेदमात्र है। कठिनाईकी ओर देखें तो गीताके मतसे कठिनाई सांख्ययोगीके मार्गमें अधिक है'—'**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।**'

(गीता १२। ५)। भगवान्‌ने स्पष्ट ही इस मार्गमें क्लेशोंकी अधिकता बतलायी है। आत्मोन्नतिका प्रयत्न दोनों करते हैं—अन्तःकरणकी शुद्धि ही आत्मोन्नति है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर मानसिक और शारीरिक सभी क्रियाओंमें ऊँचापन, श्रेष्ठभाव और स्वाभाविक लोककल्याण आ जाता है। यह याद रखना चाहिये कि लोकका अकल्याण अशुद्ध अन्तःकरणवाले मनुष्योंद्वारा ही हुआ करता है। इस अन्तःकरणशुद्धिके बिना दोनोंमेंसे किसी भी मार्गमें आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसलिये इनमें छोटा-बड़ा कोई-सा नहीं है। हाँ, कठिनता और सुगमताके खयालसे छोटे-बड़ेका भेद है और इस अर्थमें भगवान्‌ने कर्मयोगको ज्ञान (सांख्य)-योगसे श्रेष्ठ बतलाया भी है।

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५। २)

यह बात भूलसे मानी जाती है कि लोककल्याणके लिये कर्म करनेवाला ही कर्मयोगी है। अवश्य ही व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊँचे उठकर लोककल्याणार्थ कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है, परंतु यदि उसमें भोगमयी लोककल्याणकी कामना है, तो वह भी गीतोक्त कर्मयोगी नहीं है। आजकल तो यहाँतक माना जाता है कि जो किसी प्रकारसे भी आर्थिक भोगसम्बन्धी सुविधा कर सके, वही कर्मयोगी है। इधर भगवान् कहते हैं—'जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध करो (२। ३८), प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्षित और उद्विग्न न होनेवाला ही स्थिरबुद्धि है (५। २०)। सब कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे मुझमें समर्पण करके आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करो (३। ३०)। जितने संस्पर्शज भोग हैं,

सभी दुःखयोनि हैं (दुःखोंको उपजानेवाले हैं) तथा अनित्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमता ही नहीं (५। २२)।' कहाँ तो यह आदर्श और कहाँ धन-मान आदिकी प्राप्तिके लिये—भगवान्को प्राप्त करनेकी कल्पना भी न करके दिन-रात आसक्तिपूर्ण कर्म करना! जो दुःखयोनि है, जिनमें बुद्धिमान् पुरुष भी प्रीति नहीं रखते, उन भोगोंमें आसक्ति तथा कामना भी रहे—चाहे वह समष्टिके लिये ही हो—और वह गीतोक्त कर्मयोगी—निष्काम कर्मयोगी भी कहलावे। यह तो कर्मयोगकी विडम्बनामात्र है। गीतोक्त कर्मयोगका स्वरूप है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२। ४८)

'हे अर्जुन! आसक्तिको त्यागकर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्में चित्त जोड़कर) कर्तव्यकर्म कर। समत्व ही योग कहलाता है।'

गीतोक्त कर्मयोगी कर्तव्यप्राप्त धन, मान आदिके लिये भी कर्म करता है, परंतु उसका लक्ष्य इस कर्मके द्वारा भगवत्प्राप्ति है। उसका ध्येय भगवान् हैं, भोग नहीं; इसीसे भगवान्ने कहा है—

'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥'

(गीता ३। ३०)

इसी प्रकार गीतोक्त 'संन्यासी' भी केवल कर्मत्यागी हो, सो बात नहीं है। वह भी '**सर्वभूतहिते रताः**' रहता है। लक्ष्य उसका भी भगवत्प्राप्ति है। थोड़ी देरके लिये यह मान लें कि गीतोक्त संन्यासीका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके एकान्तमें साधन करनेवाला संन्यासी है, तो क्या उसको हम स्वार्थी कहेंगे? सारा

संसार भगवान्‌से भरा है, भगवान्‌में है, भगवान्‌से निकला है, फिर भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये साधन करनेवाला क्या प्रकारान्तरसे जगत्-रूप भगवान्‌को सुखी करनेकी चेष्टा नहीं कर रहा है? राग-द्वेषका त्याग करके एकान्तमें साधन करनेवाला महापुरुष जगत्‌को अपने शुभ विचारोंसे, मंगलमयी कल्याणभावनासे अपने अस्तित्वमात्रसे जो कल्याणदान करते हैं। वह तो अनुपम होता है। आज हमारे देखनेमें ऐसे संन्यासी प्रायः नहीं हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि यह चीज ही खराब है। गीतोक्त कर्मयोगी ही कितने देखनेमें आते हैं? और जो ऐसे हैं वे अपनेको ऐसा सिद्ध करने आपके-हमारे सामने क्यों आने लगे? उन्हें हमारे द्वारा प्रमाण प्राप्त करनेकी क्या आवश्यकता है? मेरा तो यह विनम्र निवेदन है कि वैसे एकान्तवासी महात्मा संन्यासी स्वाभाविक ही जगत्‌का अशेष कल्याण करते हैं। वे बड़ी ही ठोस चीज हमें देते हैं। अतएव यदि इस अर्थमें भी कर्मयोगीको और सांख्ययोगीको एक माने तो कोई हर्ज नहीं है, यद्यपि गीताका यह भाव बिलकुल ही नहीं मालूम होता।

पत्र बहुत लम्बा हो गया। मेरी अन्तमें हाथ जोड़कर प्रार्थना है—मैं गीताका मर्मज्ञ नहीं हूँ। साधारण विद्यार्थीमात्र भी हूँ या नहीं, नहीं कह सकता। ऐसी स्थितिमें मैंने जो कुछ लिखा है; यह ठीक ही है—ऐसा मेरा दावा नहीं मानना चाहिये। आपके प्रश्नोंका उत्तर देनेके प्रसंगमें प्रसंगवश कुछ और भी लिख गया हूँ। इसके लिये आप-सरीखे सहृदय पुरुषसे क्षमाकी प्रार्थना और आशा करना अनुचित न होगा।

'या निशा सर्वभूतानाम्'

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'जो सब भूत-प्राणियोंके लिये रात्रि है, संयमी पुरुष उनमें जागता है और सब भूत-प्राणी जिसमें जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनिके लिये वह रात्रि है।' अर्थात् साधारण भूत-प्राणी और यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले अन्तर्मुखी योगियोंके ज्ञानमें रात-दिनका अन्तर है। साधारण संसारी लोगोंकी स्थिति क्षणभंगुर विनाशशील सांसारिक भोगोंमें होती है, उल्लूके लिये रात्रिकी भाँति उनकी दृष्टिमें वही परम सुखकर है, परंतु इसके विपरीत तत्त्वदर्शियोंकी स्थिति नित्यशुद्ध-बोधस्वरूप परमानन्द परमात्मामें होती है; उनके विचारमें सांसारिक विषयोंकी सत्ता ही नहीं है, तब उनमें सुखकी प्रतीति तो होती ही कहाँसे? इसीलिये सांसारिक मनुष्य जहाँ विषयोंके संग्रह और भोगोंमें लगे रहते हैं—उनका जीवन भोगपरायण रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञ पुरुष न तो विषयोंकी कोई परवा करते हैं और न भोगोंको कोई वस्तु ही समझते हैं। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें ऐसे महात्मा मूर्ख और पागल जँचते हैं, परंतु महात्माओंकी दृष्टिमें तो एक ब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके सिवा मूर्ख विद्वान्की कोई पहेली ही नहीं रह जाती। इसीलिये वे जगत्को सत्य और सुखरूप समझनेवाले अविद्याके फंदेमें फँसकर राग-द्वेषके आश्रयसे भोगोंमें रचे-पचे हुए लोगोंको समय-समयपर सावधान करके उन्हें जीवनका यथार्थ पथ दिखलाया करते हैं। ऐसे पुरुष जीवन-मृत्यु दोनोंसे ऊपर उठे हुए होते हैं। अन्तर्जगत्में प्रविष्ट होकर दिव्यदृष्टि प्राप्त

कर लेनेके कारण इनकी दृष्टिमें बहिर्जगत्का स्वरूप कुछ विलक्षण ही हो जाता है। ऐसे ही महात्माओंके लिये भगवान्‌ने कहा है—

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

(गीता ७। १९)

'सब कुछ एक वासुदेव ही है, ऐसा मानने-जाननेवाला महात्मा अति दुर्लभ है।' ऐसे महात्मा देखते हैं कि सारा जगत् केवल एक परमात्माका ही विस्तार है, वही अनेक रूपोंसे इस संसारमें व्यक्त हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्त वस्तुके अंदर परमात्मा व्याप्त हैं। असलमें व्यक्त वस्तु भी उस अव्यक्तसे भिन्न नहीं है। परम रहस्यमय वह एक परमात्मा ही अपनी लीलासे भिन्न-भिन्न व्यक्त रूपोंमें प्रतिभासित हो रहे हैं, जिनको प्रतिभासित होते हैं, उनकी सत्ता भी उन परमात्मासे पृथक् नहीं है। ऐसे महात्मा ही परमात्माकी इस अद्भुत रहस्यमय पवित्र गीतोक्त घोषणाका पद-पदपर प्रत्यक्ष करते हैं कि—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ४-५)

'मुझ सच्चिदानन्दघन अव्यक्त परमात्मासे यह समस्त विश्व परिपूर्ण है और ये समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ, ये समस्त भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी योगमाया और प्रभावको देख कि समस्त भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला मेरा आत्मा उन भूतोंमें स्थित नहीं है।' अजब पहेली है, पहले आप कहते हैं कि 'मेरे अव्यक्त स्वरूपसे सारा जगत् भरा है, फिर

कहते हैं, जगत् मुझमें है, मैं उसमें नहीं हूँ, इसके बाद ही कह देते हैं कि न तो यह जगत् ही मुझमें है और न मैं ही इसमें हूँ। यह सब मेरी मायाका अप्रतिम प्रभाव है—मेरी लीला है।' यह अजब उलझन उन महात्माओंकी बुद्धिमें सुलझी हुई होती है, वे इसका यथार्थ मर्म समझते हैं। वे जानते हैं कि जगत्में परमात्मा उसी तरह सत्यरूपसे परिपूर्ण है, जैसे जलसे बर्फ ओतप्रोत रहती है यानी जल ही बर्फके रूपमें भास रहा है। यह सारा विश्व, कोई भिन्न वस्तु नहीं है। परमात्माके संकल्पसे, बाजीगरके खेलकी भाँति, उस संकल्पके ही आधारपर स्थित है। जब कोई भिन्न वस्तु ही नहीं है तब उसमें किसीकी स्थिति कैसी ? इसीलिये परमात्माके संकल्पमें ही विश्वकी स्थिति होनेके कारण वास्तवमें परमात्मा उसमें स्थित नहीं है, परंतु विश्वकी यह स्थिति भी परमात्मामें वास्तविक नहीं है, यह तो उनका एक संकल्पमात्र है। वास्तवमें केवल परमात्मा ही अपने-आपमें लीला कर रहे हैं, यही उनका रहस्य है। इस रहस्यको तत्त्वसे समझनेके कारण ही महात्माओंकी दृष्टि दूसरी हो जाती है। इसीलिये वे प्रत्येक शुभाशुभ घटनामें सम रहते हैं—जगत्का बड़े-से-बड़ा लाभ उनको आकर्षित नहीं कर सकता; क्योंकि वे जिस परम वस्तुको पहचानकर प्राप्त कर चुके हैं उसके सामने कोई लाभ लाभ ही नहीं है। इसी प्रकार लोकदृष्टिसे भासनेवाले महान्-से-महान् दुःखमें भी वे विचलित नहीं होते; क्योंकि उनकी दृष्टिमें दुःख-सुख कोई (ईश्वरसे भिन्न) वस्तु ही नहीं रह गये हैं। ऐसे महापुरुष ही ब्रह्ममें नित्य स्थित समझे जाते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(५।२०)

ऐसे स्थिरबुद्धि संशयशून्य ब्रह्मवित् महात्मा लोकदृष्टिसे प्रिय प्रतीत होनेवाली वस्तुको पाकर हर्षित नहीं होते और लोकदृष्टिसे अप्रिय पदार्थको पाकर उद्विग्न नहीं होते; क्योंकि वे सच्चिदानन्दघन सर्वरूप परब्रह्म परमात्मामें नित्य अभिन्नभावसे स्थित हैं। जगत्के लोगोंको जिस घटनामें अमंगल दीखता है, महात्माओंकी दृष्टिमें वही घटना ब्रह्मसे ओतप्रोत होती है, इसलिये वे न तो ऐसी किसी घटनाका विरोध करते हैं और न उससे विपरीत घटनाके लिये आकांक्षा करते हैं; क्योंकि वे सांसारिक शुभाशुभके परित्यागी हैं।

ऐसे महापुरुषोंद्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, उससे कभी जगत्का अमंगल नहीं हो सकता; चाहे वे क्रियाएँ लोकदृष्टिमें प्रतिकूल ही प्रतीत होती हों। सत्यपर स्थित और केवल सत्यके ही लक्ष्यपर चलनेवाले लोगोंकी चाल, विपरीतगति असत्यपरायण लोगोंको प्रतिकूल प्रतीत हो सकती है और वे सब उनको दोषी भी बतला सकते हैं, परंतु सत्यपर स्थित महात्मा उन लोगोंकी कोई परवा नहीं करते। वे अपने लक्ष्यपर सदा अटलरूपसे स्थित रहते हैं। लोगोंकी दृष्टिमें महाभारतयुद्धसे भारतवर्षकी बहुत हानि हुई, पर जिन परमात्माके संकेतसे यह संहार-लीला सम्पन्न हुई उनकी और उनके रहस्यको समझनेवाले दिव्यकर्मी पुरुषोंकी दृष्टिमें उससे देश और विश्वका बड़ा भारी मंगल हुआ। इसीलिये दिव्यकर्मी अर्जुन भगवान्के संकेतानुसार सब प्रकारके धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल भगवान्के वचनके अनुसार ही महासंग्रामके लिये सहर्ष प्रस्तुत हो गये थे। जगत्में ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं जो बहुसंख्यक लोगोंके मतसे बुरी होनेपर भी उनके तत्त्वज्ञके मतमें अच्छी होती हैं और यथार्थमें अच्छी ही होती हैं, जिनका अच्छापन समयपर बहुसंख्यक लोगोंके सामने प्रकट और प्रसिद्ध होनेपर वे उसे मान भी लेते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि उनका अच्छापन कभी प्रसिद्ध

ही नहीं हो पाता, परंतु इससे उनके अच्छे होनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। सत्य कभी असत्य नहीं हो सकता, चाहे उसे सारा संसार सदा असत्य ही समझता रहे। अतएव जो भगवत्तत्त्व और भगवान्की दिव्य लीलाका रहस्य समझते हैं, उनके दृष्टिकोणमें जो कुछ यथार्थ प्रतीत होता है वही यथार्थ है। परंतु उनकी यथार्थ प्रतीति साधारण बहुसंख्यक लोगोंकी समझसे प्रायः प्रतिकूल ही हुआ करती है; क्योंकि दोनोंके ध्येय और साधनमें पूरी प्रतिकूलता रहती है।

सांसारिक लोग धन, मान, ऐश्वर्य, प्रभुता, बल, कीर्ति आदिकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी कुछ भी परवा न कर अपना सारा जीवन इन्हीं पदार्थोंके प्राप्त करनेमें लगा देते हैं और इसीको परम पुरुषार्थ मानते हैं। इसके विपरीत परमात्माकी प्राप्तिके अभिलाषी पुरुष परमात्माके लिये इन सारी लोभनीय वस्तुओंका तृणवत्, नहीं-नहीं, विषवत् परित्याग कर देते हैं और उसीमें उनको बड़ा आनन्द मिलता है। पहलेको मान-प्राण-समान प्रिय है तो दूसरा मान-प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठा समझता है। पहला धनको जीवनका आधार समझता है तो दूसरा लौकिक धनको परमधनकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक मानकर उसका त्याग कर देता है। पहला प्रभुता प्राप्तकर जगत्पर शासन करना चाहता है तो दूसरा '**तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना**' बनकर महापुरुषोंके चरणकी रजका अभिषेक करनेमें ही अपना मंगल मानता है। दोनोंके भिन्न-भिन्न ध्येय और मार्ग हैं। ऐसी स्थितिमें एक-दूसरेको पथभ्रान्त समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह तो विषयी और मुमुक्षुका अन्तर है। परंतु इससे पहले किये हुए विवेचनके अनुसार मुक्त अथवा भगवदीय लीलामें सम्मिलित भक्तके लिये तो जगत्का स्वरूप ही बदल जाता है। इसीसे वह इस खेलसे मोहित नहीं होता। जब छोटे लड़के काँचके या मिट्टीके खिलौनोंसे खेलते और उनके लेन-देन,

ब्याह-शादीमें लगे रहते हैं, तब बड़े लोग उनके खेलको देखकर हँसा करते हैं, परंतु छोटे बच्चोंकी दृष्टिमें वह बड़ोंकी भाँति कल्पित वस्तुओंका खेल नहीं होता। वे उसे सत्य समझते हैं और जरा-जरा-सी वस्तुके लिये लड़ते हैं, किसी खिलौनेके टूट जाने या छिन जानेपर वे रोते हैं। वास्तवमें उनके मनमें बड़ा कष्ट होता है। नया खिलौना मिल जानेपर वे बहुत हर्षित होते हैं। जब माता-पिता किसी ऐसे बच्चेको, जिसके मिट्टीके खिलौने टूट गये हैं या छिन गये हैं, रोते देखते हैं तो उसे प्रसन्न करनेके लिये कुछ खिलौने और दे देते हैं जिससे वह बच्चा चुप हो जाता है और अपने मनमें बहुत हर्षित होता है, परन्तु सच्चे हितैषी माता-पिता बालकको केवल खिलौना देकर ही हर्षित नहीं करना चाहते; क्योंकि इससे तो इस खिलौनेके टूटनेपर भी उन्हें फिर रोना पड़ेगा। अतएव वे समझाकर उनका यह भ्रम भी दूर कर देना चाहते हैं कि खिलौने वास्तवमें सच्ची वस्तु नहीं हैं। मिट्टीकी मामूली चीज हैं, उनके जाने-आने या बनने-बिगड़नेमें कोई विशेष लाभ-हानि नहीं है। इसी प्रकारकी दशा संसारके मनुष्योंकी हो रही है। संसारके लोग जिन सब वस्तुओंके नाश हो जानेपर रोते और पुनः मिलनेकी आकांक्षा करते हैं या जिनकी अप्राप्तिमें अभावका अनुभव कर दुःखी होते हैं और प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल जाते हैं, तत्त्वदर्शी पुरुष इस तरह नहीं करते, वे इस रहस्यको समझते हैं, इसलिये वे समय-समयपर बच्चोंके साथ बच्चे-से बनकर खेलते हैं, बच्चोंके खेलमें शामिल हो जाते हैं, परंतु होते हैं उन बच्चोंको खेलका असली तत्त्व समझाकर सदाको शोकमुक्त कर देनेके लिये ही!

योगका अर्थ

योगका यथार्थ अर्थ समझो। वह अर्थ है—'श्रीभगवान्‌के साथ युक्त हो जाना,' 'भगवान्‌को यथार्थमें पा लेना' या 'भगवत्प्रेमरूप अथवा भगवद्रूप हो जाना।' यही जीवका परम ध्येय है। जबतक जीव इस स्थितिमें नहीं पहुँच जायगा, तबतक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बंद होगा और न किसी पूर्ण नित्य सनातन, आनन्दरूप तत्त्वके संयोगकी अतृप्ति और प्रच्छन्न आकांक्षाकी ही पूर्ति होगी। इस पूर्णके संयोगका नाम ही योग है। अथवा इसको पानेके लिये जो जीवका विविधरूप साधन प्रयत्न है उसका नाम भी योग है। यह पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं, परन्तु यह याद रखो कि जो कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मन्त्र, लय या हठकी क्रिया भगवन्मुखी नहीं है, वह योग नहीं है, कुयोग है और उससे प्रायः पतन ही होता है।

अतएव इन सब योगोंमेंसे, जिसमें तुम्हारी रुचि हो, उसीको भगवत्प्राप्तिका मार्ग मानकर सादर ग्रहण करो। ये सब योग भिन्न-भिन्न भी हैं और इनका परस्पर मेल भी है। यों तो किसी भी योगमें ऐसी बात नहीं है कि वह दूसरेकी बिलकुल अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता-गौणताका अन्तर तो है ही। कुछ योगोंका सुन्दर समन्वय भी है। गीतामें ऐसा ही समन्वय प्राप्त होता है। केवल शरीर, केवल वाणी, केवल मन, केवल बुद्धि आदिसे जैसे कोई काम ठीक नहीं होता, इसी प्रकार योगोंके विषयमें भी समझो।

हाँ, इतना जरूर ध्यान रहे कि जिन योगोंमें मनका संयोग होनेपर

भी (जैसे नेति, धौति आदि षट्कर्म; बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम कुण्डलिनी-जागरण आदि) शारीरिक क्रियाओंकी प्रधानता है अथवा मन्त्र-तन्त्रादिसे सम्बन्धित देवविशेषकी पूजा-पद्धति मुख्य है, उनमें अज्ञान, अविधि, अव्यवस्था, अनियमितता होनेसे लाभ तो होता ही नहीं, उलटी हानि होती है। भाँति-भाँतिके कष्टसाध्य या असाध्य शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगोंकी अपेक्षा भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम हैं, ये अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद हैं। इनमें भी अनुभवशून्य लोगोंकी देखादेखी अविधि करनेसे हानि हो सकती है; अतएव शान्त, शीलवान्, शास्त्रज्ञ एवं अनुभवी गुरुकी—पथप्रदर्शककी सभी योगोंमें अत्यन्त आवश्यकता है।

परन्तु अध्यात्ममार्गका पथप्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत्कृपासे ही अनेक जन्मार्जित पुण्यपुंजके फलस्वरूप अनुभवी और दयालु सद्गुरु मिलते हैं। हर किसीको गुरु बना लेनेमें तो बहुत ही खतरा है। आजकल देशमें गुरु बनानेवालोंकी भरमार है। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि आज अनेकों लुच्चे-लफंगे, काम और लोभके गुलाम साधु, योगी, ज्ञानी और महात्मा बने फिरते हैं। इन्हींके कारण सच्चे साधुओंकी भी अनजान लोगोंमें कद्र नहीं रही। दूधका जला छाछको भी फूँक-फूँककर पीता है, यह प्रसिद्ध कहावत चरितार्थ हो रही है। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज साधुवेशमें फिरनेवाले लोगोंमें व्यसनी, कामी, क्रोधी, लम्पट, दुराचारी मनुष्य या पेशेवर, धन कमानेवाले लोग बहुत हो गये हैं। लोगोंको ठगनेके लिये बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाले और चालाकीसे भोलेभाले लोगोंको झूठी सिद्धिका चमत्कार दिखानेवाले अथवा कहीं एकाध मामूली सिद्धिके द्वारा लोगोंमें अनेकों परम सिद्ध साबित करनेवाले लोगोंकी आज कमी नहीं है। आज

हठयोगमें अपनेको सिद्ध माननेवाले लोग रोगी, ज्ञानयोगमें सिद्ध माननेवाले कामी, क्रोधी या मानी, लययोगमें सिद्ध माननेवाले शरीरकी नाडियोंसे और आभ्यन्तरिक अवयवोंसे अनभिज्ञ, भक्तियोगमें अपनेको परम भक्त बतानेवाले विषयी और मन्त्रयोगमें अपनेको सिद्ध-प्रसिद्ध करनेवाले सर्वथा असफल पाये जाते हैं और इसपर भी अपना मान-प्रतिष्ठा जमाने या कायम रखनेके लिये सिद्धाईका दावा करते देखे जाते हैं। ऐसे लोगोंसे साधकको सदा सावधान ही रहना चाहिये।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज सच्चे सिद्धिप्राप्त पुरुष हैं ही नहीं। हैं, अवश्य हैं, परंतु लोगोंके सामने अपनेको सिद्ध-प्रसिद्ध करके जान-बूझकर आसक्ति और स्वार्थवश कामिनी-कांचन या मान-सम्मान चाहनेवाले लोगोंमें तो कदाचित् ही कोई सच्चे सिद्ध होंगे। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंसे हमारा मतलब पातंजलोक्त अष्टसिद्धियाँ या अन्यान्य प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषोंसे नहीं है। किसी भी मार्गसे शेष सीमातक पहुँचकर जो भगवान्‌को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हीं महापुरुषोंसे हमारा अभिप्राय है। ऐसे महापुरुष यौगिक सिद्धियोंकी और चमत्कारोंकी कोई परवा नहीं करते। वास्तवमें सिद्धियाँ परमार्थके मार्गमें बाधक ही होती हैं। जिसकी चित्तवृत्ति भगवान्‌की ओर नहीं लगी है और जिसमें थोड़ी भी विषयासक्ति बची है, ऐसा पुरुष यदि किसी साधनसे सिद्धियाँ पा जायगा तो इससे उसका अभिमान बढ़ जायगा, विषयोंकी प्राप्ति और उनके भोगमें सिद्धियोंका प्रयोग होगा; जिनसे भोगोंमें बाधा पहुँचानेकी आशंका या सम्भावना होगी, चाहे वह भ्रमवश ही हो, उनको वैरी समझा जायगा और उनके विनाशमें सिद्धियोंका उपयोग किया जायगा। परिणाममें वह साधक रावण और हिरण्यकशिपु आदिकी भाँति असुर और धीरे-धीरे राक्षस बन जायगा। अवश्य ही

सिद्धियोंको पानेपर भी उनमें न रमकर उन्हें तुच्छ मानकर लाँघ जानेवाला पुरुष भगवान्‌को पा सकता है। परंतु ऐसा होना है बड़ा ही कठिन। अतएव परमार्थके साधकगण ब्रह्मलोकतकका भोग और ब्रह्मातककी सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सिद्धियोंसे भी अलग ही रहना चाहते हैं।

सच्ची सिद्धि तो अन्तःकरणकी वह शुद्ध स्थिति है, जिसमें भगवान्‌के सिवा दूसरेको स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसा शुद्धान्तः-करणरूप सिद्धिको प्राप्त करके और फिर उसके द्वारा साधन करके जो भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही परमसिद्ध हैं। यह परम सिद्धि प्राप्त होती है अन्तःकरणकी सम्यक् प्रकारसे शुद्धि होनेपर ही, फिर चाहे वह शुद्धि किसी भी योगरूप उपायसे हुई हो। ऐसे परम सिद्ध महात्मा भी मिल सकते हैं; परंतु उन्हें प्राप्त करनेके लिये हृदयमें लगन होनी चाहिये। सच्चे सत्संगके लिये जब हृदयमें छटपटाहट पैदा हो जायगी, जब संतमिलनके लिये प्राण व्याकुल हो उठेंगे, जब योगजिज्ञासारूपी अग्नि प्रबल और प्रचण्ड होकर हृदयमें छिपे हुए चोरोंको भस्मीभूत कर देगी और अपने प्रखरप्रकाशसे विषयाभिलाष-रूपी तमका नाश कर देगी और सारे प्रपंचको जलाती हुई दौड़ेगी भगवान्‌की ओर, तब भगवान् स्वयं व्याकुल होकर उसे बुझानेके लिये संतरूपी मेघ बनकर अमृतवर्षा करेंगे।

एक महानुभाव ढोंगी नहीं हैं, उनके मनमें कामिनी-कांचन या मानका लोभ भी नहीं है, अच्छे शास्त्रज्ञ भी हैं, परंतु साधन करके परम तत्त्वको पहचाने और पाये हुए नहीं हैं। योगग्रन्थोंके पण्डित हैं, परंतु साधक या सिद्ध योगी नहीं हैं। ऐसे पुरुषका संग करनेसे शास्त्रज्ञान तो हो सकता है। ग्रन्थीय विद्याप्राप्तिके लिये ऐसे सज्जनको अवश्य गुरु बनाना चाहिये और इसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि ग्रन्थीय विद्या क्रियात्मिका विद्यामें बहुत सहायक होती

है। परंतु ऐसे गुरुसे पढ़कर साधन करना—क्रियात्मक योग-साधना विपद्से शून्य नहीं है। इससे हानिकी बड़ी सम्भावना है। जब वैद्यक और इंजिनियरी आदिमें भी केवल पुस्तकज्ञानसे काम नहीं चलता, अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, तब योग-सरीखा साधन केवल पुस्तकज्ञानके आधारपर करना तो बहुत ही भयकी बात है।

अनुभवी गुरुसे जानकर भी यदि साधक उनकी बतायी हुई प्रत्येक बातको नहीं मानता, तो उसे भी सफलता नहीं हो सकती। बल्कि किसी-किसी प्रसंगमें तो उलटा नुकसान हो जाता है। अतएव यदि योगसाधना करनी हो तो पहले चित्तमें दृढ़ निश्चय करो, फिर गुरुको खोजो और भगवत्कृपासे गुरु मिल जायँ तब उनकी एक-एक छोटी-से-छोटी बातको भी महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक समझकर श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करो।

एक बात और है; सभी साधनोंका लक्ष्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। सारे ही योगोंकी गति उस एक ही परम योगकी ओर है। फिर ऐसा योग क्यों न साधना चाहिये, जिसमें रुकने या गिरनेका डर न हो, मार्गमें कष्ट भी न हो, जो सरल, सहज हो और इसी जीवनमें लक्ष्यतक पहुँच जानेका निश्चय हो। ऐसा योग है शरणागतियोग! भगवान्का अनन्य आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्का सतत स्मरण करते हुए अपने जीवनके भगवदनुकूल सभी कर्मोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करना और जीवनको उनके समर्पण कर निश्चिन्त हो जाना यही शरणागतियोग है और सभी योगोंमें विघ्न हैं, परंतु यह सर्वथा निर्विघ्न है, अतएव इसीको परम साधन समझकर इसीमें लग जाओ।

मनुष्यके दो बड़े शत्रु—राग और द्वेष

याद रखो—मनुष्यके दो बड़े शत्रु हैं, जो सदा साथ रहते हैं और जिनको हमने जीवनमें प्रमुख स्थान दे रखा है; यहाँतक कि हमारे प्रत्येक कार्य प्रायः उन्हीं दोनोंकी प्रेरणासे और उन्हीं दोनोंके नियन्त्रण-निरीक्षणमें होते हैं। वे शत्रु हैं—राग और द्वेष। अर्जुनसे श्रीकृष्णने कहा था—'प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेष हैं, उनके वशमें मत होओ! वे दोनों तुम्हारे कल्याणपथके शत्रु हैं।'

याद रखो—किसीका राग ही किसीके प्रति द्वेष होता है। हम किसी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिमें राग रखते हैं तो उनका जो कुछ विरोधी होता है, उसके प्रति हमारा द्वेष होता है। द्वेषका बदला द्वेषसे मिलता है। जिसके मनमें द्वेष है, उसके मनमें नित्य जलन रहती है तथा वह सदा बुरी बातें—दूसरोंके अहितकी बातें ही सोचा करता है और जैसे मनके विचार होते हैं, वैसी ही क्रिया बनती है। फलतः द्वेष जीवनका स्वभाव बन जाता है।

याद रखो—जिन प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियोंमें तुम्हारा राग है और जिनको तुम सदा अपनी ममताकी सीमामें रखना चाहते हो वे कदापि सदा तुम्हारी नहीं रहेंगी, वे तुमसे अलग होंगी ही, तुमसे बिछुड़ेंगी ही और ममताकी वस्तुका वियोग होनेपर बड़ा दुःख होगा।

याद रखो—राग और द्वेष दोनों ही चित्तमें अशान्ति रखते हैं तथा नयी-नयी अशान्ति पैदा करते रहते हैं। रागको प्राप्त वस्तुओंको बनाये रखने तथा अप्राप्त वस्तुओंको पानेकी कामना रहती है और द्वेषकी वस्तुओंसे सर्वनाशकी। दोनों ही प्रकारकी

कामनाएँ विवेकपर अज्ञानका पर्दा डाल देती हैं और अज्ञानवश तुम अपना भविष्य सोचनेमें असमर्थ होकर ऐसे-ऐसे बुरे संकल्प तथा बुरे कार्य कर बैठते हो, जिनका परिणाम तुम्हारे लिये बहुत ही बुरा होता है। उस परिणामके भोगसे बच नहीं सकते। पीछे पछतानेसे कुछ फल होता नहीं।

याद रखो—तुम जिससे द्वेष करते हो, अवश्य ही उसमें तुम्हें दोष दिखायी देते हैं। यह नियम है, जिसमें द्वेष होगा, उसके गुण भी दोषरूप दिखायी देंगे और तुम्हें किसीमें दोष इसीसे दिखायी देते हैं कि तुम्हारे अंदर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें वे दोष हैं। जिसमें जो चीज न हो, उसको कहीं भी वह नहीं दीखती। छोटे बच्चेमें जबतक कामवासनाका ज्ञान नहीं होता, तबतक कोई कैसा ही आचरण उसके सामने करे, उसमें कोई वासना उसे नहीं दिखायी देगी; क्योंकि उसमें वह है नहीं। किसी दैवी सम्पदायुक्त महापुरुषमें यदि सर्वत्र सद्बुद्धि या भगवद्बुद्धिका उदय हो गया है तो उसकी दृष्टि सभीमें संत या भगवान्‌को देखेगी—महात्मामें भी और चोर-डाकूमें भी; क्योंकि उसके जीवनमें संत और भगवान् ही रह गये हैं। अतएव तुम किसीमें दोष देखते हो तो इससे सिद्ध होता है कि तुममें वह दोष है, इसलिये तुम पहले अपने दोषको देखो, उससे घृणा करो, उससे द्वेष करो और उसका नाश करनेके प्रयत्नमें लग जाओ।

याद रखो—तुम्हें जो कुछ अच्छा-बुरा फल मिल रहा है, उसका तुम्हारे जन्मसे पहले ही निर्माण हो चुका है और वह हुआ है उस न्यायपरायण निर्भ्रान्त दयामयी नियन्त्रण करनेवाली प्रभुशक्तिके द्वारा, जो तुम्हारे अपने ही किये हुए कर्मके परिणामके रूपमें तुम्हारे कल्याणके लिये उस फलका

निर्माण करती है। दूसरा निमित्त बनकर अपना बुरा भले ही कर ले—तुम्हारे कर्मके बिना तुम्हारा बुरा वह नहीं कर सकता। अतएव तुम्हें जो फल मिल रहा है, इसके मूलमें तुम्हारा ही दोष है—अपराध है; अतएव दूसरेको दोष देकर उससे द्वेष करना व्यर्थ है और नया पाप करना है।

याद रखो—महान् सत्य यह है कि समस्त चराचर भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है, उसके रूपमें भगवान् ही प्रकट हैं, फिर भगवान्‌से द्वेष कैसे किया जाय। उनका तो हर हालतमें पूजन-सम्मान ही करना है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

शान्ति-सुखकी प्राप्तिके साधन

याद रखो—जबतक चित्त अशान्त है, तबतक किसी भी परिस्थितिमें वास्तविक सुख नहीं हो सकता और जबतक सांसारिक भोगोंके प्रति आकर्षण है, उनको प्राप्त करनेकी कामना है, तबतक चित्त शान्त हो नहीं सकता। गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'जो सारी कामनाओंको छोड़ चुका है, जो निःस्पृह है, जिसकी किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें ममता नहीं है और जो अहंकारसे रहित है, वह शान्ति प्राप्त करता है।' अथवा 'जो सर्वयज्ञ-तपभोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर (मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्)-को प्राणिमात्रका सुहृद् जानता है, अर्थात् जो भगवान्के प्रत्येक विधानको मंगलमय अनुभव करके प्रत्येक परिस्थितिमें उनके सौहार्दको देखता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।' अतएव जबतक भोगकामना है, तबतक चाहे जितनी भौतिक सम्पत्ति, समृद्धि, पद, अधिकार मिल जाय, उसे शान्ति मिल ही नहीं सकती। अग्निमें ईंधन-घी पड़नेपर उसके अधिकाधिक धधकनेकी भाँति उसकी कामनाकी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और उसी अनुपातमें जलन या अशान्ति भी बढ़ती है।

याद रखो—यदि वास्तवमें मनुष्य सुख चाहता है तो उसे जहाँ सुख—वास्तविक सुख है, उस स्थानपर पहुँचना होगा। वह स्थान है—नित्य एकरस सुखस्वरूप आत्मा और आत्मातक पहुँचनेके लिये शान्तिकी आवश्यकता है। अतएव शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। यह भी याद रखना चाहिये कि आत्मा अपना स्वरूप है, भोग प्रकृतिकी चीज है; इसलिये भोगकामनाका त्याग, तज्जनित शान्ति और

आत्माके स्वरूपकी उपलब्धि सहज है। पर मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो गयी है, तमसे ढकी हुई बुद्धि पापको पुण्य, त्याज्यको ग्राह्य, अधर्मको धर्म बतलाती है और इससे मनुष्यका जीवन दुष्प्रवृत्तिमें लग जाता है। जहाँ तामसी दुर्बुद्धि और तामसी बुद्धिजनित कामोपभोगपरायणतायुक्त आसुरी दुष्प्रवृत्ति हो जाती है, वहाँ मनुष्यके द्वारा सभी विपरीत कर्म होते हैं और उन नीच कर्मोंके अनुसार नीच संस्कार, उनसे मानसमें नीच प्रेरणा और नीच प्रेरणासे पुनः नीच कर्म बनते जाते हैं—और जीवन सर्वथा पापमय बनकर वह पतनके गर्तमें गिर जाता है तथा विविध भाँतिकी अवांछनीय विकृतियाँ और विपत्तियाँ उसके जीवनका स्वरूप बन जाती हैं। इससे बचनेकी चेष्टा करनी है।

याद रखो—इससे बचनेके लिये बचना होगा कुसंगसे। कुसंग केवल किसी पतित मनुष्यका ही नहीं होता; स्थान, वातावरण, साहित्य, खान-पान, रहन-सहन, कपड़े-लत्ते, व्यवहार-वाणिज्य आदि सभी कुसंग हो सकते हैं। जिस स्थानमें निवास करनेसे तामसिक बुद्धि बढ़ती हो, जिस वातावरणसे भोगवासना तथा पापवासना बढ़ती हो, जिन पुस्तकों-पत्रोंके पढ़नेसे वृत्तियाँ दूषित होती हों, जिस खान-पानसे मनमें तमोगुण बढ़ता हो, जिस रहन-सहनसे भगवान्के प्रति अश्रद्धा तथा भोगवासना बढ़ती हो, जिन वस्त्रोंके पहननेसे भोगासक्ति उत्पन्न होती और बढ़ती हो, जो व्यवहार-वाणिज्य या आजीविकाका साधन चोरी, हिंसाकी प्रवृत्ति तथा दूसरोंका अहित करनेवाला हो एवं जो कुछ भी देखने-सुनने, बातचीत करनेके विषय-भोगोंमें रुचि-आसक्ति और भगवान्में अरुचि पैदा करनेवाले हों, वे सभी कुसंग हैं; उनका जितना शीघ्र, जितने अंशमें त्याग किया जाय,

कर देना आवश्यक है। उसके बदले सत्साहित्यका अध्ययन, सदाचारका पालन करना और शुद्ध खान-पान-वस्त्र एवं शुद्ध व्यवसाय-वाणिज्यको अपनाना चाहिये।

याद रखो—शान्ति-सुखके लिये शुद्ध कामना, शुद्ध क्रिया, शुद्ध विचार, शुद्ध इच्छा, शुद्ध दर्शन, शुद्ध श्रवण तथा शुद्ध कथन आवश्यक है। शुद्ध वही है, जिसको अपनानेसे मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो, प्राणिमात्रपर दया हो, मन-तन-वचनसे किसीकी हिंसा न हो, चोरी-ठगी न हो, दूसरेके हकपर मन न चले, भगवान्‌में मन लगे, भगवच्चरणोंमें राग हो, भोगोंमें वैराग्य हो और सबमें भगवान् समझकर सबको सुख पहुँचाने, सबकी सेवा करने तथा सबका हित करनेकी प्रवृत्ति एवं उत्साह हो।

विषयचिन्तनसे सर्वनाश और भगवच्चिन्तनसे परम शान्ति

सबसे पहली बात तो यह कहनी है कि विषयचिन्तनसे हमारा सर्वनाश होता है और भगवच्चिन्तनसे हमें कभी नाश न होनेवाली परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। इसीसे गीतामें एक जगह आता है '**प्रणश्यति**' और दूसरी एक जगह आता है '**न प्रणश्यति**' भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(२। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनासे क्रोध पैदा होता है, क्रोधसे भलीभाँति मूढ़ता उत्पन्न हो जाती है, मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश होकर अन्तमें सर्वनाश हो जाता है।' दूसरी जगह श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे (एकमात्र मुझको ही शरण मानकर) मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो

जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

समझनेकी बात है। एक अच्छा आदमी है, उसके संचित भी अच्छे हैं, वह भी कुसंगतिमें पड़कर यदि विषयचिन्तनमें लग जाता है तो क्रमशः सर्वनाशके पथपर अग्रसर होता है और एक महापापी भी अच्छे संगके प्रभावसे यदि मनमें निश्चय करके अनन्यभावसे भगवच्चिन्तन करने लगता है तो सब पापोंसे छूटकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त होता है। इसीलिये संतोंने कहा है आगे-पीछेकी चिन्ताको छोड़कर वर्तमानको सुधारो।

कर्म तीन प्रकारके हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पिछले असंख्य जन्मोंके और इस क्षणसे पूर्वतकके जितने भी कर्म बिना भोगे हुए जमा हैं उनका नाम 'संचित' है, संचितमेंसे कर्मोंका जितना अंश इस जीवनमें भोग देनेके लिये प्रवृत्त है वह 'प्रारब्ध' है और जो कुछ सकामभावसे नये कर्म किये जाते हैं वह 'क्रियमाण' है। मनमें होनेवाली स्फुरणाओंमें प्रधान कारण प्रायः 'संचित' है। जैसा अच्छा-बुरा संचित होता है वैसी ही अच्छी-बुरी स्फुरणाएँ होती हैं, परंतु अधिकतर स्फुरणाएँ उसी संचितकी होती हैं जो नवीन होता है। किसी गोदाममें बहुत-सी चीजें रखी हैं। उसमेंसे निकालने जानेपर वही चीज सबसे पहले निकलेगी जो सबके बाद रखी गयी है। पुरानी चीजें या तो पीछे पड़ी हैं या नीचे दबी हैं। यद्यपि बीच-बीचमें उनकी भी गन्ध आया करती है। इसी प्रकार हमारे वर्तमान कर्म जैसे होते हैं वैसा ही संचित होता है और उसीके अनुसार स्फुरणाएँ होती हैं। फिर बार-बार जैसी स्फुरणा होती है वैसे ही कर्ममें प्रवृत्ति होती है। जैसे लड़कपनमें जब हम पढ़ते थे तब पढ़नेके सम्बन्धकी बातें ही अधिक याद आया करती थीं। अब यदि व्यापार करते हैं तो हमें रात-दिन व्यापारसम्बन्धी बातें ही अधिक याद

आती हैं; क्योंकि यही वर्तमानका नवीन कर्म है, जो संचित बनता है और उसीके अनुसार स्फुरणा होकर फिर उसी व्यापारमें ही प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार वर्तमान नवीन कर्मके अनुसार नवीन संचित, नवीन संचितके अनुसार स्फुरणा, स्फुरणाओंके अनुसार फिर वैसा ही नवीन कर्म, कर्मके अनुसार फिर संचित और स्फुरणा। यों वर्तमान कर्मके अनुसार एक चक्र बन जाता है जो उसी प्रकारके संचितोंको बढ़ाता रहता है। अतएव यदि हमारे संचितकी गोदाममें पहलेके बहुत पुण्य जमा हों, परंतु वर्तमानमें कुसंगमें पड़कर यदि हम बुरे कर्म करने लगते हैं तो उन्हींके अनुसार विषयोंका चिन्तन होता है और उनसे फिर वैसे ही बुरे कर्म बनते हैं और हम सर्वनाशके मुँहमें चले जाते हैं। पाप इतने बढ़ जाते हैं कि उनसे दबे हुए पुण्योंकी गन्ध भी कहीं मुश्किलसे आती है। और एक महापापी अपने पूर्व पापोंको छोड़कर ***'गयी सो गयी अब राख रहीको'*** इस उक्तिके अनुसार अपना शेष जीवन भगवान्‌के समर्पण कर भगवान्‌का अनन्य चिन्तन करने लगता है तो इस चिन्तनरूपी कर्मसे उसका वैसा ही संचित बनता है और वैसी ही स्फुरणा होती है। इस प्रकार भगवच्चिन्तनरूप कर्मका चक्र बन जानेसे ज्ञानाग्नि पैदा होकर उसके कर्मकी सारी गोदामको जला देती है और वह परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

यह बात याद रखनी चाहिये कि पापोंका मूल विषयासक्ति है। कुछ लोग यह कहते हैं कि पाप प्रारब्धसे होते हैं; परंतु यह बात ठीक नहीं। गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुनका प्रश्न है कि 'भगवन्! यह क्या वस्तु है जो इच्छा न होनेपर भी मनुष्यको मानो जबरदस्तीसे पापमें प्रवृत्त कर देती है?' इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

यहाँ भगवान्‌ने कामको ही पापका हेतु बतलाया है। कहा है कि यह काम रजोगुणसे उत्पन्न है, रज रागात्मक है यानी आसक्ति या संग ही रजोगुण है। यह आसक्ति विषयोंके चिन्तनसे होती है अतएव विषयचिन्तन ही सर्वनाशका प्रधान कारण है। यदि इस सर्वनाशसे बचकर शाश्वती शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो विषयचिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। उपर्युक्त ९। ३१ के श्लोकमें भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि मेरे ऐसे भक्तका नाश नहीं होता। यहाँ एक बात और याद आ गयी, उपर्युक्त श्लोकके अन्तिम अर्धांशका यह अर्थ भी किया जाता है कि 'अर्जुन! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरा भक्त नाशको प्राप्त नहीं होता।' यद्यपि यह अर्थ कुछ असंगत-सा मालूम होता है। बात भगवान् कहें और प्रतिज्ञा अर्जुन करें। परंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्‌ने यहाँ ऐसा कहकर मानो भक्तके साथ अपने एक विलक्षण सम्बन्धका परिचय दिया है। भगवान्‌की प्रतिज्ञा कभी टलनेवाली नहीं होती, परंतु यदि उस प्रतिज्ञाके विरुद्ध किसी भक्तका प्रण अड़ जाय तो वहाँ भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देनी पड़ती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ ही दिनों बाद महाभारतयुद्धमें मिलनेवाला था। सर्वज्ञ भगवान् इस बातको जानते थे कि भक्तशिरोमणि भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मुझे अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ेगी। इसीलिये यहाँ अपने कथनको और भी पुष्ट करनेके लिये भक्तवर अर्जुनसे प्रतिज्ञा करवाते हैं। इस विचारसे यह अर्थ भी ठीक बैठता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि बिना भोगे ही पापोंका नाश होना तो कर्मसिद्धान्तके विपरीत बात है; इसका समाधान यह है कि कर्मसिद्धान्तकी रचना करनेवाले भगवान्‌ने ही इस नियमको भी रचा है कि जो पुरुष मेरे शरण होकर मेरा अनन्य चिन्तन करता है उसके पाप-ताप तुरंत ही नष्ट हो जाते हैं।

त्यागसे शान्ति

याद रखो—संसारके भोगोंमें सुख है ही नहीं, जो वस्तु जहाँ नहीं है, वह वहाँ कैसे मिलेगी। ढूँढ़ते रहो, दर-दर भटकते रहो, सिर पटकते रहो, सर्वत्र और सदा। अन्तमें निराशा, निर्वेद और व्यथाके ही थपेड़े लगेंगे। सुख, सच्चा और स्थायी सुख तो है—भगवान्‌में और उन भगवान्‌की प्राप्ति होती है त्यागसे।

याद रखो—जो पुरुष त्यागसे प्राप्त होनेवाले निर्मल सुखका अनुभव करता है, वह भोगोंकी ओर कभी आँख उठाकर देखता ही नहीं। हाँ, भोगोंके प्रचुर प्रलोभन भाँति-भाँतिसे सज-धजकर उसके सामने स्वयमेव आते हैं उसे अपनी ओर खींचनेके लिये, परंतु वह उन्हें उसी प्रकार ठुकरा देता है जैसे बहुमूल्य रत्नोंको पा जानेवाला मनुष्य रंग-बिरंगे काँच-पत्थरोंको।

याद रखो—त्यागीको अपनी संतोषमयी वृत्तिसे और त्यागभरी स्थितिसे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें भोगोंके—धन, मान, यश, आराम, अधिकार आदिके सभी सुख सर्वथा तुच्छ और नगण्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि भोग-सुख वस्तुतः सुख ही नहीं है। बुद्धिहीन मनुष्योंको भ्रमके कारण ही उसमें सुखकी प्रतीति होती है। असलमें तो उनसे दुःख ही उत्पन्न होते हैं, इससे बुद्धिमान् लोग भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसने देते—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

याद रखो—जो वस्तु अनित्य, परिवर्तनशील और अपूर्ण है, उससे कभी सच्चा और स्थायी सुख मिल नहीं सकता। इसीलिये आज जो किसी भोग-सामग्रीसे, धनसे, मानसे, संतानसे, सत्तासे अपनेको सुखी मानता है, वही कल रोता-विलपता देखा जाता है।

याद रखो—त्यागमें पहले-पहले कुछ कठिनाई-सी लगती है, कुछ कर्कशता-सी प्रतीत होती है, इसीसे मन उससे भागना चाहता है, परंतु गहराईसे विचार कर देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि जितनी कठिनाइयाँ, जितने क्लेश, जितनी कर्कशता और जितनी पीड़ा भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके साधनमें और प्राप्त होनेपर उनके संरक्षणमें है, उतनी त्यागमें कदापि नहीं है। वरं त्यागकी कठिनाई और भोगकी कठिनाईमें जातिगत बड़ा भेद है। त्यागकी कठिनाई सात्त्विक है और भोगकी कठिनाईमें राजसिकता तथा तामसिकता है। त्यागकी कठिनाईका परिणाम परम अमृतकी प्राप्ति है और भोगकी कठिनाईका परिणाम विषमयी ज्वाला है, जो लोक-परलोकके जीवनको जलाकर सर्वथा यातनापूर्ण और जर्जरित कर देती है।

याद रखो—भोग भ्रमाते हैं और त्याग स्वरूपमें स्थित कराता है। भोगोंसे कभी न पूरी होनेवाली भयानक इच्छा, कामना और वासनाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे सदा दुःख-ही-दुःख मिलते हैं एवं त्यागसे वे सब-की-सब क्षीण होती हैं तथा खुराक न मिलनेसे ईंधनके अभावमें आग बुझ जानेके समान—स्वयमेव बुझ जाती हैं, मर जाती हैं।

याद रखो—त्यागसे जीवनमें शान्ति मिलती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' और शान्तिसे मनुष्य परमानन्दस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है। भोगसे अशान्ति प्राप्त होती है और वह जीवको जबर्दस्ती नरकानलमें दग्ध होनेके लिये ले जाती है।

याद रखो—यदि तुम 'भोगोंमें सुख है' इस भ्रान्तिको त्यागकर भोगोंका मोह छोड़ दोगे तो शीघ्र ही सुखी हो जाओगे और तुम्हारा यह त्यागका सुखी जीवन तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जायगा। एवं ऐसा करनेपर तुम्हें निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

अध्यात्मविद्या

आजकलकी भाषामें अँग्रेजीमें बी० ए०, एम० ए० आदिकी परीक्षामें पास हो जाना 'उच्च शिक्षा' प्राप्त करना है और इन परीक्षाओंका पाठ्यक्रम जिन संस्थाओंमें पढ़ाया जाता है वे उच्च शिक्षालय या कॉलेज हैं। ऐसे कई कॉलेज जिस संस्थाके अन्तर्गत होते हैं, उसका नाम विश्वविद्यालय या युनिवर्सिटी है। 'उच्च शिक्षा' का सच्चा अर्थ तो यह होना चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करके मनुष्यका हृदय ऊँचा हो जाय। वह उच्च तत्त्वको जान ले, सत्यको पहचान ले और प्राप्त कर ले। सत्यसे वर्जित केवल तर्कशक्तिका विकास करनेवाला ज्ञान 'उच्च शिक्षा' कदापि नहीं है।

इस शिक्षाकी जरूरत है तो इसको भी प्राप्त करो-कराओ, परंतु इसे भाषाशिक्षा, विज्ञानशिक्षा, कृषिशिक्षा या गणितशिक्षा कहो। कहो नहीं तो समझो तो ऐसा ही, परंतु उच्च शिक्षाकी ओर भी जरूर ध्यान दो। वह उच्च शिक्षा है—अध्यात्मविद्या। '**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' भगवान्‌के इन वचनोंको याद रखो।

अध्यात्मविद्या भी वह नहीं जिससे केवल 'वेदान्तरत्न' या 'भक्तिकौस्तुभ' की उपाधि ही नामके पीछे लग जाय। अध्यात्मविद्या असली वह है जिससे तुम्हारी मनोवृत्ति ऊँची हो, सत्यको खोजनेकी प्रवृत्ति जग उठे, सत्यकी ओर मन लगे और सत्यकी उपलब्धि जबतक न हो तबतक यह विद्याभ्यास न छूटे।

याद रखो—अध्यात्मविद्याके बिना तुम सत्यकी ओर अपना मुख नहीं फिरा सकते, सत्यकी ओर तुम्हारी गति नहीं हो सकती और तुम सत्यको नहीं पा सकते और सत्यको पाये बिना मनुष्य-जीवन व्यर्थ है।

इस विद्याका पहला लाभ है—जीवनका संयमित होना। जिसका जीवन असंयत है, जिसका शरीर, इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं हैं, जो इन्द्रियोंका गुलाम है वह कभी सच्चा विद्वान् नहीं कहा जा सकता। संयमी ही स्वतन्त्र है—चाहे वह शारीरिक बन्धनमें हो और इसके विपरीत किसी भी नियमके अधीन न रहनेवाला यथेच्छाचारी असंयमी पुरुष सर्वथा परतन्त्र है। जिस विद्याका पहला लाभ इस परतन्त्रताकी बेड़ीको काट डालना है, वही अध्यात्मविद्या है। हिंदुओंके प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रमोंमें सर्वप्रथम इसीकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी।

इसका दूसरा लाभ है सद्भावों और सद्गुणोंकी प्राप्ति। जो विद्या दुष्टभाव और दुर्गुणोंसे हमारे हृदय और कर्मोंको भर देती है, वह तो अविद्याका ही मोहसे बदला हुआ सुन्दर नाम है। अध्यात्मविद्या हृदयको सद्भावोंसे और आचरणोंको सद्गुणोंसे भर देती है।

इसका तीसरा लाभ है, सत्यकी ओर प्रवृत्त होना। जीवनको सत्यकी खोजमें लगा देना। जो सत्यकी खोजमें लगा है, वही सदाचारी है। सत्य भाषण, सत्य आचार, सत्य व्यवहार उस सत्यकी प्राप्तिके साधन हैं। वह सत्य भगवान्‌का ही नामान्तर है।

और अध्यात्मविद्याका चरम लाभ है परमात्माको पा लेना। यही सब दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त करके नित्य सनातन परमानन्द देनेवाली अवस्था है। परमानन्द ही इसका स्वरूप है। इसका कोई भोक्ता नहीं है। यह ज्ञानस्वरूप और चेतन है। यही परम सत्य है।

इस परम सत्यको पाना ही मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है। इस लक्ष्यकी ओर अनन्यदृष्टि रखकर निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा आगे बढ़ते रहो। इस लक्ष्यको सामने रखकर इसे पानेके लिये

जिस विद्याका अध्ययन किया जाता है वही अध्यात्मविद्या है, वही उत्तम शिक्षा है, वही पारमार्थिक शिक्षा है।

अवश्य ही इसमें व्यावहारिक शिक्षाका विरोध नहीं है। व्यवहारके सब कार्य करो और भलीभाँति करो, परंतु लक्ष्यकी ओर दृष्टि बनाये रखो। लक्ष्य बना रहेगा तो व्यवहार तुम्हारे मार्गका बाधक न होकर सहायक होगा।

परंतु लक्ष्य बनाने और उसे स्थिर रखनेके लिये भी प्राथमिक शिक्षाकी आवश्यकता है। उसी शिक्षाका नाम धार्मिक शिक्षा है। अतएव ऐसी चेष्टा करो जिसमें प्रत्येक बच्चेको घरमें और स्कूल-कॉलेजोंमें धार्मिक शिक्षा अवश्य मिले। जिससे उनका लक्ष्य ठीक हो और वे व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करते समय भी लक्ष्यपर स्थिर दृष्टि रख सकें!

भगवान्‌से यह प्रार्थना करो और आत्मामें निश्चय करो कि हमारा और हमारी सन्तानके लक्ष्य भगवान् रहें। हम भगवान्‌के लिये ही सब काम करें, भगवान्‌के ही लिये जियें और अन्तमें भगवान्‌के लिये भगवान्‌का स्मरण करते हुए इस नश्वर शरीरको त्यागकर भगवान्‌के चरणोंमें चले जायँ।

ज्ञान और प्रेम

राग-द्वेष सभी जगह मिलेगा। यह तो श्रीभगवान्‌ने कहा ही है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

'प्रत्येक इन्द्रियके प्रति अर्थमें राग-द्वेष हैं, हमें उनको अपना शत्रु समझकर उनके वश नहीं होना चाहिये।' वास्तवमें राग-द्वेषादिका मूल कारण अपनी ही भूल है। हमारे मनसे राग-द्वेष निकल जायगा तो जगत्‌में हमें कहीं राग-द्वेषके दर्शन नहीं होंगे। ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है। राग-द्वेष मायाका कार्य है। मायाकी ग्रन्थिसे छूटा हुआ पुरुष राग-द्वेषका दर्शन वस्तुतः नहीं पाता। वैसी स्थिति न होनेतक यथासाध्य राग-द्वेषका प्रभाव अपने चित्तपर नहीं पड़ने देना चाहिये।

तेरे भावें जो करौ भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

आपने लिखा कि मेरे लायक कोई शिक्षा लिखियेगा, सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये। मुझमें न तो शिक्षा देनेकी कोई योग्यता है और न अधिकार ही है। आपकी मुझपर सदासे कृपा रही है, उसी कृपाके भरोसे प्रार्थना या सलाहरूपमें आपको कुछ लिखनेकी धृष्टता—आपके पूछनेपर—कर बैठता हूँ। सो इसी आशापर कि आप मुझपर हर हालतमें प्रसन्न ही होंगे। अब आपके प्रश्नोंपर कुछ निवेदन करता हूँ।

(१) अपनेको और भगवान्‌को यथार्थरूपसे जाननेके बाद ही यथार्थ प्रेम होता है, परंतु यथार्थरूपसे जानना भी प्रेमके बिना सम्भव नहीं। इस ज्ञान और प्रेममें परस्पर साध्य-

साधन-सम्बन्ध है। पहले कुछ ज्ञान होनेपर प्रेम होता है, प्रेम होनेपर यथार्थ ज्ञान होता है और यथार्थ ज्ञानके अनन्तरका जो परम प्रेम है वही सर्वोच्च प्रेम है। उसी प्रेमको भक्तोंने 'रसाद्वैत' कहा है। यहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदकी एकता हो जाती है। परस्पर दोनों एक-दूसरेमें घुल-मिल जाते हैं। दो मिलकर एक हो जाते हैं। इसीको 'परमशान्ति' कह सकते हैं, परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌के गुणविशेषके प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करना शान्तिका हेतु नहीं होता। निर्गुणके साधकको भी आरम्भमें गुण देखकर ही अर्थात् निर्गुणकी साधनासे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी ऐसा समझकर साधनामें प्रवृत्ति होती है। यथार्थ ज्ञान अपने-आप नहीं हो जाता।

अभेदभक्ति किसके द्वारा होती है?

(२) आपका दूसरा प्रश्न—भगवान्‌के साथ अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से हो सकती है या नहीं? यदि हो सकती है तो उससे उसको विशेष क्या लाभ होता है? इसका उत्तर यह है कि अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से ही हो सकती है, अज्ञानीसे नहीं। पहले यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि इस अवस्थामें 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ क्या है। ज्ञानवान् वही होता है जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुका, जिसकी अज्ञानकी समस्त ग्रन्थियाँ सदाके लिये टूट गयीं, जो माया-स्वप्नसे सर्वथा जग गया। परंतु यह भी नहीं कि उसे पहलेके अज्ञानकी स्मृति हो और अब ज्ञानवान् होनेका भान हो। वास्तवमें 'ज्ञानवान्' शब्द अज्ञानियोंके लिये ही सार्थक होता है। ज्ञानवान् मुक्त पुरुषके लिये ज्ञान और अज्ञान दोनों ही शब्द निरर्थक हो जाते हैं। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप

है, ज्ञानका भोक्ता नहीं, इसीसे उसकी स्थिति अनिर्वचनीय होती है। वह सर्वत्र सबमें एकमात्र सम ब्रह्मको देखता है—'**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति**', '**समः सर्वेषु भूतेषु**'— इस प्रकार ब्रह्मभूत होनेपर ही भगवान् कहते हैं कि उसे मेरी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है '**मद्भक्तिं लभते पराम्**'। यह पराभक्ति ही अभेदभक्ति है जो ब्रह्मभूत हुए बिना नहीं मिलती। इस पराभक्तिसे ही भगवान्का—समग्र भगवान्का यथार्थ ज्ञान होता है। '**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**' और यह तत्त्वज्ञान ही भगवान्के साथ—समग्ररूप भगवान्के साथ सर्वतोभावसे एकत्व कराता है। यहाँपर यही 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ है। इस भक्तिके बिना पूर्णरूपसे वास्तविक एकत्व नहीं होता, इसके अनन्तर ही होता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'**विशते तदनन्तरम्**' यही विशेष लाभ है जो अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अतएव अभेदभक्ति अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। इस अभेदभक्तिको ही 'पराज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। इसीको भक्त प्रेमाभक्ति या पराभक्ति कहते हैं। अवश्य ही बाह्यरूपमें देखनेपर दोनोंमें कुछ भेद प्रतीत होता है; परंतु वस्तुतः है एकही-सी स्थिति। यही असली ज्ञान है और इस ज्ञानको प्राप्त पुरुष ही यथार्थ 'तत्त्वज्ञ' या ज्ञानवान् है।

ज्ञानवान्के संकल्प-विकल्प

(३) आपका तीसरा प्रश्न है—'स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके पश्चात् ज्ञानवान्की वृत्ति क्या काम करती है? ज्ञानवान्को संकल्प-विकल्प रोकनेकी आवश्यकता है या नहीं? यदि है तो क्यों है? यदि नहीं है तो संकल्पसे और तज्जन्य न्याय्य या विपरीतादि कर्मसे उसका मोक्षमें प्रतिबन्धक है या नहीं?'

इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहला मेरा यह निवेदन है कि पहले ज्ञानवान्‌के स्वरूपको समझना चाहिये। यदि 'ज्ञानवान्' शब्दसे हम केवल 'शास्त्रज्ञानी' या 'परोक्षज्ञानी' लेते हैं, तब तो वह स्पष्ट ही है कि उसकी अविद्या-ग्रन्थि अभी खुली नहीं है। यह अहंकारवृत्तिके द्वारा संचालित होता है; ऐसी अवस्थामें आत्माके विरुद्ध विजातीय संकल्प-विकल्पोंको रोकनेका साधन करनेकी उसे नितान्त आवश्यकता है। यदि वह नहीं रोकेगा तो उसकी चित्तवृत्तियाँ सतत विषयाभिमुखी होकर उसके शास्त्रज्ञानकी कुछ भी परवा न करके उसे मोहके गहरे गर्तमें डाल देंगी। विषयासक्तिके प्रवाहमें उसको बहा देंगी और यदि ज्ञानवान्‌का अर्थ यथार्थ ज्ञानी अथवा 'मुक्त-पुरुष' है, तब वह वृत्तियोंका धर्मी या कर्ता रहता ही नहीं। वस्तुतः वह स्वयं उस अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया है जो चित्त तो क्या बुद्धिसे भी अति परे है। जहाँ चित्त ही नहीं वहाँ चित्तवृत्ति कहाँसे आती और चित्तवृत्तिके अभावमें चित्तवृत्तियोंके कार्यका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो स्थिति है। अब यदि प्रारब्धवश जीवित रहे हुए शरीरमें स्थित चित्तवृत्तियोंकी बात कहें तो वहाँ यह कहना और मानना पड़ता है कि पहले अन्तःकरणके शुद्ध और निष्काम हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर शरीरमें स्थित उस निष्काम और शुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा कोई संकल्प-विकल्प या तज्जन्य विपरीत कर्म होता ही नहीं जो दूषित हो या विपरीत हो और स्वाभाविक ही होनेवाले न्याय्य कर्मका भी कोई धर्मी या कर्ता न होनेसे फल उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धककी तो बात ही नहीं उठती; क्योंकि बाधा तो पथमें होती है। घर पहुँच जानेपर मार्गकी बाधाका कोई प्रश्न ही

नहीं रह जाता। अतएव मेरा तो यही निवेदन है कि ज्ञानवान् वृत्तिसे ऊपर उठा हुआ है, अतएव उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं है। ज्ञानवान् और मोक्षको प्राप्त एकार्थवाची ही हैं, फिर प्रतिबन्धक कैसा?

इस प्रकार आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने जो कुछ मनमें आया, लिख दिया है। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरा मत सर्वथा अभ्रान्त है। न यह कहता हूँ कि यह मत मेरा है। सब शास्त्रोंकी बातें ही समझनी चाहिये। आग्रह छोड़कर इनका मनन करना चाहिये। एक ज्ञानवान् शब्दका अर्थ जान लेनेपर सब झगड़ा मिट जाता है। मैं ऐसी किसी स्थितिको नहीं मानता, जिसके लिये यह कहा जाय कि पूर्ण यथार्थ ज्ञान भी हो गया और मोक्ष बाकी भी रह गया और ऐसी स्थिति न माननेपर आपका तीसरा प्रश्न उठता ही नहीं! भूल-चूकके लिये क्षमा कीजियेगा। मैंने जो कुछ लिखा है, इसे प्रार्थनाके रूपमें समझियेगा, उपदेशके रूपमें नहीं। आपकी कृपा सदा रहती ही है। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

पापोंके नाशका उपाय

आपने लिखा कि 'चेष्टा करनेपर भी पापकी वृत्ति नहीं छूटती—बार-बार पापका भयानक फल भोगनेपर भी वृत्ति न मालूम क्यों पापकी ओर चली जाती है। जिस समय पापवृत्ति होती है, मन काम-क्रोधादिके वशमें होता है, उस समय मानो कोई बात याद रहती ही नहीं। इसका क्या कारण है और इस पाप-प्रवृत्तिसे किस प्रकार पिण्ड छूट सकता है, लिखिये।'

आपका प्रश्न बड़ा सुन्दर है। यद्यपि मैं स्वयं सर्वथा निष्पाप नहीं हूँ। इसलिये आपके प्रश्नका उत्तर देनेका अधिकारी तो नहीं, तथापि मित्रभावसे जो कुछ मनमें आता है, लिखता हूँ। जबतक पापकी कोई स्मृति भी होती है, जबतक पापकी बात सुनने-समझनेमें जरा भी मन खिंचता है और जबतक काम-क्रोधका कुछ भी असर चित्तपर हो जाता है तबतक बाहरसे कोई पाप कतई न होनेपर भी मनुष्य अपनेको सर्वथा निष्पाप नहीं कह सकता।

अर्जुनने गीतामें भगवान्से पूछा था—भगवन्! मनुष्य चाहता है कि मैं पाप न करूँ, वह पापसे अपनेको बचानेकी इच्छा करता है, फिर भी उससे पाप हो ही जाते हैं, मानो कोई अंदर बैठा हुआ जबर्दस्ती उसे पापमें लगा रहा हो, बताइये वह अंदरसे पापके लिये तीव्र प्रेरणा करनेवाला कौन है? (३।३६)

भगवान्ने हँसकर कहा—'दूसरा कोई नहीं है, आत्मशक्तिको भूलकर मनुष्य जो रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न कामनाको मनमें स्थान दे देता है, यह काम ही क्रोध बनता है और

यही कभी न तृप्त होनेवाला और महापापी बड़ा वैरी है जो अंदर बैठा हुआ पापके लिये तीव्र प्रेरणा करता है' जैसे धूएँसे आग और मलसे दर्पण ढक जाता है और जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है वैसे ही इस 'कामसे ज्ञान ढका रहता है। यह सदा अतृप्त रहनेवाला काम ही ज्ञानियोंका नित्य शत्रु है। यही इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबमें अपना प्रभाव विस्तार करके सबको अपना निवासस्थान बनाकर इन्हींके द्वारा ज्ञानपर पर्दा डलवाकर जीवको मोहमें डाले रखता है। इसीसे सारे पाप होते हैं।' (गीता ३। ३७—४०)

यह ज्ञान-विज्ञानको नाश करनेवाला 'काम' रहता है इन्द्रियोंमें, मनमें और बुद्धिमें। इन्द्रियोंमें होकर ही यह मन बुद्धिमें जाता है। इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये। इन्द्रियाँ यदि कामको अपने अंदरसे निकाल देंगी तो काम जरूर मर जायगा। (गीता ३।४१)

परंतु कठिनता तो यह है कि हमलोगोंने अपनेको इतना दुर्बल मान रखा है कि मानो इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना हमारे लिये कोई असम्भव व्यापार है। याद रखिये, पाप वहींतक होंगे, इन्द्रियाँ वहींतक बुरे विषयोंको ग्रहण करेंगी, मनमें वहींतक कुविचारोंके संकल्प-विकल्प होंगे और बुद्धि वहींतक 'कु' के लिये अनुमति देगी, जहाँतक आत्मा न जाग उठे। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४२-४३)

'इन्द्रियाँ (स्थूल-शरीरसे) श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह आत्मा है। इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे परे सबका स्वामी, परम शक्तिसम्पन्न और सबसे श्रेष्ठ जानकर बुद्धिको अपने वश करो और बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा इन्द्रियोंको वश करके हे महाबाहो! (बड़े बलवान् वीर!) कामरूपी दुर्जय शत्रुको मार डालो।'

काम शत्रु मारा गया कि पापोंकी जड़ ही कट गयी और यह करना आपके हाथ है। बिना आत्माकी अनुमतिके पाप नहीं हो सकते। आत्मा अपनेको कमजोर मानकर बुद्धिपर सब छोड़ देता है, बुद्धि मनपर और मन इन्द्रियोंपर निर्भर करने लगता है। इन्द्रियाँ अंधे घोड़ोंकी तरह जब निरंकुश होकर विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, तब मनरूपी लगाम, बुद्धिरूपी सारथी और आत्मारूपी रथी शरीररूपी रथके साथ ही उनके साथ खिंचे चले जाते हैं और पापरूपी महान् गड़हेमें पड़कर या पहाड़से टकराकर बहुत दिनोंके लिये बेकाम हो जाते हैं और पड़े-पड़े नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। इन सब दुःखोंसे छुटकारा अभी हो सकता है, यदि भ्रमवश अपनेको कमजोर मानकर बुद्धि-मन-इन्द्रियोंके वश हुआ आत्मा इस मिथ्या पराधीनताकी बेड़ीको तोड़कर इनका स्वामी बन जाय और इन्हें जरा भी कुमार्गमें न जाने दे। बलपूर्वक रोक दे। आत्मामें वह अजेय शक्ति है। आत्माकी जागृति होनेपर उसकी एक ही हुंकारसे वह काम हो सकता है।

आप यह निश्चय समझिये—आप सर्वशक्तिमान् आत्मा हैं, आपमें बड़ा बल है। संसारके किसी भी पाप-तापकी शैतानी शक्तियाँ आपका सामना नहीं कर सकतीं। आप अपने स्वरूपको

भूले हुए हैं, इसीसे अकारण दुःख पा रहे हैं। राजराजेश्वर होते हुए भी गुलामीकी जंजीरमें अपनी ही भूलसे बँध रहे हैं। इस बेड़ीको तोड़ डालिये। फिर पापवृत्ति आपके मनमें आवेगी ही नहीं। आत्मामें नित्य ऐसा निश्चय कीजिये—'काम-क्रोध मेरे मनमें नहीं रह सकते, मेरे मनमें प्रवेश नहीं कर सकते। मेरे मनके समीप भी नहीं आ सकते। पाप मेरे समीप आते ही जल जायँगे। मैं शुद्ध हूँ, निष्पाप हूँ, अपार शक्तिशाली हूँ। पापोंकी और पापोंके बाप कामकी ताकत नहीं जो यहाँ आ सकें।' आप विश्वास कीजिये यदि आपका निश्चय पक्का होगा तो आप काम-क्रोधसे और पापोंसे सहज ही छूट जायँगे। रोज प्रातःकाल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर ऐसा निश्चय कीजिये 'मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, निर्विकार विशुद्ध आत्मा हूँ। मुझमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और उनसे होनेवाले कोई पाप हैं ही नहीं। अब मैं इनको कभी अपने समीप नहीं आने दूँगा, नहीं आने दूँगा। ये मेरे पास आ ही नहीं सकते!'

हो सके तो निम्नलिखित पाँच बातोंपर ध्यान रखिये। आपके पाप सहज ही मिट जायँगे।

१—आत्मशक्तिसे रोज आत्मामें निश्चय कीजिये कि काम, क्रोध और पाप मेरे समीप नहीं आ सकते।

२—रोज ऐसा निश्चय कीजिये कि आत्माके आत्मा सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्मा नित्य मेरे साथ हैं। उनकी उपस्थितिमें पाप-ताप मेरे समीप आ ही नहीं सकते और परमात्माको नित्य अपने साथ अनुभव कीजिये।

३—भगवान्‌के नामका जप कीजिये और ऐसा निश्चय कीजिये कि जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नाम आ जाता

है, उसके सारे पाप जड़से नष्ट हो जाते हैं। मैं भगवान्‌का नाम लेता हूँ। अतः मुझमें न तो पाप रह सकते हैं और न मेरे समीप ही आ सकते हैं।

४—नित्य स्वाध्याय—सद्ग्रन्थोंका अध्ययन कीजिये और आत्मशक्तिसम्पन्न तथा भगवान्‌के विश्वासी और प्रेमी दैवी सम्पदावाले पुरुषोंके जीवन-चरित्र पढ़िये और उनके उपदेशोंका मनन कीजिये।

५—किसी भी इन्द्रियसे, मनसे या बुद्धिसे किसी प्रकारसे भी कुसंग जरा भी न कीजिये। इन्द्रिय, मन, बुद्धिको अवकाश ही न दीजिये जिसमें वे सत्‌को छोड़कर 'सु' को त्यागकर कभी 'असत्' या 'कु' का स्मरण भी कर सकें—कामकी ओर ताक भी सकें।

कर्मफलका भोग

आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर नीचे लिखा जा रहा है— कर्म तीन प्रकारके हैं—'संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण'। अत्यन्त प्राचीन कालसे लेकर अबतकके जो कर्म संगृहीत हैं, उनका नाम 'संचित' है। वे अनन्त हैं और उनमें नये-नये कर्म जा-जाकर एकत्र होते रहते हैं। इन संचित कर्मोंमेंसे कुछ कर्म फल प्रदान करानेके लिये पृथक् कर लिये जाते हैं और किसी एक जीवनमें उनका निश्चित फलभोग प्रारम्भ हो जाता है। इन फल देनेमें प्रवृत्त कर्मोंका नाम 'प्रारब्ध' है एवं हम जो नवीन कर्म कर रहे हैं, उनका नाम 'क्रियमाण' है। ये तुरंत संचितमें चले जाते हैं। मनुष्य जो कुछ भी अच्छे-बुरे कर्म करता है, वे संचितमें चले जाते हैं। इन नये कर्मोंमें कुछ कर्म ऐसे भी प्रबल हो सकते हैं, जो संचितसे तुरंत प्रारब्ध बनकर फल भुगता देते हैं। कई बार यह भी होता है कि वर्तमान कर्म किसी पुराने प्रारब्धका फल भुगतानेमें निमित्त बन जाता है और यह वर्तमान कर्म संचितमें ही रह जाता है।

अच्छे-बुरे कर्मोंका फल तीन तरहसे भोगा जाता है—(१) तुरंत प्रारब्ध बनकर इसी जीवनमें अनुकूल या प्रतिकूल भोगके रूपमें—(यह भी सम्भव है कि पूरे कर्मका तुरंत प्रारब्ध न बने, आंशिक ही बने और शेष कर्म संचितमें रह जायँ) (२) स्वर्ग और नरक लोकोंमें सुख-दुःखभोगरूपमें एवं (३) अच्छी-बुरी योनियोंमें सुख-दुःख भोगरूपमें।

स्वर्ग-नरक लोक भी सत्य हैं। सभी शास्त्रोंमें इनका वर्णन है। सर्वमान्य गीतामें स्पष्ट कहा गया है—

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

(९। २०-२१)

'वे अपने पुण्योंके फलस्वरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोग भोगते हैं।' और 'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें चले आते हैं।'

'नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥'

(१। ४४)

'उनको अनियत कालतक नरकमें निवास करना पड़ता है, यह हमने सुना है।'

'प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।'

(१६। १६)

'वे विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्तलोग अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।'

पुराणोंमें नरकोंके वर्णन तथा नरक-यन्त्रणा भोगनेवाले प्राणियोंके बहुत प्रसंग आये हैं, जो सत्य हैं।

इसी प्रकार अच्छी-बुरी योनियोंमें भी कर्मफल-भोग होता है। पुण्यकर्म करनेवालोंको अच्छी योनि मिलती है, पापकर्म करनेवालोंको बुरी योनि। इसका वर्णन स्पष्टरूपसे छान्दोग्योपनिषद्में यों आया है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।' (५। १०। १७)

'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही श्रेष्ठ योनिको प्राप्त होते हैं और जो बुरे आचरणवाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, शूकरयोनि या चण्डालयोनिको प्राप्त करते हैं।'

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

(१६। १९)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी निर्दय नीच मनुष्योंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी (शूकर-कूकरादि) योनियोंमें ही गिराता हूँ।'

'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।'

(१६। २०)

'वे मूढ़ जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं।'

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

(६। ४१)

'वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके (स्वर्गादि) उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर और बहुत कालतक वहाँ निवास करके फिर पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेता है।'

'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।'

(६। ४२)

'अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है।'

इससे स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें तथा उत्तम-निकृष्ट योनियोंमें सुख-दुःखका भोग होना सिद्ध है।

मनुष्ययोनि उत्तम है और पशु आदि योनियाँ निकृष्ट। परंतु उत्तम योनिमें भी बुरे कर्मके फलस्वरूप जीव दुःख प्राप्त कर सकता है—जैसे सर्वथा रोगी तथा नितान्त दरिद्र मनुष्य और निकृष्ट योनिमें भी अच्छे कर्मके फलस्वरूप सुख प्राप्त कर सकता है—जैसे राजघरानेका घोड़ा, सच्चे गोपूजककी गाय, शौकीन बाबुओंके द्वारा पाला हुआ कुत्ता आदि।

उपर्युक्त तीनों कर्मोंमें 'प्रारब्ध' (जो कर्म-फल देनेमें प्रवृत्त हो गये हैं)-का भोग तो अवश्य ही भोगना पड़ता है, परंतु सच्चे भावसे भगवान्‌का मंगल-विधान मान लेनेपर या ज्ञानके द्वारा भोक्तृत्वबुद्धि मिट जानेपर सुख-दुःख नहीं होते। 'संचित' का नाश 'ज्ञानाग्नि' से, 'भक्ति' से और 'निष्काम कर्म' से हो सकता है और 'क्रियमाण' का अभाव भी ज्ञानके द्वारा कर्तृत्वबुद्धि न रहनेपर, केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌की पूजाके रूपमें कर्म करनेपर अथवा कर्मोंमें सकामभाव न रहनेपर हो सकता है। कर्मोंका सर्वथा अभाव ही जीवकी मुक्ति है।

पाप कामनासे होते हैं—प्रकृतिसे नहीं

आपने लिखा—'गीता अध्याय ९ श्लोक २७—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—इस श्लोकके मुताबिक मैं मछली-मांस, ताड़ी-शराब, अपनी स्त्री-प्रसंगकी कृया (क्रिया) या परायी स्त्री-प्रसंगकी कृया (क्रिया), इतनी चीज यदि हमारी प्रकृति समय-समयपर ग्रहण कर रही है तो मैं ईश्वरको अर्पण कर सकता हूँ या नहीं। अगर आप कहें कि यह सब कर्म ही क्यों नहीं छोड़ देते तो स्त्री छूट ही नहीं सकती। मछली-मांस, ताड़ी-दारू, परायी स्त्री-ग्रहण भी नीचे लिखे श्लोकोंके मुताबिक हो ही रहा है तो हमको क्या करना चाहिये।······· श्लोक अध्याय ३ श्लोक ५—

'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥'

यहाँतक पत्रलेखक महोदयके अपने शब्द हैं।

इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान्‌ने गीतामें यह बतलाया है कि मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

इसी प्रसंगमें यह कहा है कि 'सब लोग प्रकृतजनित गुणोंके द्वारा परवश होकर कर्म करनेको बाध्य होते हैं।'

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

इसका अभिप्राय यह है कि संसारका प्रादुर्भाव प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होता है। सारा संसार गुणमय है और ये तीनों गुण प्रत्येक जीवमें न्यूनाधिकरूपमें रहते हैं। जबतक ये गुण विषम अवस्थामें हैं, तबतक संसार है और जबतक संसार है तबतक संसारका कोई भी प्राणी

कर्मरहित होकर नहीं रह सकता; उसे इन्द्रियोंके या मनके द्वारा किसी-न-किसी कर्ममें लगे रहना ही पड़ता है। अर्थात् बुद्धिका किसी विषयमें निर्णय एवं निश्चय करना, चित्तका चिन्तन करना, मनका मनन करना, कानका सुनना, त्वचाका स्पर्श करना, आँखका देखना, जीभका चखना, नासिकाका सूँघना, वाणीका शब्दोच्चारण करना, पैरोंका चलना, गुदा-उपस्थका मल-मूत्रादि त्याग करना और प्राणोंका श्वास लेना—आदि कार्योंमेंसे कोई-न-कोई होता ही रहता है। इसका यह अर्थ लगाना कि मनुष्य प्राकृतिक गुणोंके वशमें होकर मछली-मांस खाने, शराब-ताड़ी पीने और पर-स्त्री-गमन आदि पापोंमें लगनेको बाध्य होता है, सर्वथा अनर्थ करता है। पाप प्रकृतिकी प्रेरणासे नहीं होते। पापके होनेमें हेतु है—मनुष्यके अंदर रहनेवाली कामना। भगवान्‌ने गीताके इसी तीसरे अध्यायमें यह स्पष्ट कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(३। ३७)

'रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न काम ही (प्रतिहत होनेपर) क्रोध बन जाता है। यह काम बहुत खानेवाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और बड़ा पापी है। इसीको तुम इस विषयमें (पाप बननेमें) वैरी समझो।'

और अन्तमें भगवान्‌ने इस कामनापर विजय प्राप्त करनेके लिये आज्ञा दी है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

'हे महाबाहो! इस कामरूप दुर्जय शत्रुको तुम मार डालो।'

यदि मनुष्यको परवश होकर पाप करनेको बाध्य होना पड़ता

तो गीताका यह प्रसंग निरर्थक होता। यही नहीं, विधि-निषेधात्मक समस्त शास्त्र ही व्यर्थ होते। गीतामें ही मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्र बतलाया है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**'—यह भी व्यर्थ होता पर बात ऐसी नहीं है। गीताके ऐसे वाक्योंका इस प्रकार अर्थ लगाकर अपने पापका समर्थन करना या तो भ्रमसे होता है, या जान-बूझकर गीतापर पाप करानेका दोष मँढ़कर दुहरा पाप किया जाता है। भगवान्ने गीतामें काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंको नरकका द्वार और आत्माका नाश करनेवाले—जीवको अधोगतिमें पहुँचानेवाले बतलाकर इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

(१६। २१)

मनुष्यमें यह सामर्थ्य है कि वह काम-क्रोध-लोभपर विजय प्राप्त करे, इनको मारे और इनसे होनेवाले पाप-कर्मोंको समूल नष्ट कर दे। वह यदि ऐसा न करके—इन्द्रियके वश होकर नाना प्रकारके पाप करता है तो दण्डका पात्र होता है। मनुष्यको जो अपने जीवनमें भाँति-भाँतिके दुःखों-क्लेशोंका भोग करना पड़ता है, इसका प्रधान कारण उसके अपने किये हुए ये पाप ही हैं, जिन्हें वह चाहता तो छोड़ सकता था अतएव आपका यह सर्वथा भ्रम है जो आप मांस-मछली, शराब-ताड़ीके खान-पान और व्यभिचारको परवश होकर किये जानेवाले कर्म मानते हैं और इनसे छूटनेमें अपनेको असमर्थ बताते हैं। ये पाप प्रकृति नहीं कराती। ये कराती है आपकी भोगासक्ति और जो भोगासक्तिके वश होकर पाप करेगा, उसको उसका भयानक परिणाम भी अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

यह आपका दूसरा महान् भ्रम है, जो आप गीता (९। २७) का हवाला देकर पापकर्मको ईश्वरके अर्पण करनेकी बात सोचते हैं। इस श्लोकमें हवन, दान और तपके अर्पण करनेकी बात कही गयी है, वह तो स्पष्ट ही शास्त्रीय और गीताकथित हवन, दान और तप आदि क्रियाओंके लिये है। 'तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो'—('**यत्करोषि**' तथा '**यदश्नासि**') इनमें भ्रम हो सकता है; परंतु गीतामें भगवान्‌की यह स्पष्ट घोषणा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २४)

'तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। यह जानकर तुम्हें वही कर्म करने चाहिये, जिनका शास्त्रोंमें विधान है।'

अतएव वस्तुतः कर्म वे ही हैं, जो शास्त्रनियत हैं, शेष तो विपरीत कर्म यानी निषिद्ध हैं। निषिद्ध कर्मोंको कभी भगवान्‌के अर्पण नहीं किया जा सकता। भोगासक्तिवश पापकर्म करना और उन्हें भगवान्‌के समर्पण करनेकी बात सोचना ही एक बड़ा पाप है।

अतएव आप दोनों ही भ्रमोंको तुरंत छोड़ दीजिये। याद रखिये कि न तो आप मछली-मांस खाने, शराब-ताड़ी पीने और व्यभिचार करनेके लिये परवश हैं और न किसी भी पापकर्मको कभी भगवान्‌के अर्पण ही किया जा सकता है। आपके जो मित्र या गुरु गीताका इस प्रकारका अर्थ करते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिये।

भोग-वैराग्य और बुद्धियोग-बुद्धिवाद

गीताका वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही जानते हैं। भगवान्की वाणी सर्वशास्त्रमयी और सर्वकल्याणकारिणी होती है, अतएव उससे सभीको अपने-अपने अधिकारके अनुसार सत्यकी ओर अग्रसर होनेका मार्ग मिल जाता है; परंतु आपने जिस तरहसे गीतासे अर्थ लिये हैं, वे मेरी तुच्छ सम्मतिमें ठीक नहीं हैं। आपके दोनों विचारोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आप लिखते हैं—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

(गीता ११। ३३)

'इसलिये तू खड़ा हो जा। यशको प्राप्तकर और शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्यका उपभोग कर।' इस उपदेशमें भगवान्ने राज्योपभोगकी स्पष्ट आज्ञा दी है। फिर गीता विषयभोगसे हटाती है, यह क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गीताने वर्ण-धर्मके अनुसार अर्जुनको धर्म-युद्ध करने और राज्य भोगनेकी आज्ञा दी है, परंतु साथ ही बार-बार कहा है कि विषयसुखमें आसक्ति और विषयकामना नहीं रहनी चाहिये। बल्कि उन्होंने स्पष्ट कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सब भोग (विषयी

पुरुषोंकी दृष्टिमें भ्रमवश सुखरूप भासनेपर भी) निश्चय ही दुःखोंके उत्पत्तिस्थान हैं और आदि-अन्तवाले (अनित्य) हैं, अतएव हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।'

विषयेन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न सुखको पहले अमृत-सा लगनेपर भी परिणाममें विषवत् बतलाया है (गीता १८। ३८)। अतएव गीतामें स्वच्छन्द विषयोपभोगका आदेश कहीं नहीं दिया गया है। विषयभोग मनसे सदैव त्याज्य हैं; क्योंकि वे अनित्य और परिणाममें दुःखदायक हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट आज्ञा की है—'**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥**' (९। ३३) 'इस अनित्य और सुखरहित लोक (शरीर)-को प्राप्त होकर तू (विषयोंमें न फँसकर) मेरा ही भजन कर।' कर्मयोगपरायण स्थितप्रज्ञ पुरुषका लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ६८)

महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निगृहीत की हुई होती हैं, उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।' इसके सिवा '**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**', '**विविक्तदेशसेवित्वम्**', '**अनिकेतः**,' '**शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा**', '**वैराग्यं समुपाश्रितः**' और '**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**,' '**असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु**' इत्यादिमें स्पष्ट ही वैराग्यका उपदेश है।

(२) आपने लिखा—'गीतामें बुद्धियोगकी प्रधानता है—'**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**', '**ददामि बुद्धियोगम्**', **बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' इत्यादिसे स्पष्ट है। आजके युगनिर्माणकर्ता भी बुद्धियोगकी ही बात कहते हैं, फिर यह क्यों कहा जाता है कि 'बुद्धिवाद' बुरी चीज है। बुद्धिवादका महत्त्व तो गीतासे ही सिद्ध है।'

इसका उत्तर यह है कि गीताके बुद्धियोग और आजके बुद्धिवाद (Rationalism)-में उतना ही अन्तर है जितना सूर्य और अन्धकारमें। गीतामें बुद्धियोगका अर्थ है भगवान्‌के साथ बुद्धिका संयोग अथवा 'समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोग' और आजके 'बुद्धिवाद' का अर्थ है 'सर्वत्र सन्देहबुद्धि', ईश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य, शास्त्र और सदाचार—जो त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी निर्भ्रान्त बुद्धिके द्वारा अनुभूत तत्त्व हैं—पर अविश्वास और इन्द्रिय-सुखभोगमें निरंकुश यथेच्छाचार। ऋषियोंकी तपस्यापूत सत्यदर्शनयुक्त बुद्धिने निश्चय करके बतलाया था—'ईश्वर एक सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वर हैं, सारी सृष्टि उन्हींके द्वारा हुई है। आत्मा नित्य-सत्-चित्-आनन्दमय है। भले-बुरे कर्मोंके अनुसार शुभाशुभ लोकोंकी प्राप्ति और उत्तम-अधम योनियोंमें जन्म होता है। शास्त्रविहित सदाचार आचरणीय और शास्त्र-निषिद्ध असदाचार त्याज्य है। संसारका सुख अनित्य और असत् है; क्षुद्र विषयसुखकी कामना छोड़कर भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है; क्योंकि 'भगवत्प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्ण परिणति है।' यदि संसारमें सुखभोग प्राप्त हैं तो उन्हें अनासक्त होकर भगवत्प्रसादके रूपमें ग्रहण करना चाहिये तथा सबके साथ आत्मदृष्टिसे प्रेमका व्यवहार करते हुए, सबकी सेवा करते हुए ही भगवत्प्राप्तिकी ओर अग्रसर होना चाहिये। असलमें बुद्धिका ऐसा निश्चय ही असली बुद्धिवाद है और इस बुद्धिसे भगवान्‌के साथ संयुक्त होकर कर्म करना ही बुद्धियोग है। गीतामें इसी बुद्धियोगका प्रतिपादन है। आजके विकृत बुद्धिवादका कदापि नहीं।

आध्यात्मिक शक्ति ही जगत्को विनाशसे बचा सकती है

जहाँ जीवनका लक्ष्य केवल कामोपभोग होता है, वहाँ मनुष्यमें धीरे-धीरे समस्त आसुरी सम्पत्तियाँ आ जाती हैं। गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिका वर्णन देखना चाहिये। आजका मनुष्य कामोपभोगपरायण है। उसका लक्ष्य भौतिक उन्नति प्रचुर परिणाममें जागतिक पदार्थोंकी प्राप्ति है। व्यक्ति और राष्ट्र सभी इसी होड़में लगे हैं। इसीका परिणाम संघर्ष, संहार, अशान्ति और दुःख है और भौतिक उन्नतिके दौड़में लगे हुए जगत्के लिये यह अनिवार्य है। परमाणु बम—जिसने क्षणोंमें लाखों हिरोशिमा-निवासियोंका विनाश कर डाला और जिसकी दानवीय शक्तिपर आज भी अमेरिका जगत्को आतंकित कर रहा है एवं सोवियत रूसके वैज्ञानिक जिसके आश्चर्यजनक विकासकी साधनामें संलग्न हैं, यह इस आसुरी 'कामोपभोगपरायणता' की देन है। भगवान्की दिव्यतासे रहित भौतिक उन्नति मानवको रसातलमें ले जाती है, वह उन्नति, प्रगति और विकासके मोहक नामोंपर पतनके अत्यन्त गहरे गर्तमें गिर जाता है, जिससे उठनेका उसे जन्म-जन्मान्तरतक भी अवकाश नहीं मिलता, वरं उत्तरोत्तर उसे नीची-से-नीची गतिमें जाना पड़ता है। श्रीभगवान्ने ऐसे ही मनुष्यके लिये कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, क्रूर-हृदय नीच नरोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़ लोग (आसुरी सम्पत्तिका अर्जन कर काम-क्रोधादिकी परायणतासे केवल सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति और भोगोंमें लगे रहकर अपने ही हाथों अपना पतन करनेवाले मूर्ख) एक जन्मके बाद दूसरे जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं। मुझ (भगवान्)-को न पाकर (मनुष्य-शरीरकी सच्ची सफलता भगवत्-प्राप्तिसे वंचित रहकर) आसुरी योनिसे भी अति नीच गतिको प्राप्त करते हैं।'

ऐसे लोगोंका मानव-जीवन निष्फल होकर परलोक तो बिगड़ता ही है, यहाँ भी उन्हें क्षणभरके लिये सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती वरं जो लोग उनके सम्पर्कमें आते हैं, उनकी भी सुख-शान्ति नष्ट होने लगती है। आजका मानव-जगत् इसी आसुर भावको प्राप्त है। जबतक वह इससे नहीं छूट जाता, जबतक भोगोंकी जगह भगवान्‌को जीवनका लक्ष्य नहीं बना लेता, जबतक भौतिक पदार्थोंसे मन हटाकर आध्यात्मिकताकी ओर प्रवृत्त नहीं हो जाता तबतक सुख-शान्तिकी आशा करना आकाश-कुसुमके समान व्यर्थ ही है। मानवका मन जिस कालमें भगवान्‌से हट जाता है और भौतिक शक्ति-सामर्थ्य—ऐश्वर्य-वैभव-प्रभाव-प्रख्याति, विज्ञान-ज्ञान आदिकी वृद्धि हो जाती है; तब उसकी दिव्य आध्यात्मिक शक्तियाँ सुप्त-सी हो जाती हैं—उनका विकास और प्रकाश रुक जाता है। अवश्य ही उसकी विपरीत बुद्धि इस पतनको उत्थान, इस अवनतिको उन्नति और इस विनाशको विकास बतलाती है और मूढ़ मानव

इसपर गर्व भी करता है। आज यही प्रत्यक्ष हो रहा है। आजका विकासवादी मानव भौतिक उन्नतिको देखकर फूला नहीं समाता और वह अपनी उन्नतिपर गर्वोन्मत्त होकर शीघ्र ही प्रचण्डरूपसे भड़क उठनेवाले सर्वसंहारक विस्फोटकी ढेरीपर खड़ा हर्षसे नाच रहा है। वह उन्नतिका माप भौतिक पदार्थोंकी प्रचुरता और कर्मकी महान् विस्तृतिसे करता है। उसके हृदयमें जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष-दम्भ, मद, अहंकार, ईर्ष्या-असूया, हिंसा-प्रतिहिंसा और उनके फलस्वरूप चिन्ता-शोक, दुःख-विषाद, अस्थिरता-अशान्तिकी भीषण आग जल रही है, उसकी ओर वह नहीं देखता। यही विपरीत बुद्धिका मोह है, यही तामसी बुद्धिका स्वरूप है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! तमोगुणसे ढकी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा अन्य भी सब अर्थोंको विपरीत (अवनतिको उन्नति, विनाशको विकास, हानिको लाभ, अकर्तव्यको कर्तव्य, अशुभको शुभ आदि) ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।' और तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं **'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)।

यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि आजका मानव-जगत् इस समय अवनतिके कालमें है और क्रमशः अवनतिकी ओर ही जा रहा है; क्योंकि बुराई पहले मनमें आती है, पीछे वह क्रियारूपमें प्रकट होती है। आजकी मानव-मनकी यह काम-क्रोधादि परायणता ही कल विनाशका

भीषण स्वरूप धारण करके क्रियारूपमें प्रकट होनेवाली है। यदि इस स्थितिमें परिवर्तन नहीं हुआ, मानव कामोपभोगके लक्ष्यको छोड़कर आध्यात्मिकताकी और भगवान्‌की ओर न मुड़ा तो तीसरे राक्षसी महायुद्धके रूपमें या अन्य किसी रूपमें उसका पतन या विनाश अवश्यम्भावी है। विनाशके मुखपर बैठे हुए जगत्‌को यदि कोई शक्ति बचा सकती है तो वह केवल आध्यात्मिक शक्ति ही है। मानव-जातिके शुभचिन्तकोंको चाहिये कि वे स्वयं सावधान हो जायँ और जहाँतक उनकी आवाज पहुँचती हो, नम्रता, विनय परंतु दृढ़ताके साथ इस आवाजको पहुँचानेका प्रयत्न करें।

असुर-मानव

संसारकी वर्तमान दुर्दशापर मैं क्या लिखूँ। यों तो सब भगवान्‌का ही विधान है; परंतु लौकिक दृष्टिसे तो आज सारा संसार एक-दूसरेके विनाशमें लगा है। जल, थल और आकाश—आज सभी विषाग्निकी वर्षासे संत्रस्त हैं। सारा भूमण्डल सर्वविनाशी बमोंकी गड़गड़ाहटसे काँप रहा है। अग्निदेवताकी ज्वालामयी लपटोंसे सभी जले-भुने जा रहे हैं! मनुष्य आज अपनी मानवताको मारकर असुर—पिशाच बन गया है। लाखों-करोड़ों निरीह नर-नारी मृत्युके मुखमें जा रहे हैं, कोई गोलोंकी मारसे तो कोई पेटकी ज्वालासे! उधर लड़ाकू लोग अपनी रक्त-पिपासाका अकाण्ड ताण्डव कर रहे हैं, तो इधर अर्थगृध्र सुसभ्य मानवप्राणी सभ्यताभरी डकैती करके अपनी रुधिरप्रदिग्ध भोग-लालसाको बढ़ा रहे हैं! अपने-ही जैसे नर-नारी अभावकी आगमें जलते रहें, सब भयानक शस्त्रोंके शिकार हो जायँ, सबके घर-द्वार राखके ढेर बन जायँ एवं मृत्युकी रक्तजिह्वा पतियों, पुत्रों, पिताओंका रक्त पानकर नारी-जगत्‌को नरक-यन्त्रणा भोगनेके लिये बाध्य कर दे; पर हम सुरक्षित रहें और इन मरनेवालोंकी मृत्यु-समाधिपर—श्मशानकी विस्तृत भस्मराशिपर हमारे स्वर्ण-प्रासाद निर्मित हों तथा हम धन-सम्मानसे सुसज्जित होकर उनमें थिरक-थिरककर नाचें। यह मानवकी पैशाचिकता—उसकी राक्षसीवृत्ति नहीं तो और क्या है?

विज्ञानके महारथी भी आज अपनी सारी सृजनशक्तिको महा-नाशके प्रयासमें लगा रहे हैं। किस साधनसे कम-से-कम समयमें अल्पायाससे ही अधिक-से-अधिक जनपदोंका—नगरोंका ध्वंससाधन हो और निरीह नर-नारी कालके कराल गालमें जायँ—इन महारथियोंके महान् मस्तिष्क आज उसीकी खोजमें लगे हैं, मानो महारुद्रकी रौद्र-

इच्छाकी पूर्तिका इन्होंने ठेका ही ले लिया है। देश-के-देश उजाड़कर उनके खँडहरोंमें ये अपने विज्ञानकी कीर्ति-पताका फहराना चाहते हैं। यह विज्ञान-जगत्का राक्षसीपन नहीं तो और क्या है?

विद्वानोंकी विद्वत्ता, नीतिज्ञोंकी नीति और विभिन्न मतवादियोंकी गवेषणापूर्ण प्रवृत्ति—सभी मानवताकी हत्याका अभूतपूर्व प्रयास कर रहे हैं। ईश्वर और धर्मकी दुहाई देनेवाले भी आज अपने ईश्वरसे पर-पक्षका संहार और अपना विस्तार चाहते हैं, मानो भिन्न-भिन्न कई परमेश्वर एक-दूसरेका पक्ष समर्थन करते हैं! सभी आसुरी सम्पत्तिको पाकर उन्मत्त हो रहे हैं। इसका परिणाम बड़ा ही भयानक होगा। किसीकी हार होगी और किसीकी जीत इसका पता तो सर्वज्ञ परमेश्वरको है; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मानवताका संहार होनेपर दुःखकी ऐसी ज्वाला भड़केगी, जो सबकी सारी उछल-कूद मिटाकर उन्हें भस्म कर देगी। इसीके साथ असुर-मानवका विनाश होगा तभी जगत्में फिर सुख-शान्तिके दर्शन हो सकेंगे।

गीतामें भगवान्ने असुर-मानवकी मति, आसुरी वृत्ति और गतिका बड़ा ही सजीव चित्र चित्रित किया है। उसका कुछ अंश यह है—

वे असुर-मानव क्या करना उचित है और क्या छोड़ना, इसको नहीं जानते! उनमें न पवित्रता होती है, न शुद्ध आचार और न सत्य ही। वे जगत्को बिना आसरे, सारहीन, ईश्वरहीन और स्त्री-पुरुषके संयोगसे, केवल भोग-सुखके लिये ही बना हुआ मानते हैं। इस प्रकारके दृष्टिकोणको धारण करके वे नष्टाशय और मन्दबुद्धि अत्यन्त क्रूर कर्म करते हुए जगत्के अहित और विनाशके लिये ही पैदा होते हैं। उनके जीवन दम्भ, अभिमान और मदसे पूर्ण एवं कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंसे घिरे रहते हैं। अज्ञानतावश वे असुर-मानव आसुरी आग्रहको पकड़कर और भ्रष्टचरित्र होकर जगत्में भटकते हैं। मरते दमतक वे अनगिनत चिन्ताओंमें चूर रहते हैं। बस, किसी भी तरह

मनमाने विषयोंको प्राप्त करना और उन्हें भोगना—एकमात्र यही उनका निश्चित सिद्धान्त होता है। वे आशा—दुराशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे होते हैं। काम और क्रोधपर ही वे निर्भर करते हैं और विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्ण उपायोंसे अर्थ-संग्रहमें लगे रहते हैं। वे यही सोचा करते हैं कि आज यह मिल गया, कल वह भी मिल जायगा। हमारे पास इतना धनैश्वर्य तो हो ही गया है, शेष और भी हो ही जायगा। आज इस वैरीको मारा, शेष शत्रुओंको भी हम धूलमें मिलाकर ही छोड़ेंगे। हम ही तो सबके संचालक और नियामक ईश्वर हैं। सबको हमारे ही इशारेपर चलना पड़ता है। ऐश्वर्यका भोग, तमाम सिद्धियाँ, शक्ति और सुख—सब हमारे ही हिस्सेमें तो आये हैं। हम बड़े धनी हैं, हमारे पीछे विशाल जनता है, है कौन दूसरा हमारी बराबरीका? यज्ञ और दानसे हम देवता और दुःखियोंको तृप्त कर देंगे। वे असुर-मानव इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेकों प्रकारसे विभ्रान्तचित्त, मोह-जालसे समावृत और भोग-विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होकर अन्तमें भयानक नरकोंमें पड़ते और उनकी जहरीली गंदगीमें पचते हैं। वे असुर-मानव अपनेको ही सबसे अधिक सम्मान्य मानते और सफलताके घमण्डमें चूर हुए निरन्तर धन, मान और मदकी गुलामीमें लगे रहते हैं और इसी तामसी वृत्तिसे वे मनमाने कार्योंको यज्ञका नाम देकर छाती फुलाते हैं। अहंकार, भौतिक बल, दर्प, काम और क्रोध ही उनके अवलम्बन होते हैं। वे दूसरोंकी निन्दामें—परदोषदर्शनमें निरत रहकर सबके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी मुझ भगवान्‌से ही द्वेष करने लगते हैं। ऐसे द्वेषमूर्ति, पापपरायण, निर्दय नराधमोंको मैं (भगवान्) बार-बार दुःखपूर्ण आसुरी योनियोंमें डालता हूँ। (गीता अध्याय १६, श्लोक ७ से १९ तक देखने चाहिये।) अब आजके असुर-मानवसे उपर्युक्त लक्षणोंको मिलाकर देखिये।

गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(१) **प्रश्न**—जीवनमें निरन्तर भजन करनेवाला अन्तमें मति खराब हो जानेसे नीचे गिर जाता है और उसका भजन व्यर्थ चला जाता है, तथा हमेशा पाप करनेवाला अन्त समयमें शुद्धबुद्धि होनेके कारण मोक्षको प्राप्त हो जाता है—इसमें क्या रहस्य है?

उत्तर—यह सत्य है कि अन्तिम श्वासमें जैसी मति होती है, उसीके अनुसार गति होती है; परंतु अन्तिम क्षणमें होनेवाली मति अपने-आप अचानक ही नहीं हो जाती, उसके लिये कारण होना चाहिये। वह कारण है—जीवनभर किये हुए अच्छे-बुरे अपने कर्म। जिसने जीवनभर भजन किया है, उसकी मति अन्तमें भजनमें होगी और जिसने पाप किया है, उसकी पापमें होगी। अधिकांशमें ऐसा ही होता है। कहीं-कहीं इसके विपरीत भी होता है; भगवत्कृपासे, अकस्मात् किसी महात्मा पुरुषके दर्शन और अनुग्रहसे, भगवन्नाम और गुणोंके स्मरणसे या किसी वरदान आदिसे पाप करनेवालेकी बुद्धि शुद्ध हो सकती है; परंतु उसमें भी पूर्वकृत कर्म ही कारण होता है। ***'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'*** के सिद्धान्तके अनुसार संत-दर्शनमें पूर्वपुण्य ही कारण होते हैं; भगवन्नाम-गुणोंका स्मरण भी पूर्वाभ्याससे ही होगा और वरदान भी किसी कर्मका फल होगा। इसी प्रकार अन्तिम समयमें फलदानोन्मुख अशुभ प्रारब्धके कारण कुसंगतिके प्रभावसे, विषाद, क्रोध और शोकादिसे या शापादिसे 'मति' बिगड़ जाती है; परंतु इनमें भी कर्म ही कारण है। अतएव वर्तमानमें सदा शुभ कर्म करने चाहिये और वे भी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए। फिर मति बिगड़नेका कोई डर नहीं है। भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

[अन्तकालमें जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है और अन्तकालमें प्राय: वैसी ही मति होती है, जैसे कर्म मनसे जीवनभर आते हैं।] इसलिये अर्जुन! तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मन-बुद्धि मुझमें अर्पण हो जानेसे अन्तमें तुम नि:सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे। मृत्यु जब भी आवेगी; तभी तुम उसे मेरा स्मरण करते हुए मिलोगे। मतलब यह कि हर समय भगवान्‌के स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। फिर अन्तकालमें भगवत्कृपासे मति शुद्ध ही रहेगी।

(२) **प्रश्न**—गीतामें भगवान्‌ने कहा है, सब कुछ मुझसे ही होता है और सब जगह मैं ही हूँ। फिर मनुष्य दोषका भागी क्यों होता है? अच्छा-बुरा कर्म तो भगवान्‌पर ही निर्भर ठहरा।

उत्तर—यह सत्य है कि जैसे बिजलीका करेंट पावर-हाउससे आता है वैसे ही कर्म करनेकी शक्ति, प्रेरणा, कर्मसम्पादन-कार्य आदि सब भगवान्‌की शक्तिसे ही होते हैं और भगवान् भी सब जगह सदा व्याप्त ही हैं। परन्तु मनुष्यको भगवान्‌ने कर्मका अधिकार देकर कर्म करनेके नियम बता दिये हैं। जैसे Arms Act (शस्त्रकानून)-के अनुसार सरकार किसीको बन्दूक, राइफल, पिस्तौल आदिके लाइसेंस देती है और स्वाभाविक ही कानूनके अनुसार उसके उपयोग करनेकी अनुमति भी देती है, वैसे ही मनुष्ययोनिको भगवान्‌ने कर्म करनेका लाइसेंस दे दिया है और उसके लिये नियम भी बना दिये हैं। लाइसेंसके अनुसार बंदूक आदिका नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले पुरुषकी भाँति जो मनुष्य भगवान्‌के नियमानुसार कर्म करता है, वह पुरस्कारका

पात्र होता है। नियमानुसार होनेवाले कर्मोंका नाम ही 'शुभ कर्म' है। शुभ कर्मका फल सुख होता है और जो नियमविरुद्ध (अशुभ) कर्म करता है, वह दोषका भागी होता है और उसे दण्ड मिलता है। पापका फल दुःख है ही और भगवान् चाहें तब उसको पशु-पक्षी आदि भोगयोनियोंमें गिराकर उसका कर्म करनेका लाइसेंस छीन लेते हैं। इसलिये सब कुछ भगवान्‌के द्वारा होनेपर भी मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होनेके कारण, वह यदि अधिकारका दुरुपयोग करके पापकर्म करता है तो दोषका भागी अवश्य होता है। भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, इसीसे वे अच्छे-बुरे कर्मोंको देख सकते हैं। यहाँकी सरकारको तो कोई धोखा भी दे सकता है, अपने कानूनविरोधी कार्यको छिपा भी सकता है। सर्वव्यापी भगवान्‌के सामने कोई कर्म छिप नहीं सकता। इसके सिवा जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है और वह जैसे अच्छे-बुरे किसीसे भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही भगवान् भी सर्वत्र व्याप्त हैं और सर्वथा सबसे निर्लिप्त हैं।

(३) **प्रश्न**—मनुष्यके मनमें जो पाप-पुण्यकी स्फुरणाएँ होती हैं, उनसे पाप-पुण्य होता है या नहीं?

उत्तर—यह तो कहा ही जा चुका है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। परंतु कलियुगमें भगवान्‌ने जीवोंपर दया करके ऐसा विधान कर दिया है कि यदि मनमें पापवासना उठकर नष्ट हो जाय—उसकी क्रिया बिलकुल न हो—तो उस पापसे माफी मिल जायगी और पुण्यभावना—शुभ स्फुरणा होगी तो उसका फल पुण्य अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये अशुभ स्फुरणाओंको रोककर सदा शुभ भावनाएँ करनी चाहिये। अशुभ भावना होनेपर उससे आगे होनेवाली क्रियासे बच रहना भी बहुत कठिन है। इसलिये भी शुभ भावना ही करनी चाहिये।

(४) 'जानने' का अर्थ अपरोक्षरूपसे जानना अथवा अनुभव है। केवल 'शब्दज्ञान' का नाम 'ज्ञान' नहीं है। लंदन, पेरिस और बर्लिन आदि शहरोंको नक्शेमें देख लेनेसे उनकी स्थितिका ज्ञान तो हो जाता है, भूगोलमें पढ़नेसे उनकी जनसंख्या आदि समझ लेते हैं, पर क्या इसीसे कोई कह सकता है कि मुझे उन नगरोंका ठीक-ठीक ज्ञान हो गया? उनका ठीक ज्ञान तो वहाँ रहनेवालोंको ही होता है। इसी प्रकार जिनकी बुद्धिकी वृत्ति प्रकृतिके तीनों गुणोंसे ऊपर उठ गयी है, उन्हींको पुरुषका वास्तविक ज्ञान हो सकता है और वही ठीक-ठीक प्रकृतिके त्रिगुणमय रूपको समझ सकता है। जो स्वयं तीनों गुणोंसे बँधा हुआ है वह त्रिगुणातीत पुरुषको तो क्या, गुणोंके रूपको भी ठीक नहीं जान सकता। इसलिये शब्दोंको नहीं, शब्द जिनका प्रतिपादन करते हैं उन पुरुष और प्रकृतिरूप अर्थोंको जाननेसे ही पुरुष ज्ञानी कहा जा सकता है।

(५) आपने भगवद्गीता अध्याय ३ के श्लोक ५ और ६ के अर्थको उद्धृत करके पूछा है कि प्रकृति तो जड है, अतः वह तो किसीके अनुकूल या प्रतिकूल क्या होगी। इसलिये यहाँ प्रकृतिका भावार्थ 'भगवदिच्छा' या 'प्रारब्ध' समझना चाहिये। तो प्रारब्ध या भगवदिच्छा बलवान् है या आत्मस्वतन्त्रता?

आपने जडमें अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अयोग्यता बतलायी; परंतु मेरे विचारसे तो अनुकूलता-प्रतिकूलता जडके संगसे ही रहती है, चेतन तो असंग और साक्षीमात्र होता है। परंतु इस विवेचनको अभी छोड़ता हूँ; क्योंकि यह विषय बहुत गम्भीर और विवेकसाध्य है। आपने जो पूछा है कि प्रारब्ध या भगवदिच्छा बलवान् है या आत्मस्वतन्त्रता, सो कर्ममीमांसाके अनुसार प्रारब्ध तो क्रियमाणका ही परिणाम है। हम जो कर्म

करते हैं उसीका प्रारब्ध बनता है; इस समय जो प्रारब्ध बना हुआ है वह भी पहले किसी किये हुए कर्मका ही परिणाम है। यदि पुरुषको सर्वथा प्रारब्धके ही पंजीमें मान लिया जाय तो भजन-साधनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वास्तवमें मानव-जीवन विभिन्न कर्मोंके संघर्षका स्थान है। यदि हमारा वर्तमान पुरुषार्थ प्रबल होता है तो वह फलदानोन्मुख प्रारब्धको दबा देता है और यदि पुरुषार्थ शिथिल होता है तो प्रारब्ध उसे दबा देता है। अतः सिद्धान्ततः प्रारब्ध और पुरुषार्थमेंसे किसी एकको ही प्रबल नहीं कह सकते, इनकी सबलता-निर्बलता तो प्रयत्नके अनुसार समय-समयपर बदलती रहती है। रही परमस्वतन्त्र भगवदिच्छा—सो उसकी तो बात दूसरी है। असलमें तो भगवान्‌की इच्छाका स्वरूप भगवान् ही बता सकते हैं। हम तो यह भी ठीक नहीं बता सकते कि भगवान्‌में इच्छा है भी या नहीं—परंतु यदि इच्छा है तो यह कहनेमें संकोच नहीं करना चाहिये कि वह भी भक्तिके परतन्त्र है। इसके सिवा अन्य पुरुषोंके प्रति भी भगवान्‌की इच्छा उनके कर्मोंके अनुरूप ही होती है। नहीं तो उसमें विषमता होनेका कोई और कारण नहीं बताया जा सकता। अतः यही मानना उचित है कि अपना प्रबल प्रयत्न हो तो अवश्य भगवदिच्छामें भी परिवर्तन हो सकता है, किन्तु वह प्रयत्न सर्वथा प्रेम और सत्यसे अनुप्राणित होकर इतना प्रबल होना चाहिये कि उससे भगवान्‌का भी आसन हिल जाय।

(६) मुक्त होनेपर जीव परमात्मामें इस प्रकार लीन ही नहीं होता, जैसे घड़ेका पानी समुद्रके जलमें, क्योंकि जलकी तरह जीव और परमात्मा सावयव पदार्थ नहीं हैं। वे तो वास्तवमें एक ही हैं। जैसे एक ही महाकाश घटसे सीमित होनेपर घटाकाश कहा जाता है और स्वयं व्यापक है, उसी प्रकार लिंगदेहरूप उपाधिके कारण

परमात्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। ज्ञानसे लिंगदेहके कारण अज्ञानका नाश हो जाता है; अतः जैसे घटके नाशसे घटाकाश महाकाशरूप ही रह जाता है, महाकाशमें लीन नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानके नाशसे लिंगदेहका बाध हो जानेसे जीवात्मा परमात्मा ही रह जाता है, वह उसमें लीन नहीं होता।

अब विचार यह है कि 'परमात्माके अवतार लेनेपर परमात्मामें लीन हुए मुक्त जीवको भी संसार-बन्धन होता है या नहीं?' ऐसी स्थितिमें यदि अवतार लेनेपर परमात्माको संसार-बन्धन माना जाय तब तो किसी प्रकार ऐसी शंका भी हो सकती है—वह भी इस प्रकार नहीं होगी जैसी आपने की है, क्योंकि ऊपर यह बताया जा चुका है कि जीवात्मा परमात्मामें लीन नहीं होता। किन्तु जब परमात्माको ही बन्धन नहीं होता तो मुक्तात्माको क्यों होगा? परमात्मा जो 'शरीर' धारण करते हैं वह उनका स्वेच्छामय दिव्य निर्गुण देह होता है—प्रकृतिका कार्य नहीं होता। उसमें और स्वयं चिद्रूप श्रीभगवान्‌में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता। यही सामान्य जीव और परमात्माके देहधारणमें अन्तर है। इस प्रकार जब भगवद्विग्रह स्वयं भगवत्तत्त्व ही है तो वह उनका किस प्रकार बन्धन कर सकता है? अतः अवतारशरीरके विषयमें आपकी यह शंका बन ही नहीं सकती।

(७) 'जड' शब्दका अर्थ है दृश्य। जो कुछ भी बाह्य और आन्तर इन्द्रियोंका विषय होता है वह सब दृश्य ही है और इसीसे जड भी है। चेतनसे जडकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसीसे चेतनको कारण माननेवाले अद्वैत वेदान्ती दृश्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। अतः इस शंकासे उनके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती।

जातिमें जन्मकी प्रधानता है

जहाँतक हमलोगोंकी समझ है—जातिमें जन्मकी ही प्रधानता है, कर्मकी नहीं। गीताके '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**' (४। १३) श्लोकके सम्बन्धमें लिखा, सो मेरी धारणामें आपने ठीक-ठीक उसका शब्दार्थ नहीं समझा है और अपनी मान्यताके अनुसार उसका अर्थ कर लिया है। आपने 'गीता-तत्त्वविवेचनी टीका' का उल्लेख किया, सो ठीक है। 'गीता-तत्त्वविवेचनी' में उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

इस श्लोकके स्पष्टीकरणमें लिखा गया है—'अनादिकालमें जीवोंके, जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है। भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मण आदि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं, अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है, उन्हें ब्राह्मण बनाते हैं, जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी अधिकता होती है, उन्हें क्षत्रिय, जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं। इस प्रकार रचे हुए वर्णोंके लिये उनके स्वभावके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवान् स्वयं कर देते हैं। अर्थात् ब्राह्मण शम, दम आदि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रियमें शौर्य-तेज आदि हों, वैश्य कृषि-

गोरक्षामें लगें और शूद्र सेवा-परायण हों—ऐसा कहा गया है—(गीता १८।४१—४४)। इस प्रकार गुणकर्म-विभागपूर्वक भगवान्के द्वारा चतुर्वर्णकी रचना होती है। यही व्यवस्था जगत्में बराबर चलती है।'

कर्मसे जाति माननेवालोंको इन पंक्तियोंपर विचार करना चाहिये। हम भी कर्मसे जाति मानते हैं, परंतु किस प्रकार? इस जन्ममें जो कुछ कर्म होता है, उसीके अनुसार अगले जन्ममें जाति प्राप्त होगी। इस प्रकार जातिमें जन्मकी ही प्रधानता सिद्ध होती है, कर्म तो भावी जन्ममें कारणमात्र है। यही बात उपनिषदोंमें भी कही गयी है। 'छान्दोग्योपनिषद्'-में जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन करते हुए यह स्पष्ट लिखा गया है कि—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।' (५।१०।७)

'उन जीवोंमेंसे जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले(पुण्यात्मा) होते हैं, वे निश्चय ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले (पापात्मा) होते हैं, वे अधमयोनि कुत्ते, सूकर अथवा चाण्डालकी योनिको प्राप्त होते हैं।'

स्मरण रहे, यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और चाण्डाल आदि सबको 'योनि' कहा है। कर्मके अनुसार जाति माननेपर ब्राह्मण आदिकी कोई नियत योनि नहीं रह सकती। प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न कर्मोंको अपनाकर प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बनता रहेगा।

इसीलिये 'ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे'—यह प्रश्न करनेपर 'गीता-तत्त्वविवेचनी' में कहा गया—

'यद्यपि जन्म और कर्म—दोनों ही वर्णके अंग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है, परंतु प्रधानता जन्मकी ही है। इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी ही है। यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्राय: संकरता नहीं आती। परंतु संगदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्ण-रक्षा हो सकती है, तथापि कर्म-शुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अत: जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता; तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका साधन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है।'

'यदि मनुष्यके आचरण और कर्म देखकर उसके अनुसार उसकी जाति मान ली जाय तो क्या हानि है?' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—

'जीवोंका कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर ही उनके पूर्वकर्मानुसार उन्हें विभिन्न वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। ईश्वरके विधानको

बदलनेमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। आचरण देखकर वर्णकी कल्पना करना भी असम्भव ही है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न बालकोंके आचरणोंमें बड़ी विभिन्नता देखी जाती है। एक ही मनुष्य दिनभरमें कभी ब्राह्मणका-सा तो कभी शूद्रका-सा कर्म करता है। ऐसी अवस्थामें वर्णका निश्चय कैसे होगा? फिर ऐसा होनेपर नीचा कौन बनना चाहेगा? खान-पान और विवाहादिमें अड़चनें पैदा होंगी। फलतः वर्ण-विप्लव हो जायगा और वर्ण-व्यवस्थाकी स्थितिमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जायगी। अतएव केवल कर्मसे वर्ण नहीं मानना चाहिये।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि वर्णका मूल है—जन्म; और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। वर्तमान वर्णकी प्राप्तिमें पूर्वजन्मका कर्म कारण बनता है। इस प्रकार वर्ण या जातिमें जन्म और कर्म, दोनों आवश्यक हैं; परंतु प्रधानता जन्मकी है। केवल कर्मसे वर्ण या जाति माननेवाले वास्तवमें जाति या वर्णको मानते ही नहीं। अस्तु,

अब मैं आपके अन्य प्रश्नोंपर विचार करता हूँ। आपने भविष्यपुराण, ब्राह्म-पर्वके दो श्लोकोंको अशुद्धरूपमें उद्धृत करके जातिभेदका खण्डन किया है। आपके विचारसे मानवमात्रकी एक ही जाति है—मनुष्यजाति। इसके सिवा, जो जाति-कल्पना है, वह व्यर्थ है। जात-पाँतका विरोध करनेवाले लोग प्रायः पुराणोंको मानते ही नहीं, परंतु आपने अपने मतकी सिद्धिके लिये पुराणका आश्रय लिया है, यह प्रसन्नताकी बात है। आप अच्छी तरह जानते हैं कि पौराणिक मत जन्मसे जाति माननेके पक्षमें है। भविष्यपुराणको ही आपने रक्षा-कवचकी भाँति अपना सहायक बनाया है, अतः उसीके प्रमाणसे आपके मतका खण्डन हो जाय तो आपको अधिक संतोष हो सकता है।

भविष्यपुराणमें कार्तिकेय षष्ठीव्रतके माहात्म्यका प्रसंग लेकर कार्तिकेयजीकी उत्पत्तिका वृत्तान्त आया है। वे छः माताओंके पुत्र हैं, इस बातपर आश्चर्य करते हुए प्रश्न उठाया गया है—

'जातिः श्रेष्ठा भवेद् वीर उत कर्म भवेद् वरम्।'

अर्थात्—'जाति श्रेष्ठ है या कर्म?'

इस प्रश्नपर विचार करते हुए उन लोगोंकी भर्त्सना की गयी है, जो जातिके अभिमानमें आकर कर्मकी अवहेलना करते हैं। वहाँ कहा गया है कि 'कर्मसे ही मनुष्यमें उत्कर्ष आता है; केवल जातिका अभिमान व्यर्थ है। सब एक ही पिता—परमात्माके पुत्र हैं; अतः कोई ऊँचा, कोई नीचा नहीं। सबकी एक जाति है।'

इस विषयपर बड़े विस्तारके साथ विवेचन हुआ है। ये सारी बातें केवल इस उद्देश्यसे कही गयी हैं कि लोग कर्मका महत्त्व समझें और कर्म करें। कर्मकी ओरसे उदासीन होकर केवल जातिके अभिमानमें ऐंठे न रहें। जहाँ सबकी एक जाति बतायी गयी है; वहाँ आकृतिरूपा जाति है; अर्थात् आकार तो चारों वर्णोंका एक-सा है; आकृतिरूपा जाति उनकी एक है। सनातनधर्मका यही सिद्धान्त है कि जन्मसे तो सभी एक आकार-प्रकारके होते हैं; फिर वर्णके अनुसार जब बालकका संस्कार कर दिया जाता है और वह स्वधर्मपालनमें लग जाता है, तब उसमें वर्णगत उत्कर्ष जाग उठता है।

इसका तात्पर्य यही है कि तीनों वर्णोंको अपने संस्कार कभी नहीं छोड़ने चाहिये—**'संस्काराद् द्विज उच्यते॥'** 'संस्कारसे ही उनमें द्विजत्व जाग्रत् होता है।' अतः प्रत्येक मनुष्यको अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार विहित कर्मका पालन करना चाहिये। यही गीताका 'स्वधर्म' है।

भविष्यपुराणमें भी गीताकी ही भाँति प्रत्येक वर्णके स्वाभाविक कर्म बताये गये है। वहाँ गीताके अठारहवें अध्यायके श्लोक ही ज्यों-के-त्यों उपलब्ध होते हैं। 'स्वभाव' प्रकृतिको कहते हैं; प्रकृति जन्मसे ही होती है। जन्मसिद्ध कर्म ही वहाँ 'स्वाभाविक कर्म' हैं।

इतना ही नहीं, आगे चलकर प्रकरणका उपसंहार करते हुए भविष्यपुराणमें जन्म और कर्मके समुच्चयको आदर दिया गया है; अर्थात् वर्णकी रक्षाके लिये जन्म और कर्म दोनों आवश्यक हैं। जैसे दैव और पुरुषार्थ—दोनोंसे ही कार्य-सिद्धि होती है, उसी प्रकार पुरुष जन्म और कर्म दोनोंसे सिद्धिको प्राप्त होता है। जिस जातिमें जन्म हो, उसीके अनुसार कर्म करनेसे वह उन्नतिको प्राप्त हो सकता है। इसी अभिप्रायसे ब्रह्माजी कहते हैं—

इदं शृणु मयाऽऽख्यातं तर्कपूर्वमिदं वचः।
युष्माकं संशये जाते कृते वै जातिकर्मणोः॥
पुनर्वच्मि निबोधध्वं समासान्न तु विस्तरात्।
संसिद्धिं यान्ति मनुजा जातिकर्मसमुच्चयात्॥
सिद्धिं यच्छेद् यथाकार्यं देवकार्यसमुच्चयात्।
एवं संसिद्धिमायाति पुरुषो जातिकर्मणोः॥

(भविष्य०, ब्राह्मपर्व ४५। १—३)

मुझे आशा है कि उपर्युक्त पंक्तियोंसे गीताकी जातिसम्बन्धी आपकी शंकाका समाधान हो जाना चाहिये। आप कृपया अपने मतपर एक बार फिर विचार कीजिये और ठीक समझमें आ जाय तो उपर्युक्त मतको मानिये। मेरा आपका मत बदलनेका कोई भी आग्रह नहीं है।

'कल्याण' और गीता

आप 'कल्याण' को बराबर पढ़ते आ रहे हैं—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। 'कल्याण' एक धार्मिक पत्र है। सनातनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बातका प्रचार 'कल्याण' द्वारा होता है। इसका प्रधान विषय अध्यात्म ही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निष्काम कर्मयोग, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सदाचार, सतीधर्म, नारीधर्म आदि सभी विषयोंपर 'कल्याण' द्वारा प्रकाश डाला जाता है। हिंदूशास्त्रोंमें वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंका बहुत उच्च स्थान है; इन्हीं ग्रन्थोंमें हमारी संस्कृतिका परम दिव्य उज्ज्वल स्वरूप चित्रित है। अतः इन्हींके आधारपर 'कल्याण' में अधिकांश विचार प्रकट किये जाते हैं। इन सबमें भी गीताका स्थान महान् है। गीताके अनुसार जीवन बनानेसे मनुष्यका प्रत्येक व्यवहार आध्यात्मिक उन्नतिका—भगवत्पूजनका साधन बन जाता है। गीताने मुख्यतः दो निष्ठाओंका वर्णन करके उन्हें भक्तिके साथ संयुक्तकर 'मणि-कांचनयोग' उपस्थित किया है। 'कल्याण' किसी व्यक्तिके मतकी ओर आकृष्ट न होकर, अपनी समझके अनुसार भगवान्के मतका प्रकाश करता है। 'कल्याण' गीताको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों निष्ठाओंका प्रतिपादक मानता है, 'कल्याण' ने अबतक इसी नीतिसे गीताको देखने और समझनेका प्रयास किया है। 'कल्याण' किसी व्यक्ति या व्यक्तिगत सिद्धान्तका प्रचारक न होकर निष्पक्ष शास्त्रीय सिद्धान्तका ही प्रचार करना अपना ध्येय मानता है। पर 'कल्याण' किसीपर किसी सिद्धान्तको लादना भी नहीं

चाहता। जो अपने शुद्ध दृष्टिकोणसे गीतामें केवल 'संन्यास'-का प्रतिपादन मानते हैं, वे वैसी बात मान सकते हैं और जो केवल 'निष्काम कर्मयोग' को ही गीताका मुख्य सिद्धान्त मानते हैं, वे भी अपने मतके लिये स्वतन्त्र हैं। 'कल्याण' अपनी बात कहता है, किसीका खण्डन नहीं करता। 'कल्याण' यह दावा भी नहीं करता कि गीताके सम्बन्धमें वह जो मानता है, वही ठीक है। गीता श्रीभगवान्‌की वाणी है, इसलिये वह सभीके लिये उपयोगी है। जो जैसा अधिकारी है, गीताका उसके लिये वैसा ही उपदेश है। रत्नोंका समुद्र है गीता—जिसकी जैसी डुबकी, उसको वैसा ही फल।

दैवी सम्पत्तिके गुण

(अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तक)

(१) किसी भी अवस्थामें किसी प्रकारका भय न होना।
(२) अन्त:करणका भलीभाँति शुद्ध हो जाना।
(३) परमात्माके स्वरूपज्ञानरूप योगमें निरन्तर स्थित रहना।
(४) देश-काल-पात्र देखकर सात्त्विक दान करना।
(५) इन्द्रियोंका दमन करना।
(६) यथाधिकार अनेक प्रकारके यज्ञ करना।
(७) ईश्वर और ऋषिप्रणीत आध्यात्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवन्नाम-गुणका कीर्तन करना।
(८) स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना।
(९) शरीर, मन और इन्द्रियोंका सरल रहना।
(१०) मन-वाणी-शरीरसे किसी प्रकार भी किसीकी हिंसा न करना।
(११) सत्य-भाषण, जैसा समझा और जाना हो, वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कह देना।
(१२) अपना बुरा करनेवालेपर भी क्रोध न होना।
(१३) कर्तापनके अभिमानका त्याग करना।
(१४) चित्तकी चंचलताका मिट जाना।
(१५) किसीकी निन्दा या चुगली न करना।
(१६) सभी प्राणियोंमें अहैतुकी दया करना।
(१७) इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी विषयोंमें आसक्तिका न होना।
(१८) मन-वाणीका कोमल हो जाना।

(१९) ईश्वरको सर्वथा सामने समझकर उनकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करनेमें लजाना।

(२०) मन-वाणी-शरीरसे व्यर्थ चेष्टाएँ न करना।

(२१) तेजस्विताका विकास होना।

(२२) अपना घोर अनिष्ट करनेवालेके लिये उसका अपराध/क्षमा करनेके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना करना।

(२३) किसी भी अवस्थामें धैर्य न छोड़ना।

(२४) बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना।

(२५) किसीके प्रति भी शत्रुभाव न रखना।

(२६) अपनेमें किसी तरहके बड़प्पनका अभिमान न होना।

(इनका फल मुक्ति या भगवत्-प्राप्ति है)

स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण

(अध्याय २ श्लोक ५५ से ७१ तक)

(१) जो मनमें रहनेवाली सभी कामनाओंका त्याग कर देता है।

(२) जो आत्मासे ही आत्मामें सन्तुष्ट है।

(३) जो दुःखोंसे घबराता नहीं।

(४) जो सुखोंकी इच्छा नहीं रखता।

(५) जो आसक्ति, भय और क्रोधसे मुक्त है।

(६) जो सर्वत्र ममतायुक्त स्नेहसे रहित है।

(७) जो शुभ वस्तुको पाकर हर्षसे फूल नहीं जाता।

(८) जो अशुभ वस्तुकी प्राप्तिसे द्वेष नहीं करता।

(९) जो इन्द्रियोंको कछुएकी भाँति सभी विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुखी रखता है।

(१०) जो मन, इन्द्रियोंको वशमें रखकर भगवान्‌के परायण रहता है।

(११) जो मन, इन्द्रियोंको नियन्त्रित करके राग-द्वेषरहित हो इन्द्रियोंसे विषयोंका शास्त्रानुकूल आसक्तिरहित सेवन करता है।

(१२) जो निर्मल और प्रसन्नचित्त रहता है।

(१३) जो नित्य शुद्ध-बोधस्वरूप परमानन्दमें निरन्तर जाग्रत् रहता है और नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखोंमें सोता रहता है। अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थित और भोगोंसे उदासीन रहता है।

(१४) जो भोगोंसे विचलित न होकर समुद्रकी तरह स्व-स्वरूपमें अचल स्थिर रहता है।

(१५) जो कामना, ममता, अहंकार और स्पृहाका त्याग कर देता है।

आसुरी सम्पत्तिके लक्षण

(अध्याय १६ श्लोक ७ से २१ तक)

(१) किस कामको करना चाहिये, किसको छोड़ना चाहिये, इस बातका विवेक न रहना।

(२) बाहर और भीतरसे अपवित्र रहना।

(३) असदाचारी होना।

(४) असत्य-भाषण करना।

(५) जगत्‌को आधाररहित, (स्वार्थके लिये) सर्वथा मिथ्या, ईश्वरहीन और स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न मानना।

(६) जगत् केवल विषय भोगनेके लिये ही है, ऐसा समझना।

(७) मिथ्या ज्ञानसे आत्मभावको भूल जाना।

(८) बुद्धिका मन्द होना।

(९) सबका बुरा करना।

(१०) क्रूर कर्म करना।

(११) बगुला-भक्ति या दम्भ करना।

(१२) अपनेको माननीय समझना।

(१३) घमण्डमें चूर रहना।

(१४) कामनाओंसे घिरे रहना।

(१५) अनीश्वरीय सिद्धान्तको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरण करना।

(१६) मरणकालतक रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंसे जलते रहना।

(१७) 'खाओ पीओ मौज करो' में ही आनन्दकी इतिश्री मानना।

(१८) सैकड़ों प्रकारकी भोग-आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे रहना।
(१९) काम-क्रोधको ही जीवनका सहारा समझना।
(२०) मौज-शौकके लिये अन्यायसे धन इकट्ठा करना।
(२१) सदा इसी विचारमें रहना कि आज यह पैदा किया है, बाकीकी इच्छाएँ भविष्यमें पूरी करूँगा। इतना धन तो मेरे पास है ही फिर और भी हो जायगा।
(२२) वैरभावसे प्रेरित होकर दूसरोंकी हिंसा करना और यह समझना कि अमुक शत्रुको तो मार ही डाला, शेषको भी मार डालूँगा।
(२३) अपनेको ही सबका स्वामी समझना।
(२४) अपनेको ही ऐश्वर्योंका भोग करनेवाला मानना।
(२५) अपनेमें ही सिद्धियोंका मानना।
(२६) शारीरिक बलसे ही अपनेको बलवान् मानना।
(२७) सांसारिक भोगोंसे ही अपनेको सुखी समझना।
(२८) अपनेको बड़ा धनी समझना।
(२९) बड़े कुटुम्बका घमण्ड करना।
(३०) अपने समान किसीको न समझना।
(३१) अभिमानसे यह कहना कि मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मेरी बड़ी कीर्ति होगी, जिसको सुनकर मैं बहुत खुश होऊँगा।
(३२) चित्तका अत्यन्त चंचल रहना।
(३३) मोहजालसे बुद्धिका ढका रहना।
(३४) भोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहना।
(३५) अपनेको ही सबसे श्रेष्ठ समझना।
(३६) मुँह फुलाये रखना।
(३७) धन और मानके नशेमें चूर रहना।

(३८) शास्त्रविधिको छोड़कर दम्भसे केवल नाममात्रके लिये यज्ञ करना।

(३९) 'मैं'-पनका अहंकार, शारीरिक बल, धन, मान, पुत्र, जाति, वर्ण, रूप, यौवन, देश, विद्या आदिका घमण्ड करना, काम-क्रोधको ही जीवनका अवलम्ब मानना।

(४०) दूसरोंकी निन्दा करना।

(४१) सबमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करना (इनमें मुख्य काम, क्रोध, लोभ हैं)। इस सम्पत्तिका फल बन्धन, बारम्बार नीच योनि और परम नीच गतिको प्राप्त होना है।

गीतोक्त चौदह यज्ञ

यज्ञोंके वर्ग	प्रकार	यज्ञोंके नाम और अनुक्रमांक	अध्याय और श्लोक	स्पष्टीकरण
१—जडवस्तु-सम्बन्धी यज्ञ।	२	१—द्रव्ययज्ञ···	४। २८	धन-धान्य वस्त्रादि सम्पत्तिको ईश्वरप्रीत्यर्थ दान, धर्म और परोपकारी कार्योंमें खर्च करना।
	...	२—देवयज्ञ···	४। २५	देवताओंके लिये जड द्रव्योंका हवन करना।
२—शरीर-सम्बन्धी यज्ञ।	२	३—ज्ञानेन्द्रिय यज्ञ	४। २६	ज्ञानेन्द्रियोंके संयमका अभ्यास यानी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना।
	...	४—विषययज्ञ	४। २६	इन्द्रियोंके द्वारा उन्हीं विषयोंका सेवन करना जो यज्ञावशिष्ट हों।
३—वाणी-सम्बन्धी यज्ञ।	१	५—स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञ।	४। २८	अर्थज्ञानसहित धर्म-ग्रन्थोंके पढ़नेका अभ्यास (वेदाध्ययन स्तोत्रपारायण आदि) (नाम-जप)।
४—प्राण-सम्बन्धी यज्ञ।	४	६—प्राणयज्ञ···	४। २९	अपान, व्यान, उदान और समान—इन चारोंका प्राणवायुमें हवन करना यानी पूरक प्राणायाम करना।

	...	७—अपानयज्ञ	४। २९	प्राण, व्यान, उदान और समान—इन चारोंका अपानवायुमें हवन करना यानी रेचक प्राणायाम करना।
	...	८—प्राणापान-यज्ञ···	४। २९	शरीरमें दोषरहित हुई शुद्ध प्राणवायुको स्थिर, स्वस्थ और शान्त करना, सम प्रमाणमें रोककर 'आभ्यन्तर' या 'बाह्य', 'कुम्भक' प्राणायाम करना।
	...	९—अन्तरप्राणयज्ञ	४। ३०	इन्द्रियोंको चेतन करनेवाली प्राणशक्तिको आहारके संयमसे वशमें करना।
५—बुद्धि-सम्बन्धी यज्ञ।	१	१०—योगयज्ञ	४। २८	बुद्धियोग यानी कुशलतासे निष्काम कर्म करना अथवा अष्टांगयोगका साधन करना
६—मिश्रित-प्रकार-यज्ञ।	३	११—तपोयज्ञ	४। २८	व्रतोपवास या अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंद्वारा शरीर-मनको शुद्ध और पवित्र बनाना या स्वधर्म-पालनरूप तप करना।
	...	१२—जपयज्ञ	१०। २५	वाचिक, उपांशु, मानसिक, ध्यान या अनन्य जप करना।
	...	१३—इन्द्रिय-प्राणकर्मयज्ञ।	४। २७	इन्द्रियोंकी चेष्टाओं और प्राणोंके व्यापारको रोककर मनको आत्मामें एकाग्र करना या इन्द्रियोंकी चेष्टा और मनके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित परमात्मामें स्थितिरूप योगमें लगाना।
७—परमात्म-सम्बन्धी यज्ञ	१	१४—ज्ञानयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ	४। २५ ४। २४	सब कुछ ब्रह्मरूप समझकर सर्वदा सर्वत्र समस्त क्रियाओंमें सर्वथा ब्रह्मका अनुभव करना।*

* (मराठी चमत्कारी टीकाकी श्रीयुत आनन्दघनरामजी-लिखित भूमिकाके आधारपर)

गुणोंका स्वरूप और उनका फल आदि

विषय	सतोगुण	रजोगुण	तमोगुण
गुणोंका स्वरूप	अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता, बोधशक्तिका उत्पन्न होना। (१४।११)	लोभ, सांसारिक कर्मोंमें प्रवृत्ति, कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ, मनकी चंचलता और भोगोंकी लालसा। (१४।१२)	अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्ममें प्रवृत्त न होना, प्रमाद (न करनेयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति), मोह। (१४।१३)
गुणोंके द्वारा लगाया जाना।	सुखमें लगाता है ········· (१४।९)	कर्ममें लगाता है। ········· (१४।९)	ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है। (१४।९)
गुणोंके द्वारा जीवका बन्धन।	प्रकाशमय निर्विकार सतोगुण निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानके अभिमानसे बाँधता है। (१४।६)	कामना और आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाला रागरूप रजोगुण कर्म और उनके फलकी आसक्तिसे बाँधता है। (१४।७)	सब देहाभिमानियोंको मोहने-वाला अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण प्रमाद, आलस्य और नींदसे बाँधता है। (१४।८)

गुणोंसे उत्पन्न भाव।	ज्ञान। (१४। १७)	लोभ। (१४। १७)	प्रमाद और मोह। (१४। १७)
गुणोंके फल…	निर्मल सुख-ज्ञान-वैराग्यादि (१४। १६)	दु:ख। (१४। १६)	अज्ञान। (१४। १६)
किस गुणकी वृद्धिमें मरनेवाला किस लोक या योनिमें जाता है।	उत्तम कर्म करनेवालोंके मल-रहित दिव्य देवलोकमें देव-योनिको प्राप्त होता है। (१४। १४)	कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्य-लोकमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। (१४। १५)	ऊँट, भैंसा, सूअर आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म होता है। (१४। १५)
किस गुणमें स्थित पुरुष किस लोक या योनिमें जाते हैं।	उच्च गतिको प्राप्त होते हैं, सिद्ध या साधकोंके भगवदामुखी श्रेष्ठ-कुलमें जन्म लेते हैं अथवा देवता बनते हैं। (१४। १८)	बीचकी गतिको प्राप्त होते हैं कर्मासक्त मनुष्य बनते हैं। (१४। १८)	नीचेकी पशु आदि योनियोंमें, नारकी योनिमें या भूत-प्रेतादि पापयोनिमें जाते हैं। (१४। १८)

गुणोंके अनुसार आहार-यज्ञादिके लक्षण

विषय	सात्त्विक	राजस	तामस
उपासना···	देवताओंका पूजन (१७। ४)	यक्ष-राक्षसोंका पूजन (१७। ४)	भूत-प्रेतादिका पूजन (१७। ४)
आहार···	जो पदार्थ आयु, बुद्धि, बल, नीरोगता, सुख और प्रीति बढ़ानेवाले तथा रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर रहनेवाले और रुचिके अनुकूल हों। गेहूँ, चावल, मूँग, गव्यपदार्थ, फल, शाकादि (१७। ८)	बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे, दाह-कारी, दुःख, शोक और रोग-उत्पन्न करनेवाले पदार्थ। अफीम, इमली, लाल मिर्च, भूँजे, राई आदि। (१७। ९)	अधपके, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठे, अपवित्र पदार्थ। मांस, जूठन, प्याज, अचार, आसव आदि। (१७। १०)
यज्ञ···	जो विधिसंगत हो तथा कर्तव्य और निष्काम बुद्धिसे किया जाय (१७। ११)	जो विधिसंगत हो, पर फलकी इच्छासे या दम्भसे किया जाय। (१७। १२)	जो विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और श्रद्धारहित हो। (१७। १३)

तप···	श्रद्धा और निष्कामभावसे किये जानेवाले त्रिविध* तप। (१७।१७)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये दम्भसे किये जानेवाले अनिश्चित और क्षणिक फलवाले त्रिविध तप। (१७।१८)	मूर्खताके दुराग्रहसे शरीर, मन, वाणीको सताकर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये किये जानेवाले त्रिविध तप। (१७।१९)
दान···	जिसको, जिस समय, जिस वस्तुकी यथार्थतः धर्मयुक्त आवश्यकता हो, उसको, उस समय, वह वस्तु कर्तव्य-बुद्धिसे बदला पानेकी इच्छा न रखकर देना। (१७।२०)	बदला पानेके लिये किसी लौकिक, पारलौकिक फलकी आशासे (नाम, बड़ाई, उपाधि, व्यापार-वृद्धि, सम्मान, स्वर्ग आदिके लिये) और मनमें कष्ट पाकर देना। (१७।२१)	दान लेनेवालेको इस समय इस वस्तुकी धर्मयुक्त यथार्थ आवश्यकता है या नहीं, इस बातका कुछ भी विचार किये बिना मनमाने तौरपर अथवा आदर न करके और अपमान करके देना। (१७।२२)
त्याग···	नियत कर्मको कर्तव्य-बुद्धिसे करना और उसमें आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग कर देना। (१८।९)	कर्मको दुःखरूप (झंझट) समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उसे स्वरूपसे त्याग देना। (१८।८)	नियत कर्मका मोहसे त्याग कर देना। (१८।७)

* शरीरका, वाणीका और मनका इस तरह तीन प्रकारके तप होते हैं।

शरीरका तप—देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और ज्ञानीजनोंकी सेवा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा यह मुख्यतः शारीरिक तप है। (१७।१४)

वाणीका तप—ऐसे वचन बोलने चाहिये जिनसे किसीको उद्वेग न हो, जो सुननेमें प्यारे लगें, जिनका उद्देश्य हितकर हो और जो सच्चे हों। ऐसे वचन बोलनेके प्रसंगके अतिरिक्त अन्य समय ऋषि-मुनि-प्रणीत सद्ग्रन्थोंका अध्ययन और परमात्माका नाम-गुण-कीर्तन करना चाहिये, यह मुख्यतः वाङ्मय तप है। (१७।१५)

मनका तप—मनको प्रसन्न रखना, शान्त रखना, भगवच्चिन्तनके सिवा व्यर्थ संकल्प-विकल्प न करना, मनको नियन्त्रणमें रखना और उसे पवित्र रखना मुख्यतः मानसिक तप है। (१७।१६)

अध्यायानुक्रमसे गीतान्तर्गत व्यक्तियोंद्वारा कथित श्लोक-संख्या

अध्याय	धृतराष्ट्र	संजय	अर्जुन	श्रीभगवान्	पूर्ण संख्या
१	१	२५	२१	०	४७
२	०	३	६	६३	७२
३	०	०	३	४०	४३
४	०	०	१	४१	४२
५	०	०	१	२८	२९
६	०	०	५	४२	४७
७	०	०	०	३०	३०
८	०	०	२	२६	२८
९	०	०	०	३४	३४
१०	०	०	७	३५	४२
११	०	८	३३	१४	५५
१२	०	०	१	१९	२०
१३	०	०	०	३४	३४
१४	०	०	१	२६	२७
१५	०	०	०	२०	२०
१६	०	०	०	२४	२४
१७	०	०	१	२७	२८
१८	०	५	२	७१	७८
	१	४१	८४	५७४	७००

गीताके श्लोकोंका छन्द-विवरण

गीताके सात सौ श्लोक अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति और विपरीतपूर्वा इन पाँच छन्दोंमें रचे गये हैं। इनमेंसे ६४५ श्लोक तो अनुष्टुप् छन्दमें हैं, अवशेष ५५ श्लोकोंका विवरण निम्नलिखित है।

छन्दका नाम	अध्याय	श्लोकोंकी संख्या	कु० सं०
इन्द्रवज्रा श्लोक १०	२	७,२९	२
...	८	२८	१
...	९	२०	१
...	११	२०,२२,२७,३०	४
...	१५	५, १५	२
उपेन्द्रवज्रा श्लोक ४	११	१८,२८,२९,४५	४
उपजाति श्लोक ३७	२	५,६,८,२०,२२,७०	६
...	८	९,१०,११	३
...	९	२१	१
...	११	१५,१६,१७,१९,२१, २३,२४,२५,२६,३१, ३२,३३,३४,३६,३८, ४०,४१,४२,४३,४६, ४७,४८,४९,५०	२४
...	१५	२,३,४	३
विपरीतपूर्वा श्लोक ४	११	३५,३७,३९,४४	४

गीताके दो प्रधान पात्र

(भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन)

गीतामें सर्वप्रधान पात्र दो हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुन। अतएव यहाँ इन दोनोंके जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ तो जीवोंको भवसागरसे तारनेवाली हैं ही, उनके भक्त अर्जुनकी जीवन-कथा भी भगवान्‌के सम्बन्धसे बहुत ही उपकारिणी हो गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, गीतामें उन्होंने अपने श्रीमुखसे तो बार-बार अपनेको साक्षात् भगवान् कहा ही है। अर्जुन और संजयने भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जो भगवान्‌के सिवा किसी भी बड़े-से-बड़े मनुष्यके लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते।

द्वापरके अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें वसुदेवजीके यहाँ कंसके कारागारमें भाद्रपद कृष्णा अष्टमी, बुधवारको आधी रातके समय रोहिणी नक्षत्र और वृष लग्नमें चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार शिशुरूप धारण करनेपर इन्हें श्रीवसुदेवजी इन्हींके संकेतानुसार गोकुल पहुँचा आये और वहीं नन्द-यशोदाके यहाँ ये पुत्ररूपमें पालित हुए। वहाँ रहकर इन्होंने बालकपनमें ही अनेक अलौकिक चरित्र किये। मारनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी हुई पूतनाके प्राणोंको भी दूधके साथ खींच लिया। पालनेमें झूलते हुए दूध और दहीके बर्तनोंसे भरे एक बहुत बड़े छकड़ेको पैरोंके ठोकरसे उलट दिया और बवंडरके

रूपमें आकर इन्हें आकाशमें उड़ाकर ले जाते हुए तृणावर्त नामक दैत्यको गला घोंटकर मार डाला और उसका उद्धार कर दिया।

जब बालक श्रीकृष्ण चलने-फिरने लगे तो गोपियोंके घरोंमें घुस जाते और उनकी प्रसन्नताके लिये उनका दूध, दही और माखन ले-लेकर खा जाते, सखाओं तथा बंदरोंको लुटा देते तथा अन्य कई प्रकारका बालचापल्य करके उन्हें रिझाते तथा खिझाते। जब वे शिकायत लेकर यशोदा मैयाके पास आतीं तो अनेक प्रकारकी चातुर्यपूर्ण बातें कहकर उन्हें निरुत्तर कर देते।

एक दिन गोपबालकोंने आकर यशोदा मैयासे कहा कि 'कन्हैयाने मिट्टी खायी है।' मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे? तूने मिट्टी क्यों खायी?' भगवान् बोले—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है। विश्वास न हो तो मेरा मुख देख ले।' फिर इन्होंने माताको अपने मुखके अन्दर त्रिलोकीका दर्शन कराया, किंतु मातापर इनके इस अलौकिक प्रभावका संस्कार अधिक देरतक न ठहरा। एक दिन माताने इनकी चपलताके कारण इन्हें ऊखलसे बाँध दिया और इन्होंने ऊखलसे बँधे-बँधे ही यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ डाला और कुबेरपुत्र नलकूबर तथा मणिग्रीवका उद्धार किया। जब श्रीकृष्ण, बलराम कुछ बड़े हुए तब वे बछड़ोंको चराने वनमें जाने और वहाँ गोपबालकोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करने लगे। वहाँ इन्होंने क्रमशः बछड़े और बगुलेका रूप बनाकर आये हुए वत्सासुर और बकासुर नामक दैत्योंका तथा अजगरका वेष बनाकर आये हुए अघासुरका उद्धार किया।

एक बार भगवान् जब वनमें बछड़े चरा रहे थे तो ब्रह्माजीने भगवान्‌की महिमा देखनेके लिये बछड़ों और गोपबालकोंको ले जाकर कहीं छिपा दिया। श्रीकृष्णने यह देखकर स्वयं उन सारे बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण कर लिया और सालभर

इस प्रकार अनेकरूप होकर रहे। ब्रह्माजी इस लीलाको देखकर बहुत ही चकित हुए और उन्होंने क्षमा-याचना करके सब बछड़ों तथा गोपबालकोंको लौटा दिया।

जब श्रीकृष्ण छः-सात वर्षके हुए तो ये नन्दजीके आज्ञानुसार गौओंको चराने वनमें जाने लगे। इन्हीं दिनों धेनुकासुर नामक दैत्य गदहेका रूप बनाकर श्रीकृष्णको मारने आया। उसकी भी वही दशा हुई जो इसके पूर्व अन्य दैत्योंकी हुई थी। उन दिनों कालिय नामका महान् विषधर सर्प यमुनाजीमें रहता था, जिसके कारण यमुनाजीका जल विषैला हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीमें प्रवेशकर उस सर्पके साथ युद्ध किया और उसका शासन करके उसको वहाँसे निकाल दिया। रातको जब समस्त गोकुलवासी यमुनाके तटपर सोये हुए थे, वनमें सहसा भयानक आग लगी, जिसने उन सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया। भगवान्ने उनका यह कष्ट देखकर उस अग्निको पी लिया और इस प्रकार अपने आश्रितजनोंकी रक्षा की।

एक बार सब गोपगण गायोंको चरानेके लिये एक मूँजके वनमें घुस गये। वहाँ भी दैवयोगसे आग लग गयी, जिसके कारण समस्त गोपगण तथा गायें व्याकुल हो गयीं। भगवान्ने पुनः उस अग्निको पीकर गौओं तथा गोपोंकी रक्षा की।

एक बार कुछ गोप-कन्याओंने भगवान् श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अगहनके महीनेमें कात्यायनीदेवीका व्रत किया। एक दिन जब वे वस्त्रोंको तटपर रखकर यमुनाजीमें नग्न होकर स्नान कर रही थीं तो भगवान् उन्हें शिक्षा देनेके लिये उनके वस्त्रोंको लेकर कदम्बपर जा बैठे। बड़े अनुनय-विनयके बाद उनके वस्त्रोंको लौटाया और उनके मनोरथ पूर्ण करनेका उन्हें वरदान दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी मधुर मुरली बजाते कि गोपबालाएँ तथा व्रजके सभी प्राणी उसे सुनकर मुग्ध हो जाते। एक बार जब गोपगण भगवान् श्रीकृष्णके साथ वनमें गौएँ चरा रहे थे तो उन्हें बड़ी भूख लगी। पास ही कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान्ने गोपोंसे कहा कि तुम उन ब्राह्मणोंके पास चले जाओ और उनसे हमारा नाम लेकर अन्न माँगो। गोपोंने वैसा ही किया, किंतु ब्राह्मणोंने उनकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया। तब भगवान्ने गोपोंको उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास भेजा और वे भगवान्का नाम सुनते ही अधीर होकर वहाँ दौड़ी आयीं और साथमें बहुत-सा भोजनका सामान लेती आयीं। पीछेसे जब उनके पतियोंको यह बात मालूम हुई तो वे मन-ही-मन अपनी पत्नियोंकी भक्तिकी सराहना करने और अपनेको धिक्कारने लगे।

गोपगण प्रतिवर्ष इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये एक बड़ा भारी यज्ञ किया करते थे। भगवान्ने इसके बदलेमें गोपोंसे गौओं, ब्राह्मणों और गोवर्धन पर्वतकी पूजा करनेके लिये प्रेरणा की और स्वयं एक दूसरा रूप धारणकर गोवर्धन पर्वतके अभिमानी देवताके रूपमें पूजाको स्वीकार किया। जब इन्द्रने यह देखा तो वे अत्यन्त कुपित हुए और गोपोंको दण्ड देनेके लिये उन्होंने प्रलयकालकी-सी वर्षा बरसानेका आयोजन किया। भगवान्ने उस प्रलयकारी वर्षासे गोपोंकी रक्षा करनेके लिये लीलासे ही गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और सात दिनतक उसे उसी प्रकार उठाये रखा तथा इस प्रकार इन्द्रके दर्पको चूर्ण किया।

गोवर्धन धारण करनेके बाद स्वर्गसे इन्द्र और गोलोकसे कामधेनु—श्रीकृष्णके पास आये। इन्द्रने क्षमा-प्रार्थना की। कामधेनुने अपने दूधसे और इन्द्रने ऐरावत हाथीकी सूँड़से निकले

हुए आकाशगंगाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उनका नाम 'गोविन्द' रखा।

एक बार नन्दजी रात्रिके समय यमुनाजीमें स्नान कर रहे थे, उस समय एक वरुणका अनुचर उन्हें उठाकर वरुणलोकमें ले गया। जब भगवान्‌को यह मालूम हुआ तो वे स्वयं वरुणलोकमें जाकर नन्दजीको वहाँसे ले आये। नन्दजीने जब वहाँके वैभव और श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन अपने साथियोंसे किया तो उन लोगोंको भगवान्‌के वैकुण्ठधामका दर्शन करनेकी बड़ी उत्कट अभिलाषा हुई। उनकी अभिलाषाको जानकर भगवान्‌ने उन्हें अपने प्रकृतिसे पर ब्रह्मस्वरूपका और वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया।

इसके बाद भगवान्‌ने कान्तभावसे भजनेवाली गोपियोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तथा कामदेवका मद चूर्ण करनेके लिये अलौकिक रासक्रीडा की। भगवान्‌की मुरली सुनकर गोपियाँ शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिको रासमण्डलमें भगवान्‌के पास पहुँचीं, बीचमें भगवान् अन्तर्धान हो गये। फिर प्रकट हुए। तदनन्तर एक-एक गोपीके बीचमें एक-एक स्वरूप धारण करके भगवान्‌ने दिव्य रासलीला की।

एक बार नन्दादि गोपगण देवाधिदेव महादेवकी पूजाके लिये अम्बिकावनको गये हुए थे। वहाँ रात्रिको एक अजगर सोये हुए नन्दबाबाको निगलने लगा। उनके रोनेकी आवाज सुनकर भगवान् जागे और उन्होंने उस अजगरको पैरोंसे ठुकराया। भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श पाते ही वह विद्याधरके रूपमें परिवर्तित हो गया और भगवान्‌की स्तुति करता हुआ अपने लोकको चला गया। ऋषियोंका अपराध करनेसे उसे सर्पकी योनि प्राप्त हुई थी और भगवान्‌की कृपासे वह उस योनिसे छूटकर अपने असली स्वरूपको प्राप्त हो गया।

एक बार भगवान् वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे, उस समय शंखचूड नामक कुबेरका अनुचर गोपियोंके एक टोलेको उठाकर ले गया। भगवान्ने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके मस्तकपरसे उसकी मणिको निकाल लिया।

इस बीचमें अरिष्टासुर नामक दैत्य बैलका रूप धारण कर व्रजमें आया। भगवान्ने उसे बात-की-बातमें मारकर अपने धामको पहुँचा दिया। तब कंसने केशी नामक दैत्यको भेजा, जो घोड़ेका रूप धरकर आया; किन्तु उसकी भी वही गति हुई।

एक बार भगवान् ग्वालबालोंके साथ चोरोंका खेल खेल रहे थे। कुछ ग्वाल चोर बन गये, कुछ भेड़े बन गये और कुछ रखवाले बनकर उनकी चोरोंसे रक्षा करने लगे। इतनेमें व्योमासुर नामक दैत्य आया और वह भी गोपवेषमें चोर बनकर भेड़े बने हुए गोपालोंको चुरा-चुराकर एक पर्वतकी गुफामें ले जाकर रखने लगा। भगवान्को जब यह पता लगा तो उन्होंने मायासे गोप बने हुए दैत्यको खूब मारा और उसके प्राणोंको हर लिया तथा छिपाकर रखे हुए गोपबालकोंको गुफामेंसे बाहर निकाला।

इधर कंसने मथुरामें श्रीकृष्ण-बलरामको मारनेके उद्देश्यसे धनुषयज्ञका आयोजन किया और उन्हें बुलानेके लिये अक्रूरजीको भेजा। अक्रूरजी जब श्रीकृष्ण-बलरामको लेकर मथुरा जाने लगे तो गोपियाँ विरह-दुःखसे अत्यन्त कातर होकर रोने लगीं और उनके रथके पीछे-पीछे चलने लगीं। भगवान्ने किसी प्रकार समाश्वासन देकर उन्हें लौटाया। वे भी भगवान्के लौटनेकी आशासे प्राण धारण करती हुई व्रजमें रहने लगीं। मथुरा पहुँचनेके पूर्व भगवान्ने यमुनातटपर विश्राम किया। अक्रूरजीने रथसे उतरकर स्नानके लिये यमुनाजीके अंदर डुबकी लगायी तो उन्होंने जलके भीतर श्रीकृष्णको देखा; उन्होंने जलसे बाहर

निकलकर रथकी ओर देखा तो वहाँ भी श्रीकृष्ण-बलरामको पूर्ववत् बैठे पाया। यह लीला देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ और वे गद्‌गद होकर भगवान्‌की 'स्तुति' करने लगे।

मथुरा पहुँचनेपर भगवान्‌ने अक्रूरजीको पहले भेज दिया और स्वयं पीछेसे गोपोंके साथ नगरीमें प्रवेश किया। नगरीमें उनका बड़ा स्वागत हुआ। रास्तेमें भगवान्‌ने सुदामा मालीकी पूजा स्वीकार की, त्रिवक्रा (कुब्जा) नामक कंसकी दासीका कूबड़ दूर किया और उसके घर आनेका वचन दिया। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर भगवान्‌ने उस धनुषको देखा जिसके निमित्तसे उस यज्ञका आयोजन किया गया था और सब लोगोंके देखते-देखते उसे लीलासे ही तोड़ डाला। रक्षकोंने जब भगवान्‌को ललकारा तो उनको भी मार डाला। दूसरे दिन भगवान् फिर रंगमण्डपमें मल्लयुद्ध देखनेके लिये गये। द्वारके सामने कुबलयापीड नामका मतवाला हाथी खड़ा था, उसने महावतके इशारेसे श्रीकृष्णपर आक्रमण किया। श्रीकृष्णने लीलासे ही उसके दोनों दाँतोंको उखाड़ लिया और उन्हींके प्रहारसे हाथी तथा महावत दोनोंको मार डाला। फिर मण्डपमें प्रवेश करके चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लोंको पछाड़ा और अन्तमें सबके देखते-देखते छलाँग मारकर कंसके मंचपर जा कूदे और उसे केश पकड़कर सिंहासनके नीचे ढकेल दिया और बात-की-बातमें उस महाबलीका काम तमाम कर डाला। इसके बाद विधिपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी और उसके पिता उग्रसेनको कारागारसे मुक्त करके उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं कारागारमें अपने माता-पिता वसुदेव-देवकीसे मिलकर उनका बन्धन छुड़ाया और उन्हींके पास सुखपूर्वक रहने लगे।

वसुदेवजीने भगवान्‌का विधिवत् यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और फिर उन्होंने उज्जयिनीमें गुरु सान्दीपनिके यहाँ वेद-वेदांगकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिया। वहीं उनकी सुदामा ब्राह्मणसे मित्रता हुई। बहुत थोड़े समयमें गुरुकुलकी शिक्षा समाप्त कर चौदह विद्या और चौंसठ कलाओंमें निपुण होकर भगवान् जब वापस आने लगे तो उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। गुरुने अपने पत्नीसे सलाह करके यह कहा कि 'हमारा एक पुत्र प्रभासक्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसीको वापस ला दो।' भगवान्‌ने यमपुरीमें जाकर वहाँसे गुरुपुत्रको ला दिया और गुरुकी आज्ञा और आशीर्वाद पाकर वे घर लौट आये।

इसके बाद भगवान्‌ने गोपियोंकी सुधि लेने तथा अपने प्रिय सखा उद्धवका ज्ञानाभिमान दूर करके उन्हें प्रेम-मार्गमें दीक्षित करने और गोपी-प्रेमका माहात्म्य बतलानेके लिये व्रजमें भेजा। वहाँ उन्होंने प्रेममूर्ति विरहिणी व्रजांगनाओंकी जो दशा देखी, उससे उनके ज्ञानका गर्व गल गया और वे गोपियोंको प्रबोध करनेका हौसला भूलकर उलटे गोपियोंके दास बन गये और उनकी चरणधूलिमें लोटकर अपनेको कृतार्थ मानने लगे। इसके अनन्तर भगवान् अपने वचनको पूरा करनेके लिये कुब्जाके घर गये और उसके प्रेमका सम्मान किया। फिर वे अक्रूरजीके घर गये और उन्हें पाण्डवोंका संवाद लानेके लिये हस्तिनापुर भेजा।

इधर कंसकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उसके श्वशुर मगधराज जरासन्धने सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा नगरीपर चढ़ाई की, किन्तु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर लौट जाना पड़ा। अठारहवीं बार वह फिर सेना बटोरकर चढ़ाई करनेहीवाला था कि इस बीचमें कालयवन नामक

यवनदेशके राजाने तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा नगरीपर धावा बोल दिया। इस प्रकार दोहरा आक्रमण देखकर व्यर्थके नरसंहारको रोकनेके लिये भगवान्ने समुद्र-तटपर जाकर एक नयी नगरी बसाने और मथुरावासियोंको वहाँ पहुँचाकर फिर यवनोंके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्की आज्ञासे विश्वकर्माने समुद्रके अंदर द्वारिका नामकी एक विशाल नगरीका निर्माण किया। समस्त नगरवासियोंको युक्तिसे वहाँ पहुँचाकर भगवान् स्वयं बिना कोई आयुध लिये ही नगरसे बाहर निकल पड़े। उन्हें इस प्रकार पैदल ही नगरसे बाहर जाते देखकर कालयवनने भी पैदल ही उनका पीछा किया। भगवान् दौड़ते-दौड़ते एक गुफामें घुस गये और वहाँ सोये हुए मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्दके द्वारा बिना ही परिश्रम उसे मरवा डाला। फिर मुचुकुन्दको अपने दिव्य दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। श्रीकृष्णने वहाँसे लौटकर अकेले ही यवनोंकी उस विपुल सेनाका संहार किया और वहाँसे द्वारकाको जानेकी तैयारीमें ही थे कि इतनेमें ही जरासन्धने पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापर चढ़ाई की। अब तो भगवान्ने वहाँसे भागना ही उचित समझा और भयभीत होकर भागनेका-सा नाट्य करके द्वारका चले आये। तभीसे भक्तलोग उन्हें 'रणछोड़' नामसे पुकारने लगे। जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर वापस अपनी राजधानीको चला गया।

इसके बाद भगवान्ने साक्षात् भगवती लक्ष्मीजीकी कलारूपा देवी रुक्मिणीके साथ विवाह किया और विरोधी सेनाका संहार किया। रुक्मिणीका भाई रुक्मी भी रुक्मिणीके अपहरणको न सहकर एक अक्षौहिणी सेना लेकर भगवान्के पीछे दौड़ा; किंतु भगवान्ने उसकी सेनाका बात-की-बातमें विध्वंस कर डाला और रुक्मीको भी पकड़कर केशहीन एवं कुरूप करके छोड़

दिया। देवी रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ, जो साक्षात् कामदेवका अवतार था और रूप-गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही प्रतिमूर्ति था।

एक बार स्यमन्तक मणिको ढूँढ़ते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ऋक्षराज जाम्बवान्के पास पहुँचे और उस मणिके लिये उनसे युद्ध किया। जाम्बवान् उनके बलको देखकर यह समझ गये कि मेरे इष्टदेव राम ही इस रूपमें मेरे सामने उपस्थित हुए हैं और अत्यन्त भक्तिभावसे अपनी कन्या जाम्बवतीके साथ उस मणिको भगवान्के भेंट कर दिया। भगवान्ने उस मणिको ले जाकर उसके मालिक सत्राजित् यादवको दे दिया और सत्राजित् यादवने इस उपकारके बदलेमें अपनी कन्या सत्यभामाके साथ भगवान्का विवाह कर दिया और उस मणिको भी दहेजमें दे दिया। भगवान्ने सत्यभामाको तो स्वीकार कर लिया; किंतु मणि लौटा दी। ये सत्यभामा भगवान्की अत्यन्त कृपापात्र महिषी थीं।

रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवतीके अतिरिक्त भगवान्की पाँच पटरानियाँ और थीं जिनके नाम थे—कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती, लक्ष्मणा और भद्रा। इनमेंसे कालिन्दीने तपस्या करके भगवान्को प्राप्त किया, मित्रविन्दाको भगवान् रुक्मिणीकी भाँति हरण करके लाये, नग्नजित्की कन्या सत्याको शुल्करूपमें सात उद्दण्ड बैलोंको एक साथ नाथकर लाये, भद्रासे उसके बान्धवोंके आग्रह करनेपर विवाह किया और भद्रदेशकी राजकन्या लक्ष्मणाको भगवान् अकेले ही स्वयंवरमें सब राजाओंका तिरस्कार करके हर ले आये।

इसके बाद भगवान्ने इन्द्रकी प्रार्थनापर भौमासुर अथवा नरकासुर नामक दैत्यकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुरपर चढ़ाई की और उसका वध करके उसके स्थानपर उसके पुत्र भगदत्तको

अभिषिक्त किया। उस भौमासुरके यहाँ नाना देशके राजाओंसे हरण करके लायी हुई सोलह हजार एक सौ कन्याएँ थीं। उन्होंने भगवान्‌के दर्शन कर मन-ही-मन उन्हें पतिरूपमें वरण कर लिया और भगवान्‌ने भी उनका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उन्हें द्वारिका भेज दिया। भौमासुर इन्द्रकी माता अदितिके कुण्डल हरण कर लाया था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रलोकमें जाकर इन्द्रकी माताको वापस दे आये और वहाँसे लौटते समय इन्द्रादि देवताओंको जीतकर सत्यभामाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये पारिजातका वृक्ष अपने साथ लेते आये और उसे सत्यभामाके महलोंके पास लगा दिया।

द्वारिकामें लौटकर भगवान्‌ने उन सोलह हजार एक सौ कन्याओंके साथ एक ही समय उतने ही रूप धारणकर अलग-अलग विवाह किया और उसी प्रकार लक्ष्मीकी अंशरूपा उन स्त्रियोंके साथ अलग-अलग रहने लगे और वे सब भी सेवाके द्वारा उन्हें संतुष्ट करने लगीं।

शोणितपुरके राजा, महाभागवत बलिके पुत्र बाणासुरकी कन्या ऊषाने एक बार स्वप्नमें प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धको देखा और उसी समयसे वह उन्हें पतिरूपमें मानने लगी। उसने युक्तिसे एक बार उन्हें अपने महलोंमें बुलाया और उन्हें बड़े ही सुखपूर्वक वहीं अपने पास महलोंमें ही रख लिया। जब उसके पिताको इस बातकी खबर लगी तो वह बहुत रुष्ट हुआ और उसने अनिरुद्धको कैद कर लिया। जब यह संवाद श्रीकृष्णके पास पहुँचा तो वे बड़ी भारी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे। वहाँ उनका बाणासुरके साथ घमासान युद्ध हुआ। बाणासुर भगवान् शंकरका बड़ा भक्त था, अतः साक्षात् शंकर भी उसकी सहायताके लिये आये और उनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ कई दिनतक संग्राम

चला। अन्तमें भगवान् शंकरके अनुरोधसे श्रीकृष्णने उसकी भुजाओंको छेदनकर उसे अभय दे दिया और ऊषा तथा अनिरुद्धको साथ लेकर भगवान् अपनी राजधानीको लौट आये।

एक समय एक बगीचेमें खेलते हुए कुछ यादव-बालकोंको एक अन्धे कुएँमें एक पर्वताकार गिरगिट दिखायी दिया। उसे कुएँमेंसे निकालनेकी उन बालकोंने बहुत चेष्टा की, परंतु वे उस कार्यमें असफल रहे। तब वे श्रीकृष्णको वहाँ बुला लाये और उनके स्पर्शमात्रसे ही वह गिरगिटके रूपको त्यागकर देवरूप हो गया। वह राजा नृग था, जो भूलसे एक दान की हुई गौको दुबारा दान देनेके कारण उस नीच योनिको प्राप्त हुआ था।

एक बार करूषदेशके राजा पौण्ड्रकने 'असली वासुदेव मैं हूँ' ऐसा मानकर भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा और उनको युद्धके लिये ललकारा। उसने यह चुनौती अपने मित्र काशिराजके यहाँसे भेजी थी, अतः भगवान् श्रीकृष्णने उसकी चुनौतीको स्वीकारकर काशीनगरीपर चढ़ाई कर दी और मित्रसहित उस मिथ्या वासुदेवको मारकर वे द्वारिकाको लौट आये। इधर काशिराजका पुत्र सुदक्षिण अपने पिताके वधका बदला लेनेके लिये अभिचारविधिका प्रयोग करता हुआ अग्निकी आराधना करने लगा। विधिके पूर्ण होनेपर हवनकुण्डमेंसे एक अति भयानक अग्नि उत्पन्न हुई, जो दसों दिशाओंको जलाती हुई द्वारिकापर चढ़ दौड़ी। भगवान्ने उसे माहेश्वरी कृत्या जानकर उसका शमन करनेके लिये सुदर्शन-चक्रको आज्ञा दी। चक्रसे पीड़ित होकर वह कृत्या काशीको लौट गयी और उसने ऋत्विजोंसहित स्वयं सुदक्षिणको ही जला दिया। सुदर्शन-चक्र भी उसके पीछे-पीछे काशी गया और सारी नगरीको जलाकर वापस लौटा।

एक बार देवर्षि नारदजी 'भगवान् गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार रहते हैं।' यह देखनेकी इच्छासे द्वारिकामें गये। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सब जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थका यथायोग्य बर्ताव करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिके सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य भिन्न-भिन्न रूपोंमें विधिवत् करते थे, सभामें जानेके समय वे घरोंसे निकलते हुए अलग-अलग रूपमें दिखायी देते थे और फिर एकरूप होकर सभामें प्रवेश करते थे। यह सब देखकर नारदजी दंग रह गये और भगवान्‌की स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

भगवान् श्रीकृष्णकी दैनिकचर्या आदर्श थी। आप ब्राह्ममुहूर्तमें उठते, तदन्तर ध्यान करते, फिर स्नान-संध्यादिसे निवृत्त होकर हवन करते और गायत्रीका जाप करते। फिर तर्पण करके गुरुजनोंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करते। तत्पश्चात् सुन्दर सींगवाली तथा चाँदीसे मढ़े हुए खुरों तथा मोतीकी मालाएँ पहनी हुई, एक बारकी ब्यायी, दूधवाली बछड़ेसहित ८४,०१३ गौएँ प्रतिदिन दान करते।

महाराज युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञका उपक्रम किया। इसके लिये देशभरके राजाओंको जीतना आवश्यक था। उनमें सबसे बलवान् जरासंध था। उसे द्वन्द्वयुद्धके द्वारा जीतनेके अभिप्रायसे भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों ब्राह्मणका वेष बनाकर उसकी राजधानी गिरिव्रजमें गये। वहाँ भीमसेनके द्वारा जरासंधको मरवाकर भगवान्‌ने पाण्डवोंकी विजयका एक बड़ा भारी कण्टक दूर कर दिया और साथ ही उसके यहाँ जो बीस हजार आठ सौ राजा कैद थे, उन्हें मुक्ति दिलवाकर अपने-अपने राज्यमें भेज दिया।

इसके बाद राजसूय-यज्ञकी तैयारी हुई। भगवान्‌ने यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम स्वीकार किया। वहाँ सबसे पहले सभापतिका पूजन आवश्यक था। सभापतिके आसनके लिये सर्वसम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्ण चुने गये और तदनुसार धर्मराजने सर्वप्रथम उन्हींकी पूजा की तथा उनके त्रिलोकपावन चरणामृतको मस्तकपर चढ़ाया। उपस्थित सभी सदस्योंने जय-जयकार किया और देवताओंने पुष्पवृष्टि की। भगवान्‌के इस उत्कर्षको शिशुपाल नहीं सह सका और वह आवेशमें आकर उन्हें अनेक प्रकारके दुर्वचन कहने लगा। भगवान्‌ने चक्रसे उसके सिरको धड़से अलग कर दिया और सबके देखते-देखते उसकी देहमेंसे निकला हुआ जीवरूपी तेज भगवान्‌के अंदर प्रविष्ट हो गया।

शिशुपालका एक मित्र शाल्व नामका राजा था। वह अपने मित्रके वधका बदला लेनेके लिये अपना सौभ नामक विमान तथा बड़ी भारी सेना लेकर द्वारिका नगरीपर चढ़ दौड़ा। भगवान् उन दिनों हस्तिनापुर थे। वे अनिष्टकी शंकासे तुरंत द्वारिका चले आये। वहाँ आते ही उन्होंने शाल्वको युद्धके लिये ललकारा और गदासे उसके विमानको चूर-चूरकर चक्रसे उसके मस्तकका छेदन कर दिया।

शाल्वके मारे जानेपर शिशुपालका बड़ा भाई दन्तवक्त्र अकेला गदा हाथमें लेकर पैदल ही श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा। श्रीकृष्णने उसका भी गदाके प्रहारसे बात-की-बातमें काम तमाम कर दिया। शिशुपालकी भाँति उसके शरीरसे भी एक सूक्ष्म तेज निकलकर भगवान्‌के अंदर प्रवेश कर गया। इसके बाद उसका भाई विदूरथ युद्ध करने आया और भगवान्‌ने उसका भी मस्तक चक्रके द्वारा धड़से अलग कर दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि सुदामा भगवान्‌के गुरुभाई थे। ये अत्यन्त द्ररिद्र थे। आये दिन उपवास होता था, परन्तु ये इतने निःस्पृह थे कि किसीसे कुछ कहते-सुनते न थे। एक दिन लगातार कई उपवास होनेके कारण तंग आकर इनकी स्त्रीने इन्हें अपने बालसखा श्रीकृष्णके पास जानेकी प्रेरणा की। किसीसे कुछ माँगनेकी इच्छा न होनेपर भी भगवान्‌के दर्शनके लोभसे वे द्वारिका पहुँचे। वहाँ भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे इनका आदर-सत्कार किया और आते समय इनके बिना ही जाने इन्हें मालामाल कर दिया।

एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यादव परिवारके साथ पर्वस्नानके लिये कुरुक्षेत्र गये। वहाँ नन्दादि गोपगण भी आये थे। सब लोग चिरकालके बाद एक-दूसरेसे मिलकर बड़े ही प्रसन्न हुए। नन्द-यशोदा तथा गोपीजन तो श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर इतने प्रसन्न हुए मानो सूखे धानपर जल गिर गया हो।

वहीं सब ऋषि-महर्षि भी पधारे थे। भगवान्‌ने उनकी महिमा गायी। ऋषियोंने भगवान्‌का महत्त्व कहा। फिर वसुदेवजीने यज्ञ किया। तदनन्तर भगवान्‌ने अपने पिता वसुदेवजीको ज्ञान प्रदान किया।

एक बार गुरु सान्दीपनिकी गुरुदक्षिणाका वृत्तान्त स्मरण कर माता देवकीने अपने दोनों पुत्रोंके सामने यह इच्छा प्रकट की कि जिस प्रकार तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको लाकर अपने गुरुको दिया था, उसी प्रकार मैं भी कंसके द्वारा मारे हुए तुम्हारे छः भाइयोंको देखना चाहती हूँ। इसपर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों सुतललोकमें जाकर वहाँसे अपने छहों भाइयोंको ले आये और माताको सौंप दिया। माताने बड़े प्रेमसे उनका आलिंगन किया और उन्हें स्तन-पान कराया और फिर उनको विदा कर दिया।

मिथिलापुरीमें श्रुतदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह श्रीकृष्णका परम भक्त था। उस देशका राजा बहुलाश्व भी भगवान्‌की बड़ी भक्ति करता था। उन दोनोंपर ही कृपा करनेके लिये भगवान् एक बार मिथिलापुरी गये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान्‌के चरणोंपर गिरे और दोनोंने ही एक साथ अपने-अपने घर पधारनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान्‌ने दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको न जनाते हुए ही दो स्वरूप धारण करके एक ही साथ दोनोंके घर जाकर उनको कृतार्थ किया।

पाण्डवोंके साथ भगवान्‌का बड़ा ही स्नेहका सम्बन्ध था। ये सदा उनके हितचिन्तनमें लगे रहते थे।

द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए पाण्डवोंको भगवान्‌ने पहचान लिया और फिर वहीं पाण्डवोंको मणि, रत्न, गहने, स्वर्ण, वस्त्र, गृहसामग्री, दास-दासी, असंख्य रथ और हाथी-घोड़े देकर अतुलित ऐश्वर्यशाली बना दिया।

पाण्डव जब वनमें थे तो भगवान् उनसे मिलने गये। द्रौपदीने रो-रोकर अपनी दुःखकथा सुनायी। भगवान्‌ने वहीं कौरवकुलके नाशकी घोषणा कर दी और द्रौपदीको आश्वासन देकर वे वहाँसे विदा हो गये।

एक बार दुर्योधनने छलपूर्वक दुर्वासाजीको पाण्डवोंके पास भेजा। भगवान्‌ने वहाँ जाकर द्रौपदीकी बटलोईमेंसे एक पत्ता ढूँढ़ निकाला और उसे खाकर सारे विश्वको तृप्त कर दिया और इस तरह दुर्वासाके शापसे पाण्डवोंकी रक्षा की।

कौरवोंको समझानेके लिये भगवान् जब दूत बनकर हस्तिनापुर जाने लगे, तब एकान्तमें द्रौपदीने आकर उन्हें अपने खुले केश दिखलाये और दुःशासनके अत्याचारकी बात याद

दिलायी। भगवान्‌ने आश्वासन देकर उसे संतुष्ट किया। हस्तिनापुरकी राहमें ऋषियोंका एक समूह मिला और सब ऋषियोंने हस्तिनापुर जाकर भगवान्‌के भाषण सुननेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्‌की अनुमतिसे सबने वहाँ जाकर भगवान्‌का भाषण सुना।

कौरव-सभामें भगवान्‌ने नाना प्रकारकी युक्ति-प्रयुक्तियोंसे दुर्योधनको समझानेकी बहुत चेष्टा की; परंतु उसने भगवान्‌की एक न सुनी और छलसे भगवान्‌को कैद करना चाहा। तब भगवान्‌ने उसे डाँटकर अपना दिव्य तेजोमय विराट्‌रूप दिखलाया। भगवान्‌के प्रत्येक रोम-कूपसे सूर्यकी किरणें निकल रही थीं और उनके नेत्रों, नासिकाओं और कर्णोंसे आगकी लपटें! भगवान्‌के इस रूपको देखकर सब चौंधिया गये। द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपोधन ऋषियोंने भगवान्‌का यह स्वरूप देखा। फिर भगवान्‌ने विदुरके घर जाकर भोजन किया और वहाँसे लौट गये।

महाभारत-युद्धके लिये अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान्‌के पास पहुँचे। उनके इच्छानुसार भगवान्‌ने दुर्योधनको अपनी सेना और अर्जुनको अपनेको सौंपकर समदर्शिता और भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय दिया। महाभारत-युद्धमें भगवान्‌ने अर्जुनके सारथिका काम किया और पाण्डवोंकी ओरसे प्राय: सारे ही काम भगवान्‌ने अपनी सलाहसे करवाये। नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे, ऐन मौकोंपर मौतके मुँहसे अर्जुनको बचाया और अन्तमें कौरवोंका संहार करवाकर पाण्डवोंको विजयी बनाया। इसी महाभारत-युद्धके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य गीताका उपदेश दिया और विराट्‌रूप दिखलाया तथा अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमतत्त्वका निरूपण किया।

उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षित्‌को बचाया। भीष्मके द्वारा सबको ज्ञानका उपदेश करवाया। अश्वमेध-यज्ञमें पाण्डवोंकी सहायता की और अर्जुनको अनुगीताका उपदेश दिया।

तदनन्तर द्वारिकाको लौटते हुए रास्तेमें महर्षि उत्तंकपर कृपा की और उन्हें अपना विराट्‌रूप दिखलाकर कृतार्थ किया। द्वारिकामें अनेकों लीलाएँ कीं। गान्धारीके और ऋषियोंके शापसे यदुकुलका संहार हुआ। तदनन्तर व्याधके बाणको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने अपनी इच्छासे परम धामको प्रयाण किया! उस समय वहाँ ब्रह्माजी, भवानीसहित श्रीशंकरजी, इन्द्रादि तमाम देवता, प्रजापति, समस्त मुनि, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि आये और गान करते हुए भगवान्‌की लीलाका वर्णन करने लगे। पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और आकाश विमानोंकी कतारोंसे भर गया। भगवान् अपने दिव्य देहसे ऊपर उठते हुए सबके देखते-ही-देखते अपने परम धाममें प्रविष्ट हो गये। उन्हींके साथ-साथ सत्य, धर्म, धृति और कीर्ति भी चली गयीं। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता भगवान्‌की कीर्तिका बखान करते हुए अपने-अपने लोकोंको चले गये।

भक्तवर अर्जुन

गीताके पात्रोंमें दूसरा नम्बर अर्जुनका है। अर्जुन 'नर' ऋषिके अवतार और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी थे। ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र थे। अर्जुनमें स्वाभाविक ही इतने गुण थे कि जिनके कारण वे भगवान्‌के इतने प्रिय पात्र हो सके। उनका बल, रूप और लावण्य अपार था। शूरता, वीरता, सत्यवादिता, क्षमा, सरलता, प्रेम, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, बड़े भाईकी भक्ति, बुद्धि,

विद्या, इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, आलस्यहीनता, कर्मप्रवणता, शस्त्रज्ञान, शास्त्रज्ञान, दया, प्रेम, निश्चय, व्रतपरायणता, निर्मत्सरता और बहुमुखी अभिज्ञता आदि गुण इनके जीवनमें ओतप्रोत थे। इन्होंने द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। अपनी गुरुभक्तिसे द्रोणाचार्यको इन्होंने इतना प्रसन्न कर लिया था कि वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी न सिखाकर गुप्त-से-गुप्त अस्त्रोंका प्रयोग इन्हें सिखाते थे।

शिक्षा समाप्त होनेपर एक दिन गुरुने सबकी परीक्षा लेनी चाही। पेड़पर एक नकली पक्षीको बैठाकर उसीके सिरको निशाना बनाया गया। युधिष्ठिर आदि सबसे द्रोणाचार्यने पूछा कि तुमको क्या दीख रहा है। सबने कई चीजें बतलायीं। आखिर अर्जुनने कहा कि 'मुझको तो केवल पक्षीका सिर दीख रहा है।' द्रोणने आनन्दमें भरकर कहा—'बस, तुम बाण चलाओ। लक्ष्यका ध्यान इसी प्रकार करना चाहिये।'

एक बार द्रोणाचार्य अपने शिष्योंके साथ गंगाजी नहाने गये। जलमें उतरते ही एक मगरने उनकी जाँघ पकड़ ली। आचार्यने समर्थ होते हुए भी शिष्योंकी परीक्षाके लिये पुकारकर कहा—'इस मगरको मारकर कोई मेरी रक्षा करो।' द्रोणाचार्यकी बात पूरी होनेके पहले ही अर्जुनने पाँच बाण मारकर जलमें डूबे हुए मगरका काम तमाम कर दिया।

आचार्यकी प्रसन्नताके लिये ही उनके आज्ञानुसार अर्जुनने द्रुपदको जीतकर बंदीके रूपमें उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया था।

स्वयंवरमें द्रौपदीको अर्जुनने जीता था, परंतु माता कुन्तीके कथनानुसार पाँचों भाइयोंसे उनका विवाह हुआ। द्रौपदीको पूर्वजन्मका वरदान था, इसीसे ऐसा हुआ। द्रौपदीके सम्बन्धमें

पाँचों भाइयोंने यह नियम बना रखा था कि जिस समय एक भाई उनके पास रहे उस समय चारों भाइयोंमेंसे कोई भी उस कमरेमें न जाय और यदि कोई जाय तो उसे बारह वर्षका निर्वासन हो। एक बार द्रौपदीके महलमें महाराज युधिष्ठिर थे। उस समय एक दिन ब्राह्मणकी गायोंको चोरोंसे छुड़ानेके लिये अर्जुनको अस्त्र लेनेको अन्दर जाना पड़ा और युधिष्ठिरके समझानेपर भी अर्जुनने नियमानुसार बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार किया।

अर्जुन तीर्थोंमें घूमते रहे। इसी बीच नागकन्या उलूपी उन्हें मिली और मणिपुरमें राजकुमारी चित्रांगदासे उनका विवाह हुआ। एक बार अर्जुन ऐसे स्थानमें गये जहाँ पाँच तीर्थ थे, पर उनमें पाँच बड़े भारी ग्राह रहनेके कारण कोई वहाँ नहाता नहीं था। अर्जुन उन सरोवरोंमें नहाये और शापसे ग्राह बनी हुई पाँच अप्सराओंको शाप-मुक्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ इनका बड़ा प्रेम था। वे इनके साथ घूमते और जल-विहार किया करते थे। अग्निको तृप्त करनेके लिये इन्होंने खाण्डव-वनका दाह किया। वहीं अग्निके द्वारा इन्हें दिव्य रथ और गाण्डीव धनुषकी प्राप्ति हुई। वहीं इन्द्रने आकर इनसे वरदान माँगनेको कहा। अर्जुनने दिव्य अस्त्र माँगे और परम प्रेमी भगवान्ने इन्द्रसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे।'

वनमें महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे अर्जुनने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया, फिर इन्द्रके द्वारा बुलाये जानेपर ये स्वर्गमें गये। वहाँ इन्द्रने अपने आधे आसनपर बैठाकर इनका बड़ा सम्मान किया। वहीं इन्होंने गन्धर्वोंके द्वारा गान और नृत्यकी शिक्षा प्राप्त की।

स्वर्गमें उर्वशीने एकान्तमें अर्जुनके पास जाकर उनसे कामभिक्षा-की प्रार्थना की। अर्जुनने स्पष्ट कह दिया कि 'मैं दिक्पालोंको

साक्षी करके कहता हूँ कि जैसे कुन्ती, माद्री और देवी इन्द्राणी मेरी पूजनीया माताएँ हैं, वैसे ही आप भी हैं। मैं तो आपका पुत्र हूँ।' इसपर उर्वशीने कुपित होकर इन्हें एक सालतक नपुंसक होनेका शाप दे दिया। वही शाप अर्जुनके लिये वर हो गया और उसीके प्रभावसे वे सालभरतक कौरवोंसे छिपकर विराट-नगरमें बृहन्नलाके नामसे राजकुमारी उत्तराके नृत्य-गीतशिक्षक बनकर विराटके महलोंमें रह सके।

निवातकवचोंको मारकर अर्जुन स्वर्गसे लौटे और अपनी चिन्तामें व्याकुल धर्मराज, भीम आदि भाइयोंसे मिले। इन्द्रके सारथि मातलिके लौट जानेपर स्वर्गसे लाये हुए दिव्य रत्नाभूषणोंको अर्जुनने द्रौपदीको दिया।

अर्जुनने समस्त लोकपालोंको प्रसन्न करके उन सबसे नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे।

वनमें पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर उन्हें ईर्ष्यासे जलानेके लिये दुर्योधन रानियोंको साथ लेकर वनमें गये, वहाँ गन्धर्वोंने दुर्योधनको परास्त करके कैद कर लिया। कर्ण इत्यादि सब भाग गये। बचे हुए मन्त्रियोंने युधिष्ठिरके पास जाकर सबको छुड़ानेकी प्रार्थना की। दुर्योधनादिके कैद होनेकी बात सुनकर भीम बड़े प्रसन्न हुए। परंतु धर्मराजने कहा कि 'भाई! आपसमें हम सौ और पाँच हैं, पर दूसरोंके लिये हम एक सौ पाँच हैं। फिर कौरवकुलकी स्त्रियोंका अपमान तो हम किसी तरह नहीं सह सकते। तुम चारों भाई जाओ और सबको छुड़ा लाओ।' आज्ञा पाकर अर्जुन गये। गन्धर्वोंसे घोर युद्ध किया। अन्तमें चित्रसेनने अर्जुनको अपनी मित्रताका स्मरण दिलाकर उनसे प्रेम कर लिया और दुर्योधन आदि सबको छोड़ दिया।

अज्ञातवासके समय विराट-नगरमें अर्जुन हिजड़ेके रूपमें रहे और राजकुमारी उत्तराको नृत्य-गीतकी शिक्षा देने लगे। अन्तमें कौरवोंके आक्रमण करनेपर अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें ही उनको जीता और वीरोंके वस्त्राभूषण लाकर उत्तराको दिये। तदनन्तर महाभारत-युद्धकी तैयारी हुई और सब लोग युद्ध करनेके लिये कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठे हुए। वहाँ भगवान्‌की आज्ञासे भगवती परमशक्तिरूपिणी दुर्गाजीको प्रसन्न करके अर्जुनने उनसे विजयका वरदान प्राप्त किया। ठीक युद्धकी तैयारीके समय गुरुजनों, स्वजनों और सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनको सात्त्विक मोह हो गया और भगवान्‌ने उन्हें महान् अधिकारी समझकर गीताका उपदेश दिया और उसमें अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमयोगका रहस्य बतलाया तथा सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा दी। अर्जुनका मोह नष्ट हो गया। उन्होंने आज्ञा स्वीकार की और युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धमें भगवान्‌ने अर्जुनके रथके घोड़े ही नहीं हाँके, बल्कि एक प्रकारसे समस्त युद्धका संचालन किया और हर तरहसे पाण्डवोंकी खास करके अर्जुनकी रक्षा की।

जिस दिन अर्जुनने सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा की, उस रातको भगवान् सोये नहीं और चिन्ता करते-करते उन्होंने अपने सारथि दारुकसे यहाँतक कह डाला कि 'मैं अर्जुनके बिना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता। कल लोग देखेंगे कि मैं सब कौरवोंका विनाश कर दूँगा।' इसीसे पता चलता है कि अर्जुनका भगवान्‌में कितना प्रेम था और उस प्रेम-लीलामें भगवान् कहाँतक क्या-क्या करनेको तुल जाते थे।

दूसरे दिनके भयंकर युद्धमें भगवान्‌ने बड़े ही कौशलसे काम किया। थके हुए घोड़ोंको युद्धक्षेत्रमें ही भगवान्‌ने धोया और उनके घावोंको साफ किया और अन्तमें अपनी मायासे सूर्यास्तका अभिनय दिखलाकर अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करवायी और अर्जुनसे कहकर जयद्रथके सिरको बाणोंके द्वारा ऊपर-ही-ऊपर चलाकर जयद्रथके पिताके गोदमें गिरवाया और इस तरह एक ही साथ उसका भी संहार करवा दिया।

एक बार कर्णने एक बड़ा तीक्ष्ण बाण चलाया; उसकी नोकपर भयानक सर्प बैठा हुआ था। बाण छूटनेकी देर थी कि भगवान्‌ने घोड़ोंके घुटने टिकाकर रथके पहियोंको धरतीमें धँसा दिया। रथ नीचा हो गया और बाण निशानेपर न लगकर अर्जुनके मुकुटको गिराकर पार हो गया। इस तरह भगवान्‌ने अर्जुनकी रक्षा की।

महाभारत-युद्धके समाप्त होनेपर पाण्डवोंके अश्वमेध-यज्ञमें भगवान्‌ने अर्जुनकी बड़ी सहायता की और उसके बाद उन्हें अनुगीताका उपदेश दिया।

महाभारत-युद्धके पश्चात् छत्तीस वर्षतक पाण्डवोंके राज्य करनेपर भगवान्‌ने परमधामको प्रयाण किया। अर्जुन विलाप करते हुए धर्मराजके पास आये। तदनन्तर पाण्डवोंने भी हिमालयमें जाकर महाप्रस्थान किया।

श्रीमद्भगवद्गीताके विविध प्रसंग

[श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायका पद्यानुवाद]

[१]

(तर्ज लावनी—ताल कहरवा)

धर्मभूमि शुचि कुरुक्षेत्रमें युद्ध कामनासे एकत्र।
संजय! कहो, किया क्या मेरे और पाण्डुपुत्रोंने तत्र॥ १॥
देख पाण्डवी सेनाको तब वहाँ सुसज्जित व्यूहाकार।
गुरु द्रोणके जा समीप बोले दुर्योधन निम्न प्रकार॥ २॥
'श्रीमन् शिष्य धृष्टद्युम्नद्वारा सज्जित तव, व्यूहाकार।
गुरुवर! आप देखिये पाण्डव-सेनाको अब भली प्रकार॥ ३॥
इसमें भीमार्जुन-सम महाधनुर्धर युद्ध-कुशल अति शूर।
हैं युयुधान, विराट, महारथ द्रुपद अवनिपति बल भरपूर॥ ४॥
धृष्टकेतु, नृप चेकितान हैं, काशिराज बल-वीर्य-निधान।
पुरुजित्, कुन्तिभोज हैं, मानव-पुंगव-शैब्य महा बलवान्॥ ५॥
युधामन्यु, विक्रान्त, उत्तमौजा हैं अतिशय बलकी खान।
द्रौपदिसुत, अभिमन्यु सुभद्रातनय—महारथ सभी महान्॥ ६॥
द्विजवर! अब मेरी सेनाके प्रमुख नायकोंके भी नाम।
परिचयके हित बता रहा हूँ, जान लीजिये आप तमाम॥ ७॥
आप, पितामह भीष्म, कर्ण, रण-विजयी कृपाचार्य मतिमान।
अश्वत्थामा, सोमदत्त-सुत भूरिश्रवा, विकर्ण सुजान॥ ८॥
मेरे लिये त्यक्त-जीवन हैं, अन्य बहुतसे वीर महान्।
नाना-शस्त्र-सुसज्जित सारे युद्ध-विशारद नीति-निधान॥ ९॥

भीष्मपितामह-रक्षित अपना बल है अपर्याप्त, हो आप्त।
भीमसेनद्वारा अभिरक्षित भी है बल उनका पर्याप्त॥ १०॥
रणक्षेत्रमें अपने-अपने स्थानोंपर सुस्थित सब ओर।
रक्षा करें पितामहकी सब आप लगाकर पूरा जोर'॥ ११॥
तभी भीष्म कुरुवृद्ध प्रतापीने नृपको उपजाते हर्ष।
सिंहनाद कर उच्च स्वरसे फूँका शंख परम दुर्धर्ष॥ १२॥
तब तो बजने लगे शंख-भेरी-पणवानक-गोमुख घोर।
सहसा एक साथ छाया उनका अति तुमुल शब्द सब ओर॥ १३॥
श्वेत अश्वयुत रथ विचित्रमें स्थित माधव-अर्जुन अभिराम।
लगे बजाने दोनों अपने-अपने दिव्य शंख अविराम॥ १४॥
हरिने पांचजन्यको, ले अर्जुनने देवदत्त रण-धीर।
फूँका भीम भीमकर्माने शंख महान् पौण्ड्र गम्भीर॥ १५॥
नृपति युधिष्ठिर कुन्तिपुत्रने फूँका शंख अनन्तविजय।
फूँके सहदेव-नकुलने मणिपुष्पक-सुघोष निर्भय॥ १६॥
श्रेष्ठ धनुर्धर काशिराज नृप, सु-महारथी शिखण्डी वीर।
धृष्टद्युम्न, विराट नृपति, नित अपराजित सात्यकी सुधीर॥ १७॥
द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों सुत, महारथी अभिमन्यु सुजान।
पृथ्वीपते! सभीने फूँके पृथक्-पृथक् निज शंख महान्॥ १८॥
शंखघोष वह कौरवदलके करके हृदय विदीर्ण सुघोर।
छाया, लगा गुँजाने वह नभ-भूको तुमुल शब्द सब ओर॥ १९॥
देख व्यवस्थित कौरवदलको वीर कपिध्वजने, महिपाल।
शस्त्रपातके ठीक समयपर उठा लिया निज धनुष विशाल॥ २०॥
हृषीकेशसे कहे वचन यों—'अच्युत! मेरा रथ तत्काल।
ले जा खड़ा कीजिये दोनों दलके बीच अभी नँदलाल॥ २१॥

यहाँ उपस्थित युद्धार्थी जो योद्धा सज सब रणके साज।
हरि! उन सबको देखूँगा मैं, रणमें जिनसे लड़ना आज॥ २२॥
आये हैं जो दुर्मति दुर्योधनके हितकामी बलवान्।
रणमें लड़नेको उद्यत, उनको मैं देखूँगा भगवान्'॥ २३॥
अर्जुनके यों कहनेपर वे इन्द्रिय-स्वामी श्रीभगवन्त।
दोनों दलों बीच ले पहुँचे उत्तम रथको स्वयं तुरंत॥ २४॥
जहाँ भीष्म-द्रोणादि वीर थे, जहाँ अन्य थे भूप अपार।
बोले प्रभु—'देखो अब इनको भली-भाँति तुम कुन्ति-कुमार'॥ २५॥
देखे वहाँ पार्थने पिता-पितामह स्थित आचार्य महान्।
मामा, भाई, पुत्र-पौत्र, सब स्वजन तथा मित्रादि सुजान॥ २६॥
श्वसुर और सब सुहृदजनोंको देख उभय सेनामें पार्थ।
समझे, युद्धस्थित जितने हैं, सब अपने ही बन्धु यथार्थ॥ २७॥
हो आविष्ट परम करुणासे बोले वचन पार्थ सविषाद।
'कृष्ण! देख इन सब स्वजनोंको युद्धोत्सुक करते रणनाद॥ २८॥
शिथिल हुए जाते अँग मेरे, सूख रहा मुख हो अति म्लान।
काँप रहा सारा शरीर, हो रहा तथा रोमांच महान्॥ २९॥
धनु गाण्डीव गिर रहा करसे, जलने लगी त्वचा अविराम।
खड़ा न रह सकता, मन मेरा हुआ भ्रमित-सा है घनश्याम॥ ३०॥
लक्षण भी विपरीत दीखते अब हे केशव! सभी प्रकार।
नहीं देखता मैं कुछ भी कल्याण, यहाँ स्वजनोंको मार॥ ३१॥
नहीं चाहता विजय, राज्य मैं, नहीं चाहता सुख-सम्भार।
हमको राज्य, भोग, जीवनसे क्या मतलब गोविन्द उदार॥ ३२॥
जिनके लिये राज्य-भोगोंकी होती हृदय सुखोंकी चाह।
वे ही रणमें खड़े, छोड़कर प्राणोंकी, धनकी परवाह॥ ३३॥

ताऊ, चाचे, पुत्र, पितामह—छोटे-बड़े, पूज्य आचार्य।
मामा, साले, श्वसुर, पौत्र, सम्बन्धी अन्य सभी हे आर्य॥ ३४॥
मधुसूदन! ये मारें मुझको, मैं न करूँगा इनपर घात।
राज्य मिले या त्रिभुवनका, फिर तुच्छ महीकी कैसी बात॥ ३५॥
अहो जनार्दन! होगा क्या हित इन सब बन्धु-जनोंको मार।
बध इन आततायियोंका भी देगा हमें पाप ही सार॥ ३६॥
अतः बन्धु, धृतराष्ट्र-सुतोंका वध करना न हमें उपयुक्त।
माधव! स्वजनोंके वधसे हम कैसे होंगे सुख-संयुक्त॥ ३७॥
लोभविवश ये भ्रष्टचित्त हो यद्यपि देख न पाते आप।
कुल-विनाश-कृत दोष और यह मित्र-द्रोह-जनित अति पाप॥ ३८॥
हमें जनार्दन! है पर इस कुलनाश-जनित पातकका ज्ञान।
तब फिर इससे बचनेका हम क्यों न विचार करें? भगवान्॥ ३९॥
कुलके क्षयसे सत्य-सनातन कुलधर्मोंका होता नाश।
धर्मनाशसे सारे कुलमें होता सहज अधर्म-विकास॥ ४०॥
हो जाती अधर्मयुत कुलकी स्त्रियाँ सुदूषित कृष्ण! महान।
वार्ष्णेय! वे जनती दूषित स्त्रियाँ वर्णसंकर सन्तान॥ ४१॥
कुलका कुलघातकका संकर करवाता नरकोंमें बास।
होता पतन पितृगणका भी पिण्ड-उदक होनेपर नाश॥ ४२॥
कुलघातकके वर्णसंकरी इन दोषोंके ही परिणाम।
जातिधर्म कुलधर्म सनातन हो जाते विनष्ट हे श्याम॥ ४३॥
सुनते हैं हम हो जाता है जिनके कुलधर्मोंका नाश।
होता अनियत दीर्घकालतक उनका निश्चय नरक-निवास॥ ४४॥
अहो! शोक! हम आज जा रहे निश्चय करने पाप महान।
'स्वजनोंके वधको उद्यत, हो विवश राज्य सुख लोभ अमान॥ ४५॥

मुझ अशस्त्र प्रतिकार-रहितको यदि वे रणमें डालें मार।
शस्त्र हाथ ले कौरव, तो होगा मेरा कल्याण अपार'॥ ४६॥
यों कहकर अर्जुन रणमें हो शोकाकुल मन तज शर-चाप।
बैठ गये हटकर वे रथके पिछले भाग मध्य चुपचाप॥ ४७॥

[२]

(राग अडाणा—ताल त्रिताल)

उठो! कायरता छोड़ो वीर।
हृदय हिला दो शत्रु-पक्षका जूझो, रण रणधीर!
कूद पड़ो, बस, धर्मयुद्धमें, लड़ो धर्मके काज।
मर जाओगे स्वर्ग मिलेगा, जयसे भूतल-राज॥
यही समय है—शौर्यवीर्यका पूरा करो प्रकाश।
पापी-दलको मार भगा दो, करो पापका नाश॥

[३]

(राग जोगिया—ताल त्रिताल)

अपना धर्म देखकर भी तू इस अधीरताको मत धार।
धर्मयुद्ध सम और नहीं कुछ क्षत्रियको है जगमें सार॥
स्वयं-प्राप्त यह खुला हुआ है युद्ध-सुरूप स्वर्गका द्वार।
भाग्यवान क्षत्रिय ही इसको पाते हैं, हे पाण्डुकुमार!
मर जानेसे स्वर्ग मिलेगा, जय होनेसे भूतल-राज।
इससे निश्चय ही भारत! तू हो जा खड़ा युद्धको आज॥
विजय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःख सभीको जान समान।
फिर प्रवृत्त हो जा तू रणमें, पाप नहीं होगा मतिमान॥

[४]

(तर्ज लावनी दूसरी—ताल कहरवा)

जो तुम रणसे मुख मोड़ोगे, जो विषाद उर लाओगे।
तो क्षत्रियके परम धर्मसे, निश्चय ही गिर जाओगे॥
सुन-सुनकर कुवाच्य अरिदलके तुम अतिशय पछताओगे।
पुनः प्रकृतिवश शस्त्र उठाकर रणस्थलीमें आओगे॥
पर होगा अतिदुःख और सहना होगा दुस्सह अपमान।
इससे, उठो इसी क्षण सत्वर धनुष-बाण लेकर मतिमान॥

[५]

(राग परज—ताल कहरवा)

विषमस्थलमें उपजा कैसे तुममें अर्जुन! यह व्यामोह।
जो अनार्य-सेवित, अस्वर्गद, है अकीर्तिकारी संदोह॥
नहीं तुम्हारे योग्य नपुंसकता यह, करो न तुम स्वीकार।
तुच्छ हृदयकी दुर्बलता तज, उठो, युद्ध कर अंगीकार॥

(गीता २। २-३)

× × × ×

अप्रमेय अविनाशी है यह हे भारत! जीवात्मा नित्य।
युद्ध करो, तुम जान सभी उसके देहोंको अथिर अनित्य॥
मरने और मारनेवाला आत्माको जो लेता मान।
नहीं मारता, न मारा जाता यह, वे इससे हैं अनजान॥

(गीता २। १८-१९)

× × × ×

अपना धर्म देखकर भी मत होओ तुम कम्पित, हे पार्थ!
नहीं श्रेय कुछ भी क्षत्रियके लिये युद्धके सिवा यथार्थ॥

खुला तुम्हारे लिये वीरवर! स्वर्गद्वार यह अपने-आप।
सुख सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते ऐसा युद्ध अपाप॥
अगर करोगे नहीं कदाचित् तुम यह परम धर्म-संग्राम।
खो करके निज धर्म, सुयश, तुम लोगे पाप बटोर तमाम॥
तब फिर गायेंगे जगमें सब सदा तुम्हारी अमिट अकीर्ति।
सम्मानितके लिये मरणसे भी बढ़कर होती अपकीर्ति॥
महारथी मानेंगे तुमको भयवश हुए समर उपराम।
जिनमें हो बहुमान्य, उन्हींमें होगा तुच्छ तुम्हारा नाम॥
निन्दा शत्रु करेंगे तव सामर्थ्य-शक्तिकी कुवचन बोल।
उससे बढ़कर होगा क्या फिर दुःख तुम्हारे लिये अतोल॥
मर जानेपर स्वर्ग मिलेगा, जीतोगे पाओगे राज।
उठो अतः कौन्तेय! युद्धका मनमें करके निश्चय आज॥
विजय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख मानकर एक समान।
फिर रणमें प्रवृत्त होनेपर पाप न होगा रंचक मान॥

(गीता २। ३१—३८)

× × × ×

तज आसक्ति, योगस्थित होकर करो धनंजय कर्म विनीत।
हो समबुद्धि असिद्धि-सिद्धिमें फल-समत्व ही योग पुनीत॥

(गीता २। ४८)

[६]

(राग ईमन—ताल त्रिताल)

भारत! अब ज्ञानखड्ग लो धार !
हृदय-स्थित अज्ञान-जनित संशयका करो सँहार॥
हो स्थित नित्य समत्व-योगमें, छोड़ो अन्य विचार।
उठो, उठो रणमें तत्पर हो, करो वीर-व्यवहार॥

[७]

(तर्ज लावनी—ताल कहरवा)

कर्मेन्द्रियाँ रोक जो तजता बाहर भोगोंका व्यवहार।
मनसे करता भोग मूढ़ सो कहलाता है मिथ्याचार॥

(गीता ३। ६)

[८]

(राग परज—ताल कहरवा)

मुझमें चित्त जोड़ सब कर्मोंका कर मुझमें ही संन्यास।
युद्ध करो तुम, तजकर ममता, कामज्वर, भोगोंकी आस॥

(गीता ३। ३०)

[९]

(राग तोड़ी—ताल मूल)

सुर-ऋषि-पितर-मनुज सब जीवोंको उनका हिस्सा देकर।
बचा हुआ जो खाता, वह हो पापमुक्त पाता ईश्वर॥
पर जो निजके लिये कमाता, बिना दिये ही है खाता।
वह अघभोजी निश्चय ही यमदूतोंसे पीड़ा पाता॥

[१०]

(राग विहाग—ताल त्रिताल)

पार्थ! यह काम पापकी खान।
रागात्मक रजसे पैदा हो हर लेता सब ज्ञान॥
यही मूल है सब पापोंका, इसको वैरी जान।
प्रतिहत होकर यही क्रोध बन जाता अति बलवान्॥

कभी न भरता पेट भोगसे, इसकी भूख महान।
आत्मपतनमें प्रबल-हेतु—इन दोनोंको पहचान॥

[११]

(राग केदार—ताल त्रिताल)

जाते कहीं कर्मयोगी हैं, सांख्य प्राप्त करते जो स्थान।
वही देखता, देख रहा जो सांख्य, योगको एक समान॥

(गीता ५। ५)

[१२]

(राग भिन्नषडज—ताल दीपचंदी)

ध्यानमें मन इस भाँति लगावे।
शनैः-शनैः अभ्यास बढ़ाकर चितमें उपरति लावे॥
धृति-गृहीत मतिके द्वारा फिर मन आत्मस्थ बनावे।
करे नहीं किंचित् भी चिन्तन, आत्माको बस ध्यावे॥
निकल-निकल, यह, जहाँ-जहाँ अस्थिर चंचल मन जावे।
वहाँ-वहाँसे लौटा, फिर आत्मामें ही ले आवे॥
निष्कल्मष प्रशान्तचित योगी शान्त-रजस हो जावे।
पारब्रह्म सच्चिदानन्दघनमें सो जाय समावे॥

(गीता ६। २५—२८)

[१३]

(राग खमाज—ताल त्रिताल)

सब भूतोंमें स्थित आत्मा है, आत्मामें है भूत अशेष।
योगयुक्त सबमें समदर्शी योगीकी यह दृष्टि विशेष॥

जो मुझको सर्वत्र देखता, मुझमें देखे सारा दृश्य।
उसके लिये अदृश्य नहीं मैं, वह भी मुझसे नहीं अदृश्य॥
सब भूतोंमें स्थित मुझको जो भजता है रख एकीभाव।
वह योगी रह सब प्रकारसे मेरे हित करता बर्ताव॥
जो अपनी ही भाँति देखता है सबमें सुख-दुःख समान।
अर्जुन! वह माना जाता है योगी सबसे श्रेष्ठ महान॥

(गीता ६। २९—३२)

[१४]

(राग विहागरा—ताल कहरवा)

योगभ्रष्ट पुण्यलोकोंमें जाकर, रह चिर-सुख-सम्पन्न।
शुचि सन्मार्गारूढ़ धनीके घरमें फिर होता उत्पन्न॥
भक्त जनक-जननीकी शैशवसे ही शुभ संगति पाता।
शुद्ध वायुमण्डलमें पलकर साधनमय बनता जाता॥
ईश-कृपा औ साधन-बलसे जाग्रत् होता पूर्वाभ्यास।
ब्रह्मरूप बन जाता, फिर मिट जाता सब मिथ्या अध्यास॥

(गीता ६। ४१-४२)

[१५]

(राग नट—ताल त्रिताल)

जो संलग्न श्रेष्ठ साधनमें छोड़ जगत्के सारे स्वार्थ।
आठो पहर सावधानीसे साध रहा जो शुचि परमार्थ॥
साध्य-तत्त्वतक नहीं पहुँचकर पहले ही यदि मर जाता।
तो धीमान् योगियोंके घर जन्म सुदुर्लभ वह पाता॥

(गीता ६। ४२)

[१६]

(राग हमीर—ताल कहरवा)

मायाने है जिन लोगोंका हरण कर लिया सारा ज्ञान।
आश्रय ले वे आसुर-पनका करते नित दुष्कर्म महान्॥
कुत्सित-विषयभोग-रत रहनेमें ही बड़ी मानते शान।
ऐसे मूढ़ नराधम भजते नहीं कभी भी श्रीभगवान॥

(गीता ७। १५)

[१७]

(राग ईमन—ताल कहरवा)

बहु-जन्मोंके अन्त जन्ममें जो मुझको भजता सज्ञान।
'सब कुछ वासुदेव है'—यों वह महापुरुष दुर्लभ मतिमान॥

(गीता ७। १९)

[१८]

(राग पटदीप—ताल त्रिताल)

करता जो भूतोंकी पूजा वह भूतोंको ही पाता।
पितरोंका पूजक निश्चय ही पितृ-लोकमें है जाता॥
विधिपूर्वक देवोंका पूजक देवलोकको ही पाता।
भगवत्पूजक पुण्यवान भगवच्चरणोंमें ही जाता॥

(गीता ७। २१)

[१९]

(राग मधुवंती—ताल त्रिताल)

मानव जिसका सदा स्मरण करता जीवनमें।
अन्तकालमें वही वस्तु रहती है मनमें॥

वही दीखती ऊपर-नीचे बाहर-भीतर।
उसी वस्तुको पाता निश्चय मानव मरकर॥
भरत अन्तमें दर्शन पाते हैं शिशु-मृगका।
इसीलिये पायेंगे ये शरीर फिर मृगका॥
इससे जो नर सर्वकाल भजता नर-हरिको।
अर्पित कर मन-मति निश्चय वह पाता हरिको॥

(गीता ८। ६-७)

[२०]

(राग खम्भावती—ताल त्रिताल)

जीवनभर जिन भाव-विचारोंमें-कर्मोंमें रहता व्यस्त।
मरण-कालमें वही भाव आते हैं मनमें चिर अभ्यस्त॥
अगला लोक-जन्म मिलता है, अन्तिम भावोंके अनुसार।
अतः करो जीवनभर प्रभुका चिन्तन, सेवन, कर्म, विचार॥

(गीता ८। ६-७)

[२१]

(राग परज—ताल कहरवा)

इससे स्मरण करो तुम मेरा सभी समय, फिर करो, सुयुद्ध।
अर्पित कर मन, बुद्धि, मुझे निश्चय ही पाओगे हो शुद्ध॥

(गीता ८। ७)

[२२]

(राग गौड़सारंग—ताल त्रिताल)

मन निरुद्धकर हृदय-देशमें, रोक सभी इन्द्रियके द्वार।
प्राण मूर्ध्न्यमें स्थापन करके, जोग-धारणको जो धार॥

मम स्मृतियुत एकाक्षर ओऽम् ब्रह्मका जो करता उच्चार।
देह त्याग कर जानेपर वह पाता परमा गती उदार॥

(गीता ८। १२-१३)

[२३]

(राग वसंत—ताल त्रिताल)

नरकोंमें जा पापी सहते नरक-यन्त्रणा आठों याम।
पितृ-याणसे जा पाते जो भोग स्वर्गके दिव्य ललाम॥
करके भोग समाप्त, लौटते, भर मनमें वासना तमाम।
नहीं लौटते, देवयानसे जा पहुँचे जो प्रभुके धाम॥

(गीता ८। १६)

[२४]

(राग सोहनी—ताल रूपक)

शुभ्र ज्योतिर्मय सुपथसे ब्रह्मविद् है जा रहा।
मार्गके सब देवगणसे वह समादर पा रहा॥
अग्नि, दिन, शुभ, पक्ष उज्ज्वल, उत्तरायणके अमर।
साथ ले जाते उसे निज क्षेत्रकी शुचि अवधिपर॥
सौंपकर अगले अमरको वे वहाँ अति मानसे।
लौटते उस क्षेत्रमें रहते जहाँ अभिमानसे॥
इस तरह क्रमसे अतिक्रम कर प्रकृति-विस्तारका।
तोड़कर सम्बन्ध सब मायिक अनित संसारका॥
पहुँच प्रभुके नित्य दिव्य स्वधाममें योगी वही।
प्राप्त करके ब्रह्मको फिर लौटता जगमें नहीं॥

(गीता ८। २४, २६-२७)

[२५]

(राग हिंदोल—ताल रूपक)

पुण्यवान सकाम योगी स्वर्गपथपर जा रहा।
मार्गके सब देवताओंसे समादर पा रहा॥
धूम-रजनी पक्ष श्यामल, अयन दक्षिणके अगर।
क्षेत्र-अभिमानी उसे ले साथ जाते सीमापर॥
सौंप देते अमर अगलेको उसे क्रमसे सही।
चान्द्रमस सुज्योतितक यों पहुँचता योगी वही॥
स्वर्गमें निज शुभ क्रियाओंके फलोंको भोगकर।
लौटता मरलोकमें फिर मर्त्य-जीवन लाभ कर॥

(गीता ८। २५)

[२६]

(राग शिवरंजनी—ताल कहरवा)

मैं ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी शरण, निवास, सुहृद् मैं ही।
मैं उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान नित्य बीज मैं ही॥
मैं ही मेघ रोकता, तपता मैं ही बरसाता हूँ वृष्टि।
मैं ही अमृत, मृत्यु भी मैं ही, सदसत् मैं ही सारी सृष्टि॥

(गीता ९। १८-१९)

[२७]

(राग शंकरा—ताल मूल)

वैदिक यज्ञकर्म करते जो पुण्य-पुरुष मनमें रख काम।
वे उस पुण्य कर्मके फलसे जाते हैं सुरेन्द्रके धाम॥

वहाँ स्वर्गके भोग भोगते जबतक पुण्य न होते शेष।
पुण्य क्षीण होते ही गिरकर आते पुनः मृत्युके देश॥

(गीता ९। २०-२१)

[२८]

(राग आसावरी—ताल त्रिताल)

कुन्तिपुत्र! जो अन्य देवताओंको भजते श्रद्धायुक्त।
वे भी विधिसे विरहित पूजा मेरी ही करते हैं भक्त॥
मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता, मैं ही एकमात्र स्वामी।
मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, होते वही अधोगामी॥

(गीता ९। २३-२४)

[२९]

(राग काफी—ताल त्रिताल)

कर दैवी प्रकृतिका आश्रय जो जन मुझको लेते जान।
सबके आदि सनातन कारण अक्षरको लेते पहचान॥
वे महान् आत्मा मुझको ही नित्य-निरन्तर भजते पार्थ।
अनन्य मनसे शुद्ध सरल शुचि निश्छल, हो करके निःस्वार्थ॥

(गीता १०। ७-८)

[३०]

(राग पीलू—ताल कहरवा)

जिनसे सब प्रकारसे रक्षा-दीक्षा पाते हैं यजमान।
उनमें मुख्य बृहस्पति मैं हूँ सुरगुरु लोकोत्तर विद्वान्॥
जितने सेनापति हैं जगमें, नीति-निपुण, रण-नीति-निधान।
उनमें शंकर-नंदन मैं हूँ, स्कन्द महामति शूर-प्रधान॥

जितने सरस नदी-नद-सर-निर्झर हैं जगमें जलके स्थान।
उनमें मैं जलनिधि गभीर हूँ सागर निरुपम अतुल महान॥

(गीता १०। २४)

[३१]

(राग विलास—ताल त्रिताल)

हूँ महर्षियोंमें भृगु मैं ही, वाणीमें हूँ मैं ओंकार।
यज्ञोंमें जप-यज्ञ, स्थावरोंमें हूँ मैं हिमवान् सुठार॥

(गीता १०। २५)

[३२]

(राग बिलावल—ताल त्रिताल)

हरिकी दिव्य विभूति अमित हैं, है अनन्त उनका विस्तार।
बता रहे हैं उनमेंसे कुछ जो प्रधान हैं सबमें सार॥
हूँ नारद देवर्षिवर्गमें, वृक्षोंमें मैं हूँ पीपल।
हूँ गन्धर्व चित्ररथ मैं ही, सिद्धोंमें मुनि सिद्ध कपिल॥

(गीता १०। २६)

[३३]

(राग भैरव—ताल त्रिताल)

नागोंमें मैं शेषनाग हूँ, जलचरगणमें वरुण महान।
पितरोंमें अर्यमा नियन्ताओंमें मैं हूँ यम बलवान॥
सबका तेज, शक्ति, जीवन मैं, मैं ही हूँ सबका आधार।
सबमें ओतप्रोत सदा मैं, अखिल विश्व मेरा विस्तार॥

(गीता १०। २९, ३९)

[३४]

(राग देशकार—ताल त्रिताल)

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं।
ऐसा कोई भाव नहीं है, जिसमें श्रीभगवान नहीं॥
सबमें सदा पूर्ण रहते वे, उनसे कुछ भी भिन्न नहीं।
जानकार-जन इस रहस्यका कभी न होता खिन्न कहीं॥
जो विशेष श्रीयुत, विभूतियुत, बलयुत होते हैं सद्भाव।
हरिके तेज अंशसे सम्भव उनमें हरिका खास प्रभाव॥
वर्णन कर विभूतियोंका फिर, कहने लगे स्वयं भगवान।
नक्षत्रोंमें शशि मैं ही हूँ, ज्योतिपुंजमें सूर्य महान॥

(गीता १० । ४१, ४२, २१)

[३५]

(राग परजत—ताल कहरवा)

जिससे जीव सकल निकले हैं, जो सबमें रहता है व्याप्त।
मनुज पूज उसको स्वकर्मसे होता परम सिद्धिको प्राप्त॥

(गीता १८ । ४६)

हो मच्चित्त, तार देगी सब दुर्गोंसे मम कृपा अनन्त।
नहीं सुनोगे अहंकारवश, तो होओगे नष्ट तुरंत॥
'नहीं करूँगा युद्ध'—अगर तुम अहंकारवश लोगे मान।
मिथ्या यह मान्यता, तुम्हें रणमें जोड़ेगी प्रकृति महान॥

(गीता १८ । ५८-५९)

जहाँ कृष्ण योगेश्वर प्रभु हों, जहाँ धनुर्धारी हों पार्थ।
मेरे मतसे, वहाँ सदा श्री, विजय, भूति, ध्रुव नीति यथार्थ॥

(गीता १८ । ७८)

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड	पुस्तक
820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)
050	पदरत्नाकर
049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन
058	अमृत-कण
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता
333	सुख-शान्तिका मार्ग
343	मधुर
056	मानव-जीवनका लक्ष्य
331	सुखी बननेके उपाय
334	व्यवहार और परमार्थ
514	दुःखमें भगवत्कृपा
386	सत्संग-सुधा
342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल
347	तुलसीदल
339	सत्संगके बिखरे मोती
349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति
350	साधकोंका सहारा
351	भगवच्चर्चा
352	पूर्ण समर्पण
353	लोक-परलोक-सुधार
354	आनन्दका स्वरूप
355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
356	शान्ति कैसे मिले?
357	दुःख क्यों होते हैं ?
348	नैवेद्य
337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श
336	नारीशिक्षा
340	श्रीरामचिन्तन
338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन
345	भवरोगकी रामबाण दवा
346	सुखी बनो
341	प्रेमदर्शन
358	कल्याण-कुंज
359	भगवान्‌की पूजाके पुष्प
360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं
361	मानव-कल्याणके साधन
362	दिव्य सुखकी सरिता
363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ
364	परमार्थकी मन्दाकिनी
366	मानव-धर्म
526	महाभाव-कल्लोलिनी
367	दैनिक कल्याण-सूत्र
369	गोपीप्रेम

कोड	पुस्तक
368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष
370	श्रीभगवन्नाम
373	कल्याणकारी आचरण
374	साधन-पथ—सचित्र
375	वर्तमान शिक्षा
376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी
377	मनको वश करनेके कुछ उपाय
378	आनन्दकी लहरें
380	ब्रह्मचर्य
381	दीन-दुःखियोंके प्रति कर्तव्य
379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य
382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन
344	उपनिषदोंके चौदह रत्न
371	राधा-माधव-रससुधा-(षोडशगीत) सटीक
384	विवाहमें दहेज—
809	दिव्य संदेश...........

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद
819	श्रीविष्णुसहस्त्रनाम—शांकरभाष्य
207	रामस्तवराज—(सटीक)
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र
231	रामरक्षास्तोत्रम्
1594	सहस्त्रनामस्तोत्रसंग्रह
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्
054	भजन-संग्रह
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
142	चेतावनी-पद-संग्रह
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
1214	मानस-स्तुति-संग्रह
1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
208	सीतारामभजन
221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)
225	गजेन्द्रमोक्ष
1505	भीष्मस्तवराज
699	गंगालहरी
1094	हनुमानचालीसा—भावार्थसहित
228	शिवचालीसा
232	श्रीरामगीता
851	दुर्गाचालीसा
236	साधकदैनन्दिनी